प्रकाशक—

श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृतिरक्षक संघ
सैलाना (म० प्र०)
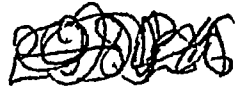
द्रव्य सहायक—

श्रीमान् सिरेमलजी धींगड़मलजी जैन
जोधपुर (मारवाड़)

वीर सम्वत् २४८८
विक्रम सम्वत् २०१८

मूल्य लागत मात्र
पाँच रुपये

प्रथमावृत्ति १०००

मुद्रक—जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (म० प्र०)

नम्र निवेदन

वर्त्तमान युग में जडविज्ञान ने इतना प्रभाव फैलाया कि जिसके दबदबे में आत्मवाद, धर्मवाद और आर्य सस्कृति पर से आर्य प्रजा की श्रद्धा हटने लगी। आर्य परम्परा में उत्पन्न व सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अनुयायी भी जड विज्ञान के प्रभाव में आकर विचलित होने लगे। वास्तव में जड, जड विज्ञान और उससे निष्पन्न साधन सामग्री, आत्मा को अधिकाधिक पराधीनता के बन्धन मे जकडने वाली है। इससे द्रव्य पराश्रय भी बढता है और भाव भी। द्रव्य पराधीनता ने शारीरिक शक्ति का ह्रास किया और भाव पराधीनता ने विषय कषाय बढाकर दुर्गति का मार्ग सरल बना दिया।

जैन तत्वज्ञान के विवेकशील अभ्यासी के लिए, जड विज्ञान का दिखाई देने वाला चमत्कार आश्चर्य जनक नही है। जैन सिद्धात जड में भी अनन्त शक्ति मानता है। जड की गति की तीव्रता, जैन सिद्धात ने, एक सूक्ष्म समय मे असख्य योजन प्रमाण (लोकान्त के एक छोर से दूसरे छोर तक) मानी है। इतनी शक्ति का ज्ञान, वैज्ञानिकों को नही है, न जड के अनन्त पर्याय परिणमन (रूपान्तर) का ज्ञान ही उन्हे है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवन्तो ने जड के अणु मे लगाकर विराट स्वरूप और उसकी जघन्य से लगाकर उत्कृष्ट शक्ति को जाना है—प्ररूपण किया है। साथ ही यह भी बताया है कि जड की इतनी शक्ति का भोक्ता चैतन्य है। प्रयोग परिणत पुद्गल से सारा ससार भरा है। सर्वज्ञो के ज्ञान मे सभी द्रव्य, उनके समस्त गुण और सभी पर्यायें हस्तामलक वत् प्रत्यक्ष है। इस वस्तु को जानने समझने वाले सुज्ञ सम्यग्दृष्टि को, जड आविष्कारो से कोई विशेष आश्चर्य नहीं हो सकता। जड विज्ञानने पुद्गलानन्द को प्रोत्साहन दिया है साथ ही दृष्टि विकार से भवाभिनन्दीपन को भी प्रोत्साहन दिया है। जड विज्ञान ने आत्म विज्ञान को भुला दिया। आत्म शक्ति से अपरिचित कर दिया।

जैनधर्म, अनादिकाल से आत्मवाद का पुरस्कर्त्ता रहा है। यह क्रियावाद के द्वारा कर्म के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर सच्चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का विशुद्ध उपाय बतलाता है। यह उपाय सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप ही है। विचार और आचार रूप यह उपाय, जड के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बनाने वाला है।

जैनधर्म की उत्कृष्टता, तत्त्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन और उच्च आचार के पवित्र नियम स्पष्ट कर रहे है कि इसके प्रवर्त्तक छद्मस्थ नही, किन्तु सर्वज्ञ थे। हम उपासको का कर्त्तव्य है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए यथाशक्ति पालन करे। सर्वज्ञ के सिद्धात, ध्रुव, शाश्वत, अटल,

और अपरिवर्तनीय होते हैं। आश्रव हेय और सवर उपादेय, बन्ध हेय मोक्ष उपादेय,—यह सिद्धांत पहले भी अटल था, आज भी अटल है और भविष्य मे भी अटल रहेगा। इसमें परिवर्त्तन करने की चेष्टा, वालचेष्टा है। वह सुखदायक नही दु ख दायक होगा।

जैन सघ के चार अग है,—१ साधु २ साध्वी ३ श्रावक और ४ श्राविका। इन चारो में विचार साम्यता होती है। श्रद्धा की अपेक्षा चारो अग एक और समान धर्मी है। सभी की श्रद्धा, निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुसार ही होती है। साधु साध्वी और श्रावक श्राविका मे भेद है तो आचार सम्वन्धी। आचार की शुद्धता और उत्तमता के कारण ही साधु साध्वी, श्रावक श्राविकाओं के लिए वन्दनीय होते हैं। यदि उपरोक्त चार अग या इसमें से किसी अग अथवा उपाग में मोक्षमार्ग के प्रथम अग—सम्यक् श्रद्धान की कमी हो, तो वह निर्ग्रन्थ प्रवचन के अन्तर्गत नही रहता। श्रद्धा के अभाव मे वह जैनत्व से गिर जाता है। श्रद्धा वल के ऊपर ही चारित्र रूपी भवन का उठाव होता है। इसके अभाव मे सारा प्रयत्न ही ससार के लिए होता है। इतना होते हुए भी आज के युग में श्रद्धावल की वहुत ही न्यूनता दिखाई दे रही है। अश्रद्धालु लोग, जैन श्रावक या श्रमण कहलाते हुए भी जैनत्व के विरुद्ध प्रचार कर रहे है। जैन धर्म के नाम पर ससारवाद का प्रचार कर रहे है और भोले अनभिज्ञ उपासक उसके प्रभाव मे आकर अपने प्रिय धर्म से दूर होते जा रहे है। यदि हमारे धर्म बन्धु व बहिने अपने धर्म, उसके नियम और विधि निषेध को जाने, समझे, तो वे सत्य का आदर करके असत्य का त्याग कर सकते है। जव तक उनके सामने जिनेश्वर भगवन्त की वाणी और सूत्रो में लिखे हुए विधि विधान नही आवे, तव तक वे वास्तविकता को नही समझ सकते। और श्रद्धाविहीन प्रचार से वे अपने धर्म से दूर होते रहते हैं।

निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् सर्वज्ञ वाणी को सही रूप में समझने के लिए हमारा आगम साहित्य उपस्थित है। किन्तु सभी भाई वहिने, सभी आगमो को पढकर उनके यथार्थ भावों को समझले—ऐसा होना अशक्य है। उनके लिए एक पुस्तक ऐसी होनी चाहिए—जिसमें आत्म विकास के—आचार विचार के सभी विधि विधानो का सग्रह हो। ऐसी सर्वांगीण पुस्तक की चाह एव मांग बहुत समय से हो रही थी। इसकी पूर्ति स्थानकवासी जैन समाज के माने हुए विद्वान, तत्त्वज्ञ, जिनधर्म के रसिक एव मर्मज्ञ श्रीयुत रतनलालजी डोशी ने—वडे परिश्रम के साथ की है। उन्होने "मोक्ष मार्ग" का सम्पादन करके सर्वोपयोगी ग्रथ उपस्थित किया है। इसमें सुदेव, कुदेव, सुसाधु, कुसाधु, असाधु, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप के भेदो का यथार्थ रूप में स्पष्ट रूप से विवेचन करके, जिनधर्म को समझने का एक अच्छा साधन उपस्थित कर दिया है। इसके लिए मै स्वय और अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, आपका हृदय से आभार मानता है। सघ इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर के समाज की सेवा में प्रस्तुत करते हुए गौरव एव कुछ सन्तोष का अनुभव करता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में दानवीर श्रीमान् सेठ दुर्लभजीभाई श्यामजीभाई वीराणी राजकोट निवासी ने दो हजार रुपये प्रदान करके अपने धर्म प्रेम का परिचय दिया है। अतएव संघ आपको अनेकानेक धन्यवाद देता है।

मैं अपने धर्मबन्धुओं और बहिनों से नम्र निवेदन करता हूं कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य पठन और मनन करें। इससे उनके धार्मिक ज्ञान में वृद्धि होगी। वे धर्म और अधर्म तथा सदाचार और दुराचार का भेद समझ सकेंगे और अपने को जिनधर्म तथा जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का आराधक बनाकर स्व-पर कल्याण कर सकेंगे।

इसके बाद संघ धार्मिक साहित्य का प्रकाशन शीघ्रता पूर्वक करता रहेगा। उत्तराध्ययनादि की पुनरावृत्ति, औपपातिक सूत्र और भगवतीसूत्र का प्रकाशन होगा। संघ, समाज में आगम-ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करना चाहता है। यह सब समाज के सहयोग से ही हो सकेगा। समाज से निवेदन है कि अपने इस संघ को उत्साह पूर्वक विशेष सहयोग प्रदान करे।

महाजनवाड़ी
धार [मध्य-प्रदेश]

मानकलाल पोरवाड़
बी एस-सी एल-एल बी
एडवोकेट, धार (म, प्र)
अध्यक्ष—अ भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ,
सैलाना [म. प्र.]

: लेखक के उद्गार :

देवाधिदेव जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररुपित 'मोक्ष मार्ग' को पाठको की सेवामे उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है। भगवान् ने अपने प्रवचन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। उसी मोक्ष मार्ग का–१ दर्शन धर्म २ ज्ञान धर्म, ३ अगार धर्म ४ अनगार धर्म और ५ तप धर्म–इन पाच खण्डो में, इस ग्रंथ में वर्णन किया गया है। चारित्र धर्म के अगारधर्म और अनगारधर्म ऐसे दो खण्ड होने से चार प्रकार के धर्म का आलेखन, पाच खण्डो में हुआ है।

ग्रंथ का उत्थान देव तत्त्व के प्रतिपादन से किया गया, क्योंकि धर्म का आधार ही देव तत्त्व है। जिनेश्वर देव ही धर्म के मूल उत्पादक हैं। उन्हीं के द्वारा धर्म का प्रथम प्रकाश एव प्रचार होता है। गणधर, आचार्य, उपाध्याय, उपदेशक मुनिवर आदि धर्म का प्रचार करते हैं, वह तीर्थंकर भगवान् रूपी कल्पवृक्ष से खिरे हुए मनोहर एव सुगन्धित पुष्पो की सुगन्ध मात्र हैं। जिनेश्वर भगवन्त रूपी अमृत कुण्ड के जल की प्याऊ है। इस प्रकार देव तत्त्व ही धर्मोत्पत्ति का मूल है। गुरु तत्त्व के विवेचन में तो पूरा अनगार धर्म है। जो अनगार भगवन्त इन विधि निषेधो का श्रद्धा पूर्वक पालन करते है, वे परमेष्टी पद अर्थात् गुरु पद में वन्दनीय है। विशेष रूप से गुरु पद का विषय पृ ३७६ में बताये हुए "दीक्षा दाता की योग्यता" प्रकरण में बतलाया है। गुरु पद मे उन्हीं को स्थान देना चाहिए जिनमें दूसरो की अपेक्षा गुणो की अधिकता हो। गुणवान् महात्मा के विद्यमान होते हुए भी गुणहीन एव दोष पात्र को गुरु बनाना, या तो अज्ञान का कारण है, या पक्षपात अथवा स्वार्थ। जिसमे बुद्धि है, जो गुणी, अवगुणी, शुद्धाचारी, शिथिलाचारी और दुराचारी का भेद समझता है, वह तो उत्तम गुणो के धारक महात्मा को ही गुरु पद में स्थान देता है।

हा तो गुरु पद के गुणावगुण बताने वाला 'अनगार धर्म' नामक चौथा खण्ड है। और 'धर्म पद' मे तो सारा ग्रंथ ही सुशोभित है। दर्शन और ज्ञान खण्ड का सम्बन्ध श्रुत धर्म से है और शेष तीनो खण्ड चारित्र धर्म से सबधित है। इस प्रकार देव, गुरु और धर्म तत्त्व की आराधना विषयक सामग्री से ही यह ग्रंथ भरा हुआ है।

इस ग्रंथ की योजना का उद्देश्य यही रहा कि धर्म जिज्ञासु बन्धुओ और बहिनो को एक ही ग्रंथ में 'मोक्ष मार्ग' के सभी प्रकार के विधि निषेध की जानकारी हो सके। सभी आगमो का स्वाध्याय–पठन मनन करने की अनुकूलता सब को नहीं होती। यदि एक ही ग्रन्थ में, सभी आगमो के चरण–करणानुयोग का सार मिल सके, तो उसका उपयोग अधिकता से हो सकता है। उपासक वर्ग अपना

धर्म और कर्त्तव्य को समझकर हेय का त्याग और उपादेय को स्वीकार कर सकता है और गुरु वर्ग के आचार विचार की भी जानकारी हो सकती है। इनमें साधुता असाधुता पहिचानने की विवेक बुद्धि जागृत होती है। इससे वे साधुता का सत्कार करेंगे और शिथिलाचार मिटाने में प्रयत्नशील होंगे। कम से कम वे स्वय शिथिलाचार के पोषक तो नहीं बनेंगे—जिससे धर्म की अवदशा हो।

मोक्ष मार्ग का निर्माण मुख्यत आगमो के आधार पर किया गया है। जहा अन्य ग्रथो का उपयोग किया है, वह भी मूल सूत्रो के लिए बाधक नही, किन्तु साधक समझ कर ही। जहा तक मेरी दृष्टि पहुँची, मैंने श्रुत चारित्र धर्म सम्बन्धी प्राय सभी विषयो का सग्रह इस ग्रथ में किया है। विषय चुनने, उपयोग करने लिखने और प्रूफ सशोधनादि सब काम मुझ अकेले को ही करना पडा। जनवरी ५७ से इसका लेखन कार्य प्रारभ करके जून ५८ में पूरा किया गया। इसमें पृ ३७३ से ३८३ तक का दीक्षा विषयक प्रकरण, प श्री घेवरचन्दजी सा बाँठिया का लिखा हुआ है। इस सारे ग्रथ की पाण्डुलिपि का पडित श्री बाँठयाजी ने सैद्धातिक दृष्टि से सशोधन किया और जहा आवश्यक लगा, बहुश्रुत पडित मुनिराज श्री समर्थमलजी महाराज सा से पूछा और सशोधन किया। इसके लिए मैं पण्डितजी का पूर्ण आभारी हूँ।

इस ग्रथ में वर्णित भाव मेरे नही, किन्तु निर्ग्रंथ प्रवचन के है। मैंने आगमो के पठन मनन और समाज के श्रुतधर महात्माओ से अपने क्षयोपशमानुसार जैसा समझा वैसा कलम के द्वारा कागज पर उतारने का प्रयत्न किया। मै इस ग्रथ का सम्पादक मात्र हू। वस्तु सूत्रो की, और भाषा तथा सजाई मेरी है। विद्वान् लोग मेरी भाषा को पसन्द नही करेगे। क्योकि व्याकरण सम्बन्धी भूले और सामान्य अशुद्धियाँ भी मेरे लिखने में रहती है। विराम, सम्बोधन, आदि चिन्हो का उपयोग भी यथायोग्य वही कर सकता है—जो उसका ज्ञाता हो। अतएव इसमे भी भूले होंगी।

प्रूफ सशोधक का प्रबन्ध नही हो सकने के कारण यह काम भी मुझे ही करना पडा। यह कार्य बहुत बारीक होता है। जिसने इस कार्य की यथायोग्य शिक्षा ली हो, वही इस कार्य को ठीक तरह से कर सकता है। जिसकी आदत पढने की हो, और वस्तु परिचित हो तथा उतावल से काम करता हो, उससे भूले होती ही है। प्रूफ शुद्धि में मुझ से बहुत भूले रह गई। इसका शुद्धि पत्र बनाते समय पडित बाँठियाजी ने बहुतसी भूले बतलाई, किन्तु शुद्धिपत्र में उन्ही भूलों का उल्लेख किया गया, जो आवश्यक समझी गई। शेष को तो सुज्ञ पाठक स्वय समझलेगे और किसी प्रकार का भ्रम नही होगा—ऐसी आशा है। इसमें कही कही पुनरुक्ति भी हुई है। खासकर २२ परीषहो का वर्णन दो बार हो गया है।

विषयो के यथा स्थान जमाने मे उनका क्रम और सम्बन्ध ठीक रहता है। किन्तु इसमे वैसा नही हो सका। कोई आगे तो कोई पीछे।

पुस्तक की छपाई मे जो टाइप हमने काम मे लिया, उसमें दो मात्राएँ, अनुस्वार, ह्रस्व दीर्घ उ कार मात्रा आदि ऐसे है जो स्पष्ट नही आये। यह त्रुटि भी पाठको को खटकेगी अवश्य, किन्तु टाइप पसन्द करते समय यह त्रुटि ध्यान में नही आई थी।

बहुत से ऐसे विषय, और विधि विधान होंगे–जिनका इस ग्रंथ में सग्रहित होना आवश्यक है। किन्तु स्मृति में नही आने से छूट गये। यदि सुज्ञ धर्म बन्धुओ को इस ग्रथ की उपयोगिता लगे और वे इसकी त्रुटियाँ दूर करके, और नये विषय जोडकर, नया सस्करण परिपूर्ण करने का प्रयत्न करेगे, तो बहुत उपयोगी बन जायगा।

परिशिष्ट में दिये गये विषय, मेरे प्रिय मित्र आदर्श श्रमणोपासक श्रीयुत मोतीलालजी सा. मांडोत के सुझाव के अनुसार है।

यह ग्रथ-समस्त श्वेताम्बर जैन समाज के लिए समान रूप से उपयोगी है। स्थनकवासी जैन समाज में तो अपने ढग का एक ही होगा। इसमें आत्म कल्याण के प्राय सभी विषयो का उल्लेख हुआ है और प्रत्येक उल्लेख के साथ सम्बन्धित सूत्र के स्थान का निर्देश भी कर दिया गया है। जिससे जिज्ञासु पाठक चाहे तो उस विषय का मल आधार भी देख सके।

इसके प्रकाशन में विलम्ब भी बहुत हुआ। जून ५८ मे तय्यार हुआ ग्रथ, अब छपकर प्रकाश में आ रहा है। यों तो सघ स्थापना के समय ही इस प्रकार के एक ग्रथ के प्रकाशन की मांग हो रही थी, किन्तु जब से मोक्ष मार्ग के प्रकाशन का ठहराव, सघ की कार्यकारिणी सभा बम्बई में अप्रेल ५८ में हुआ और सम्यग्दर्शन द्वारा जाहिर प्रचार हुआ, तभी से इसकी माग आती ही रही। कई बन्धुओ ने तो विलम्ब के कारण उपालम्भ भी दिये। अब इस चिर प्रतिक्षित ग्रथ को पाठको की सेवा मे उपस्थित करते हुए मुझे हर्ष होता है।

सैलाना [म. प्र.]
माघ पूर्णिमा, सम्वत् २०१८

रतनलाल डोशी

बाल ब्रह्मचारी स्व० श्री विनोद मुनिजी म०

जो भव्यात्माएँ ज्ञान दर्शन और चारित्र में रमण करती हुई मोक्ष मार्ग मे आगे बढती जाती है, उनमें से कुछ तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता पा कर कृतकृत्य हो जाती है, किन्तु कुछ ऐसी भी होती है, कि जिनकी साधना में पूरी अनुकूलता नही होती। इससे वे अपना आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में उत्पन्न होती है। वहा से अपना देव भव पूरा करके मनुष्य भव प्राप्त करती है। अपने शुभ कर्मों के वल से मनुष्य भव में भी वे ऐसे उत्तम स्थान पर जन्म लेती है कि जहां सभी प्रकार की उत्तमता होती है। वहां उनका लालन पालन उत्तम रीति मे होता है। वे माता, पिता आदि सभी के प्रेम पात्र होते है। उनके लिए सभी प्रकार की सुख सुविधाएँ होती है। वैभव की प्रचूरता और भोग साधनो की अनुकूलता में मोहित होकर जो उसी में रम जाते है, उनके लिए तो वह अनुकूलता पतनकारी बन जाती है। वे प्राप्त सुयोग का दुरुपयोग करके पाप कर्मों का सचय कर लेते है और फिर नरक तिर्यंच में जाकर दुखी होते है। ऐसे जीव बहुत होते है। किन्तु प्राप्त काम भोगों के प्रति उदासीन रहकर आत्मभान को जागृत रखने वाला तो कोई विरला ही होता है। वह विरल भव्यात्मा दुनिया की चकाचौंध में नही उलझती। ससार के लुभावने दृश्य और भोगोपभोग की सामग्रिया उन्हे नही लुभा सकती। वे उस पौद्गलिक आकर्षण से उदासीन रहते है और त्याग कर आत्मोत्थान में लग जाते है।

पोलासपुर नगर के युवराज, गजऋद्धि के भावी अधिकारी को, दिन रात सतत सम्पर्क रखने वाली राजलक्ष्मी भी नही लुभा सकी, किन्तु एक निर्ग्रंथ के एक वार के साक्षात्का रहो ने उस वच्चे के सुप्त सस्कारो को जगा दिया। फिर तो वह अतिमुक्त कुमार निर्ग्रंथ बनकर उसी भव में मुक्ति पा गया।

ऐसी ही भव्यात्माओं में श्री विनोदकुमारजी वीराणी भी एक थे। वे भी पूर्व भव से कोई सयमी तपस्वी या उच्चकोटि के श्रावक होंगे, और अपना आयु पूर्ण कर देवलोक मे गये होंगे। वहा से वे ऐसे ही स्थान पर जन्मे-जहा सभी प्रकार की अनुकूलताएँ थी। यद्यपि उनका जन्म विक्रम सवत् १९९२ में 'पोर्टसुदान' (अफ्रिका) में हुआ था-जिसे हम 'अनार्यभूमि' कहते है, किन्तु यह तो उप-निवास मात्र था। वे तो आर्य घर में ही जन्मे थे। घर आर्य, माता पिता आर्य, घर का सारा वातावरण आर्य। यो तो श्री समुद्रपालजी का जन्म भी समुद्र में हुआ था, किन्तु वे आर्य ही थे। आर्य माता की कुक्षि में अवतरित होकर आपका जन्म हुआ था। माता की धार्मिकता श्री विनोदकुमार के पूर्व संस्कारो को जागृत कर रही थी।

राजकोट के वीराणी खानदान में धर्म रसिकता, परोपकार परायणता और आर्य संस्कारों का प्रभाव बढता जा रहा था। श्रीमान् शामजीभाई वीराणी और श्रीमती कडवीबाई की उदार एवं धार्मिक वृत्ति से पुण्य प्रताप बढता गया। लक्ष्मी की वृद्धि के साथ शुभ प्रवृत्तियें भी वृद्धिगत हुई। ये संस्कार हमारे चरित्रनायक के पूज्य पिता श्री दुर्लभजी भाई मे भी पनपे। सद्भाग्य से श्रीमती मणीबेन का सम्बन्ध श्रीमान् दुर्लभजी भाई से हुआ। श्रीमती मणीबेन धर्मप्रिय सुश्राविका रही। नित्य सामायिक प्रतिक्रमण और पर्वादि पर यथाशक्ति उपवासादि तप करने वाली तथा वार्षिक एकान्तर तप करने वाली उदार महिलारत्न। स्वर्ग च्युत देव के उत्पन्न होने का योग्य स्थान।

श्री विनोदकुमारजी अपने पुण्य के उदय से ऋद्धि सम्पन्न घर में जन्मे। उनके जन्म के बाद भी सम्पत्ति की अभिवृद्धि होने लगी। इनका लालन पालन तो उच्च प्रकार मे हो ही रहा था। माता की धर्म प्रियता, सामायिकादि से धर्म की आराधना ने श्री विनोदकुमार के पूर्व भव के धर्म संस्कारो को जगाया, प्रेरित एव प्रोत्साहित किया। वे स्वय रुचि रखने लगे। यदि कभी आवश्यक कार्य में लगने के कारण श्रीमती मणीबेन के सामायिक या प्रतिक्रमण का समय हो जाता, तो विनोदकुमार उन्हे याद दिला कर सामायिकादि करने की प्रेरणा करते और खुद भी पास बैठकर सुनते।

उनकी पढाई धार्मिक और व्यावहारिक साथ साथ चली। जैनपाठशाला में धार्मिक अभ्यास करते और लौकिक शिक्षाशाला में सासारिक शिक्षा प्राप्त करते। लौकिक शिक्षा प्राप्त करते हुए और उसमें उत्तरोत्तर सफल होते हुए भी बाद में उनकी रुचि लौकिक शिक्षा में उतनी नहीं रही जितनी धार्मिक शिक्षा में रही। फलत वे नान मेट्रिक तक ही पढ सके, किन्तु उनका धार्मिक अध्ययन बढने लगा।

श्री वीराणी कुटुम्ब का व्यापार विदेश में चल रहा था। श्री दुर्लभजी भाई ने श्री विनोदकुमारजी को व्यापार कुशल बनाने के लिए 'पोर्ट सुदान' भेज दिया। विदेश जाने पर भी श्री विनोदकुमारजी के धार्मिक नियम चालू रहे। उन्होंने वहा शहद, मक्खन और कन्दमूल का भी सेवन नहीं किया। पेढी का काम काज करते हुए उनकी इच्छा मेट्रिक पास कर लेने की हुई। वे 'पोर्ट सुदान' के 'कम्बोनी हाई-स्कूल, में भर्ती हो गये और सफल भी हो गये। उसके बाद भारत आकर उन्होने पजाबयुनिवर्सिटी में प्रवेश पाकर परीक्षा देने पटियाला गये।

परीक्षा दे चुकने के बाद आप कश्मीर पर्यटन को चले गये। आपके पास 'कश्मीर प्रवेश पत्र' तो था ही नही, अतएव सीमा में प्रवेश होते ही गिरफ्तार कर लिए गये। आपको गिरफ्तार करके जिस बस में ले जाया जा रहा था, उस बस में एक उच्च अधिकारी भी सफर कर रहे थे। श्री विनोदकुमार ने अपनी हकीकत बयान की। अधिकारी सहृदयी था। उसे विश्वास हो गया। उसने कहा-'चिन्ता मत

श्री विनोदकुमारजी वीराणी

दीक्षा लेने के पूर्व शास्त्राभ्यास करते हुए

जन्म-पोर्ट सुदान (अफ्रिका) विक्रम सम्वत् १९९२

दीक्षा-खीचन (मारवाड) वि स २०१३ जेठ कृ १२

स्वर्गवास-फलोदी (मारवाड) वि स २०१३ श्रावण शु १२

करो, मैं तुम्हारे लिए सब व्यवस्था कर दूंगा।' उसने खुद ने साथ रहकर प्रयत्न किया और अनुमति-पत्र दिलवा दिया। वे कश्मीर देखकर लौटे और लुधियाना पहुँचकर आचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी म० श्री के दर्शन किये।

सन् १९५३ में ब्रिटिश साम्राज्य की महारानी एलिजाबेथ के राज्याभिषेक के जलसे के अवसर पर आप वायुयान द्वारा 'लण्डन' पहुँचे। वहां आपके बड़े भाई श्री शान्तिलालजी 'बार-एट-लॉ' का अभ्यास करते थे। इंग्लेण्ड भ्रमण के बाद आपने फ्रांस, बेल्जियम, हॉलेण्ड, जर्मनी, स्विट्जरलैंड और इटली आदि का परिभ्रमण किया।

श्रीमान् दुर्लभजीभाई की इच्छा थी कि विनोदकुमार एक प्रवीण व्यापारी बने, किन्तु श्रीविनोद-कुमारजी की रुचि दूसरी ही थी। वे धर्म भावना में रंगे हुए थे। उनकी रुचि ज्ञानाभ्यास में थी। वे निवृत्तिमय जीवन पसन्द करते थे।

राजकोट में वे श्रीयुत डॉ एन. के. गांधीजी के सम्पर्क में आये। डॉक्टर साहब सर्विस से निवृत्त हो जाने से, धार्मिक वाचन आदि में समय बिताते हैं। उनसे मिलकर आप भी ज्ञानचर्चा करके अपने अनुभव बढाने लगे।

श्री विनोदकुमारजी की संसार त्याग की भावना जोर करने लगी। विरक्ति बढने लगी। विदेश सफर—जलयान के द्वारा समुद्र की यात्रा में भी उन्होंने अपने नियम निभाये। कन्दमूल का भक्षण अथवा रात्रि भोजन आदि कुछ भी नहीं किया। विदेश में रहते हुए भी सामायिक प्रतिक्रमण का नियम चालू रहा। प्रव्रज्या ग्रहण करने की आपकी इच्छा प्रबल होने लगी। इसके लिए आपने विवाह के प्रस्ताव को तो ठुकराया ही परन्तु दीक्षा की आज्ञा प्रदान करने के लिए माता पिता से निवेदन करना प्रारम्भ कर दिया। पिता श्री टालते ही रहे। श्री दुर्लभजीभाई को यह तो विश्वास हो गया था कि विनोद संसार में नहीं रहेगा, किन्तु मोहवश वे रुकाते रहे।

जब वे डॉक्टर साहब के निर्देश से और सम्यग्दर्शन द्वारा परोक्ष परिचय की प्रेरणावश मुझसे मिलने के लिए सैलाना आये, तब प्रथम बार ही मेरा उनसे साक्षात्कार हुआ था। उनकी रुचि का पता उनकी ज्ञान चर्चा से लग रहा था। मैं उस समय रोगग्रस्त था। उनके साथ रतलाम से दो बन्धु भी आये थे। चर्चा में इतने मशगूल कि दोनों साथी तो सो गये, परन्तु रात के २ बजे तक भी सोने का नाम नहीं। मैं समझ गया कि यह भव्यात्मा संसार साधना के लिए नहीं है। मैंने पूछा, उन्होंने कहा—'हां, मेरी भावना दीक्षा लेने की है। लेकिन आज्ञा प्राप्त होने में कठिनाई आ रही है।

आज्ञा प्राप्त करने के लिए श्री विनोदकुमारजी ने बहुत प्रयत्न किया। एक बार तो अन्नजल का त्याग तक कर दिया था। किन्तु माता की सिफारिश से पिताजी ने आज्ञा देने का विश्वास ।८७

कर भोजन कराया, फिर भी आज्ञा नही मिली। श्री विनोदकुमारजी को विश्वास हो गया कि अब आज्ञा प्राप्त होना कठिन है। मुझे अपना मार्ग स्वय ही प्रशस्त करना होगा। आज्ञा के भरोसे बैठे रहने से मनोरथ पूरा नही होगा। वे २४-५-५७ की शाम को, अतिमबार माता के साथ भोजन करके चुपचाप चल दिये, बिना किसी को कुछ कहे सुने ही।

राजकोट से रवाना होकर आप महेसाणा पहुँचे। वहा अपने बालो का मुण्डन करवाया। पात्र रजोहरण की तलाश करते हुए शका हुई कि कही पूछताछ हो और बाधा खडी हो जाय। अतएव आप चलदिये और सीधे मारवाड जक्शन होते हुए पिछली रात को फलोदी स्टेशन पर उतर गये।

उस समय खीचन में तप सयम के आदर्श स्वरूप स्व तपस्वीराज श्री सिरेमलजी म. सा. तथा बहुश्रुत-ज्ञान दर्शन और चारित्र के अजोड धारक प० मुनिराज श्री समर्थमलजी महाराज साहब आदि विराजमान थे। इनकी ख्याति भारत में फैल रही थी।

सादडी सम्मेलन के बाद सोजत मे श्रमणसघ के मुख्य पदाधिकारी मुनिवरो का सम्मेलन हो रहा था। उस सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए, बहुश्रुत मुनिराज श्री को भी आग्रह पूर्वक आमन्त्रण मिला था। उपाचार्य पूज्यश्री गणेशलालजी महाराज सा की अध्यक्षता मे हुए उस सम्मेलन मे बहुश्रुत मुनिराज, सैद्धातिक पक्ष की स्थापना और रक्षण में प्रयत्नशील थे। आपके विपक्ष मे उपाध्याय कविवर अमरचन्दजी महाराज थे। उन्हे प० श्री श्रीमलजी आदि का सहयोग मिल रहा था। इस सम्मेलन मे तपस्वी श्री लालचन्द्रजी म सा भी मालवे से पधारे थे। आपने वहा बहुश्रुत मुनिराज श्री की ज्ञान गरिमा के दर्शन किये। तभी से आपके मनमे यह विचार उत्पन्न हुआ कि विद्यार्थी मुनियो को बहुश्रुत मुनिराजश्री की सेवामें रखकर सम्यग्ज्ञान का विशेष अभ्यास करवाना चाहिए। सोजत सम्मेलन के बाद तपस्वी श्री लालचन्द्रजी महाराज साहब का चातुर्मास बम्बई हुआ। चिचपोकली मे श्रीविनोदकुमारजी ने आपके दर्शन किये। सेवा का लाभ लिया। इस परिचय ने एक आकर्षण पैदा कर दिया। तपस्वीराज अपने सतो के साथ बम्बई से मालवा मेवाड होते हुए खीचन पधार गये थे। यह बात श्री विनोदकुमारजी को ज्ञात हो गई। श्री विनोदकुमारजी फलोदी से पैदल ही खीचन गये। आपने मुनिराजो के दर्शन किये। कपडे उतार कर सामायिक करने लगे। वन्दना नमस्कार करके उच्चारण किया--

"करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि"।

सभी सन्त अवाक्। उन्हे समझाया-"भाई! इस प्रकार बिना आज्ञा के, सर्व त्यागी बनने की

रीति नहीं है। तुम्हे सोच समझ कर कार्य करना चाहिए।" श्री विनोदमुनिजी का एक ही उत्तर था–' मैंने यह काम बहुत सोच समझकर किया है। अब इसमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता।" वे अडिग रहे। राजकोट से श्रीमान् रावबहादुर एम. पी. शाह, श्री केशवलाल भाई पारेख और पंडित पूर्णचन्द्रजी दक खीचन पहुँचे। उन्होंने श्री विनोदमुनिजी को डिगाने की चेष्टा की, किन्तु वे तो अपने आप दृढ निश्चयी थे। वे क्या डिगते। उन्होंने शिष्ट मण्डल से कहा कि–' आप भी अब संसार की मोहमाया को छोड़कर इस मार्ग पर आ जाइए और मेरे माता पिता को भी ले आइए।" शिष्टमण्डल, उस द्रव्य भाव संयमी लघुमुनि के चरणों में अपनी भक्ति अर्पित कर वापिस लौट आया। उसने सारा हाल माता पिता को सुनाया। माता, दर्शन करने को बेचैन। वह तो पहले से ही अपने लाडले को देखने के लिए छटपटा रही थी, किन्तु पिता के मोह ने फिर भी धोखा दिया। पिता कहते थे–"थोडे दिन विनोद को मारवाड की हवा खा लेने दो और संयम के परीषह सह लेने दो। उसका सावावेश उतर जायगा। फिर हम चलेंगे, तब उसका समझना सरल हो जायगा'। उनकी धारणा गलत निकली।

श्री विनोदमुनिजी की दीक्षा के कुछ दिन बाद श्री फूलालालजी की दीक्षा के प्रसंग पर मैं खीचन गया था, तब श्री विनोदमुनिजी के दर्शन किये थे। उनसे मेरी बातचीत हुई थी। उन्होंने अपने प्रस्थान और दीक्षा आदि की सारी हकीकत मुझे सुनाई थी। वे प्रसन्न थे और दशवैकालिक का आगे अभ्यास बढा रहे थे।

तपस्वी श्री लालचन्दजी म. ने चातुर्मास फलोदी में किया था। वे अपने संतों के साथ खीचन से फलोदी पधार गये थे। श्री विनोदमुनि का ज्ञानाभ्यास फलोदी में चल ही रहा था कि आयुष्य पूर्ण होने का समय उपस्थित हो गया। दिनांक ७ अगस्त ५७ की शाम को एकाकी स्थण्डिल भूमि से लौटते हुए उन्होंने देखा कि रेलगाडी आ रही है और लाइन पर गायें खडी हैं। गायें दिग्मूढ बन गईं या क्या, जो हटती ही नहीं हैं। यदि वे नहीं हटी, तो कुचल कर मर जायगी। मुनिजी उन्हें बचाने के लिए आगे बढ़े। गायों को हटाकर बचा लिया, किन्तु खुद नहीं बच सके। उन्हें अपना तो ध्यान ही नहीं था। इंजिन की टक्कर लगी और गिर गये। प्राणहारक आघात लगा। शरीर से रक्त का प्रवाह बह चला और कुछ देर में ही प्राणान्त हो गया। फलोदी और खीचन में (जो फलोदी से तीन माइल दूर है) हाहाकार मच गया। इस प्रकार इस पवित्र आत्मा का, दो सवा दो महीने की चारित्र पर्याय के बाद ही आयुष्य पूर्ण हो गया।

"असंखयं जीविय मा पमायए" वाक्य–जो सदैव उनका लक्ष्य बना हुआ था, यही बताता है कि वे शीघ्र ही सर्वत्यागी बनना चाहते थे। संभव है अदृष्ट की प्रेरणा उन्हें हो गई हो और इसलिए उन्होंने विलम्ब करना उचित नहीं समझकर तत्काल दीक्षित होने का निश्चय कर लिया हो।

और उन्हे दो सवादो महीने की चारित्र पर्याय भी प्राप्त होना हो। हम छद्मस्थ, भवितव्यता को क्या समझे ? अस्तु,

श्री विनोदकुमारजी की आत्मा भव्य थी। वह स्वर्ग मे ही आई होगी और मनुष्यभव तथा चारित्र पर्याय पूर्ण करके पुन स्वर्ग मे ही चली गई होगी। संसार से उदासीन, मोहमाया और विषय-वासना से पराङमुख एव पतली कषाय वाले तथा ज्ञान ध्यान मे रत आत्मा की देवगति के सिवाय और कौनसी गति हो सकती है ? सुनक्षत्र मुनि और सर्वानुभूति अनगार, अर्हद् भक्ति से प्रेरित होकर गोशाला की पैशाचिक शक्ति के आघात से स्वर्गगामी हुए, (भगवती श १५) तब श्री विनोदमुनिजी, दया धर्म से प्रेरित होकर पिशाच के समान जड इजिन के आघात से स्वर्गवासी हुए।

श्री विनोदमुनिजी की सिद्धात प्रियता प्रमोद जन्य थी। वे आर्हत् सिद्धातो और जिनागमो के दृढ श्रद्धालु थे। **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"** और **"असंखयं जीविय मा पमायए"** तो उनके सदा स्मरणीय सिद्धात वाक्य थे। वे मोक्षमार्ग के पथिक और भव्य-मोक्षगमन के योग्य थे। ससार के प्रति निर्वेद और मोक्ष के प्रति सवेग उनकी रगरग मे भरा था। वे मोहममता के वन्धन तोड कर मोक्ष प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे। ऐसी मोक्षाभिलाषी पवित्र आत्मा को यह 'मोक्ष मार्ग' ग्रथ समर्पित करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	तीर्थंकर	तीर्थंकर
४	२५	वाराह	वराह
४	२८	आश्चय	आश्चर्य
५	१४	चिए	लिए
७	२०	उत्तरासन	उत्तरासग
८	२२	१६	१०
१८	४	होग	होंगे
१८	२४	तीथकर	तीर्थंकर
२२	२	संसर	संसार
२५	१५	टीका नार्गत	टीकान्तर्गत
३२	६	नहो देना	नहीं होने देना
४५	१६	छटता	छूटता
४५	२१	छटता	छूटता
५३	१४	दर्शनचार	दर्शनाचार
६१	२६	विजायादि	विजयादि
६४	२३	भावान्तर	भवान्तर
६५	३	हाकर	होकर
६८	२५	प्रशय	प्रशम
७०	१	कथानुसार	कथनानुसार
७२	१४	मुहुत्तपि	मुहुत्तमित्तपि
७६	१०	जिममें	जिसमें
७८	२० से २३	जम्भृक	जृम्भक
७९	१२	लोकान्ति	लोकान्तिक
८६	६	स्त्रि	स्त्री
८७	१६	अन्राय	अन्तराय
९०	१	करणो	कारणो
,,	६	दवने	दवानें

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९०	१२	पदर्थो	पदार्थों
९३	१७	अप्रत्याख्यानावरण	प्रत्याख्यानावरण
९८	१६	औदरिक	औदारिक
,,	२२	ईप्ट	इष्ट
१००	२१	परमात्मा	परमात्म
१०१	२२	नामेराजर्षि	नमिराजर्षि
१०५	५	हाने	होने
१०८	१३	जमका	जिसका
,,	२३	सम्यगश्रन	सम्यग् श्रुत
१०९	४	कालम	काल में
,,	२५	व्यक्तिरिक्त	व्यतिरिक्त
११०	३	द्रेवे–	देवे–
१११	२१	निर्ग्रथ	निर्ग्रन्थ
११४	४	प्रवजित	प्रव्रजित
,,	२०	अन्तरिक	अन्तरिक्ष
,,	२२	वनाने	वताने
११७	१८	हायमान	हीयमान
१२४	२७	हाने	होने
१३८	३	जोदार	जोरदार
१३८	२०	व्यवस्त्रथा	व्यवस्था
१४०	११	दग	देश
१४१	८	महानपात की	महान्पातकी
१४२	६	तरमता	तरतमता
,,	२८	श्रमण	भ्रमण
१४४	२०	वे अल्प कर्म	वे अल्पक्रिया अल्प कर्म
१४६	८	वँ	पूर्व
१४७	१०	अणव्रत	अणुव्रत

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	१२	छटा	छुटा
,,	१५	शास्त्र	शस्त्र
१५०	१८	भठा	झूठा
१५२	१६	स्तेनाहृना	स्तेनाहृत
१६२	३	उत्तदायित्व	उत्तरदायित्व
,,	४	अश्रित	आश्रित
१६४	१४	समायिक	सामायिक
१६५	१	विपयक	विपय
,,	२६	जघन्योऽपि	जघन्यतोऽपि
१६६	३	कम	कम
,	१५	दुर्श्चितन	दुष्चितन
१६८	२७	की	को
१६९	२३	स्वादारा	स्वदारा
१७०	१८	प्रम	०
१७६	१६	अगार	आगार
१८२	१७	एकान्व	एकाग्र
१८४	१३	मुझ	मुझे
१९३	५	उतरना	उतारना
१९६	३	विगपा	विगेपा
२००	१३	गुणनूरागी	गुणानुरागी
२०८	२३	निर्गय	निर्ग्रन्थ
२०९	१	,,	,,
२१६	१	पापत्याग	पाप
,,	३	की	को
२२०	४	भावन्तर	भवान्तर
२२३	१४	समृद्रपार का	समुद्र का पार
२२८	१६	अें	में

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३०	२	प्रस्रवण	प्रस्रवण खेल
,,	१२	उद्देग	उद्देश्य
२३३	,,	सयय	सयम
२३४	१३	की	को
२३६	५	दर्वकालिक	दशवैकालिक
२३७	३	भर	भार
२३९	२२	अजीव	आजीव
२४०	१४	(अन्तर्गापक) एपणा	ग्रहणैपणा
२४१	१६	,,	,,
२४६	१	शय्यान्तर	शय्यातर
,,	२०	भाव	भार
२४७	२७	यूवन	योग्य
२४८	१५	पडे	पडे
२४९	२४	हथली	हथेली
२५०	२२	नयपुत्तेए	नायपुत्तेण
२५२	,,	अगुलियो के-छिद्रो मे	०
२५५		अचागग	आचागग
२५६	१६	लगार	लगाकर
२६३	२८	व्रतो से	स्यानो में
२६४	११	व्यर्थता	अयथार्थता
२६४	२६	ह	है
२६६	९	समविभाग	सविभाग
२७१	१६	माय	जाय
,,	२३	तिमात्रा	अतिमात्रा
२७५	१३	मिट्टा	मिट्टी
२७६	१५	निर्भत्सना	निर्भर्त्सना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८०	१४	पणिाम	परिणाम
२८७	२१	गभ	शुभ
२९०	२८	अरावक	आराधक
२९४	५	नालिक	नालिका
२९५	१०	गात्राभ्यग्	गात्राभ्यग
„	२२	कटुम्व	कुटुम्व
३०६	१४	अनुलकू	अनुकूल
३०८	५	अयविल	आयविल
३१२	१२	में	ने
३१४	१३	अदि	आदि
„	२२	अरावक	आराधक
३१७	२९	ह	है
३१८	२५	ठहने	ठहरने
३२५	९	स्मगणादि	स्मरणादि
३२९	२१	प्रोप्ति	प्राप्ति
३३३	„	मरता	मारता
३४१	„	आयोग्य	अयोग्य
३४६	१६	स्याव्यायादि	स्वाध्यायादि
३६७	५	निक्षेपण समिति	निक्षेपण समिति उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल सघाण परिस्था-पनिका समिति
३४७	८	सामाधि	समाधि
३४९	४	कही	नही
३५०	९	क्चित्	किंचित्
३५१	९	निश्चिय	निश्चय
३५४	२८	समह	समूह
३५५	११	आनागातना	अनागातना
३७५	१९	लाहिए	चाहिए
३७७	२४	वतालाया	वतलाया
३८२	१०	जगिन	जुगित
३८६	„	अदि	आदि
३८७	५	कर्ज	फर्ज
३९५	१२	अदिभाग	आदि भाग
४००	८	ध्यैर्य	धैर्य
„	१४	०१	१०
„	२४	वार	वाहर
४०१	९	प्रतिमा	प्रतिमा का
४०२	९	सकता	सकती
४०५	१६	श्राताओ	श्रोताओ
४०६	२८	आयजोड	आयजोगीण
„	„	आग्रपरकक्कमाण	आयपरक्कमाण
४१२	१९	में एक	में गाव में एक
४१६	१५	निवर्देनी	निर्वेदनी
४१८	१	श्रोतादि	श्रोत्रादि
४१९	७	क्लेवर	कलेवर
४२२	७	उपाएँ	उपमाएँ
४२४	१८	वनता	वनाता
४२५	१७	कारना	कराना
„	„	मरणान्तिक	मारणान्तिक
४२८	२५	अन्तरपुर	अन्तपुर
४२९	९	एग्गो	एगो
४३१	२३	जीवों के	जीव
४३२	१४	लगस्मेमर्ण	लोगस्सेसण
४३३	९	आव्वी	साध्वी
४३५	११	पूव्व	पुव्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३५	२१	तू	तु
४३६	१७	आचराग	आचाराग
४४०	३	नणदसण	नाणदसण
४४८	३।४	तेले	बेले
४५०	१७	अतगड	अतगड
४५७	७	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
४५८	२३	आहर	आहार
४६५	१८	प्रणियो	प्राणियो
,,	२४	मणो	मण
४७२	९	जाती	जाता
४७६	१७	ह	है
४७९	१६	गुण	गण
४८१	३।२३	सहसात्कार	सहसाकार
४८४	६	परिस्टापनिकाकार	परिष्ठापनिकाकार
४८८	१९	ईमानदारी	ईमानदार
४९५	२७	पास	पाग
,,	२८	सामान	समान
५००	३	गहृण	ग्रहण

पृ. २४४ प २९ अशुद्ध– सवल (बडाभारी) दोष वताया है कि जिससे चारित्र का नाश हो जाता है।
,, ,, शुद्ध– शवल–चारित्र को चितकवरा अर्थात् दूषित करने वाला।

विषयानुक्रमाणिका

प्रथम खण्ड

दर्शन धर्म—

१६

द्वितीय खण्ड

पृष्ठ	पंक्ति
४३५	२१
४३६	१७
४४०	३
४४८	३।४
४५०	१७
४५७	७
४५८	२३
४६५	१८
"	२४
पृ. २४४	
"	

ज्ञान धर्म-- १०५

तृतीय खण्ड

अगार धर्म-- १३७

बाल ब्रह्मचारी स्व० श्री विनोद मुनिजी म०

जो भव्यात्माएँ ज्ञान दर्शन और चारित्र में रमण करती हुई मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ती जाती है, उनमें से कुछ तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता पा कर कृतकृत्य हो जाती है, किन्तु कुछ ऐसी भी होती है, कि जिनकी साधना में पूरी अनुकूलता नहीं होती। इससे वे अपना आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में उत्पन्न होती है। वहां से अपना देव भव पूरा करके मनुष्य भव प्राप्त करती है। अपने शुभ कर्मों के बल से मनुष्य भव में भी वे ऐसे उत्तम स्थान पर जन्म लेती है कि जहां सभी प्रकार की उत्तमता होती है। वहां उनका लालन पालन उत्तम रीति से होता है। वे माता, पिता आदि सभी के प्रेम पात्र होते है। उनके लिए सभी प्रकार की सुख सुविधाएँ होती है। वैभव की प्रचूरता और भोग साधनों की अनुकूलता में मोहित होकर जो उसी में रम जाते हैं, उनके लिए तो वह अनुकूलता पतनकारी बन जाती है। वे प्राप्त सुयोग का दुरुपयोग करके पाप कर्मों का संचय कर लेते हैं और फिर नरक तिर्यंच में जाकर दुःखी होते है। ऐसे जीव बहुत होते हैं। किन्तु प्राप्त काम भोगों के प्रति उदासीन रहकर आत्मभान को जागृत रखने वाला तो कोई विरला ही होता है। वह विरल भव्यात्मा दुनिया की चकाचौंध में नहीं उलझती। संसार के लुभावने दृश्य और भोगोपभोग की सामग्रियां उन्हें नहीं लुभा सकती। वे उस पौद्गलिक आकर्षण से उदासीन रहते है और त्याग कर आत्मोत्थान में लग जाते हैं।

पोलासपुर नगर के युवराज, राजऋद्धि के भावी अधिकारी को, दिन रात सतत सम्पर्क रखने वाली राजलक्ष्मी भी नहीं लुभा सकी, किन्तु एक निर्ग्रंथ के एक बार के साक्षात्कारों ने उस बच्चे के सुप्त संस्कारों को जगा दिया। फिर तो वह अतिमुक्त कुमार निर्ग्रंथ बनकर उसी भव में मुक्ति पा गया।

ऐसी ही भव्यात्माओं में श्री विनोदकुमारजी वीराणी भी एक थे। वे भी पूर्व भव से कोई संयमी तपस्वी या उच्चकोटि के श्रावक होंगे, और अपना आयु पूर्ण कर देवलोक में गये होंगे। वहां से वे ऐसे ही स्थान पर जन्मे-जहां सभी प्रकार की अनुकूलताएँ थीं। यद्यपि उनका जन्म विक्रम संवत् १९९२ में 'पोर्टसुदान' (अफ्रिका) में हुआ था-जिसे हम 'अनार्यभूमि' कहते हैं, किन्तु यह तो उप-निवास मात्र था। वे तो आर्य घर में ही जन्मे थे। घर आर्य, माता पिता आर्य, घर का सारा वातावरण आर्य। यों तो श्री समुद्रपालजी का जन्म भी समुद्र में हुआ था, किन्तु वे आर्य ही थे। आर्य माता की कुक्षि में अवतरित होकर आपका जन्म हुआ था। माता की धार्मिकता श्री विनोदकुमार के पूर्व संस्कारों को जागृत कर रही थी।

पंचम खण्ड

तप धर्म--

परिशिष्ट— ४८७

भगवान् जिनेश्वर प्रणीत—

मोक्ष मार्ग

दर्शन धर्म

धर्म का उद्गम (देव तत्त्व)

मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, णाणदंसण लक्खणं ॥

धर्म आत्मा का निजस्वभाव है। फिर भी वह पृथ्वी में दबे हुए रत्न के समान है। जिस प्रकार रत्न को भूगर्भ से निकालकर बाहर लाने वाला और उसे रत्न के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाला कोई उस विषय का निष्णात व्यक्ति ही होता है, उसी प्रकार विषय कषाय एवं अज्ञान के अनन्त आवरण में दबे हुए धर्म-रत्न को प्रकाश में लाने वाली कोई महाशक्ति ही होती है। उस लोकोत्तर महाशक्ति को ही अरिहंत, जिनेश्वर तथा तीर्थंकर आदि गुणनिष्पन्न विशेषणों से विशेषित किया गया है। और यही विश्व विभूति परमआराध्य 'देव' तत्त्व के रूप में अभिवंदित हुई है।

जिस महान् आत्मा ने अपनी उत्तम साधना से अपने आत्मशत्रु—घातिकर्मों को नष्ट कर दिया, जिसने राग द्वेष का अंत करके वीतराग दशा प्राप्त करली और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगए, वे ही धर्म के उद्गम स्थान हैं। उन्हीं परमवीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के द्वारा धर्म का प्रकाश हुआ है। धर्म के मूल

प्रवर्त्तक, वे जिनेश्वर भगवत ही है। अतएव यहा उन परम आराध्य—देवाधिदेव की विशिष्टता का कुछ परिचय दिया जाता है।

जैन धर्म की यह मान्यता है कि 'ईश्वर' नाम की कोई एक महाशक्ति इस विश्व का आधिपत्य नही कर रही है और न इस प्रकार की सर्व सत्ता का कोई एक केन्द्र स्थान ही है। जैन दर्शन के अनुसार यह एक सर्वोच्च पद है, जिसे आत्मविकास के द्वारा कोई भी भव्यात्मा प्राप्त कर सकती है। जिनेश्वर पद प्राप्त करने वाली अनन्त आत्माएँ भूतकाल मे हो चुकी और भविष्य मे होती रहेगी। काल दोप से हमारे क्षेत्र मे इस समय कोई अरिहत परमात्मा नही है, किंतु महाविदेह क्षेत्र मे अभी भी विद्यमान है। वहा सदाकाल विद्यमान रहते है। तीर्थंकरत्व प्राप्त करने वाली आत्माओ की साधना पूर्व भवो मे ही चालू हो जाती है। पूर्व के कितने ही भवो की आराधना का परिणाम अतिम मनुष्य भव मे प्रकट होता है और वे लोकनाथ तीर्थंकर भगवान् होकर भव्यप्राणियो के लिए आधारभूत होते है। जिन विशिष्ट सद् गुणो को आत्मा में स्थान देने से यह लोकोत्तर पद प्राप्त होता है, वे आगे वताये जा रहे है।

तीर्थंकरत्व प्राप्ति के कारण

'जन' से 'जैन' और जैन से जिनेश्वर होते है। साधारण जन ससार लक्षी होते है। जन साधारण मे से जिनकी दृष्टि मोक्ष की ओर लगती है और जो हेयोपादेय को समझ लेते है, वे जैन होते है। जो जैन है, उनमे से ही कोई भव्यात्मा मोक्ष के कारणभूत उत्तम अवलम्बनो को प्रशस्त राग की तीव्रता के साथ अपनाते है, वे जिनेश्वर होते है। जिनेश्वर (तीर्थंकर) पद प्राप्ति के बीस कारण इस प्रकार है।

(१) अरिहत भगवान् की भक्ति, उनके गुणो का चिन्तन और आज्ञा का पालन करते रहने से उत्कृष्ट रस जमे तो तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।
(२) सिद्ध भगवान् की भक्ति और उनके गुणो का चिन्तन करने से।
(३) निर्ग्रंथ प्रवचन रूप श्रुतज्ञान मे अनन्य उपयोग रखने से।
(४) गुरु महाराज की भक्ति, आहारादि द्वारा सेवा, उनके गुणो का प्रकाश करने एव आशातना टालने से।
(५) जाति स्थविर (६० वर्ष की वयवाले) श्रुत स्थविर (स्थानाग समवायाग के धारक) प्रव्रज्या स्थविर (२० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले) की भक्ति करने से।
(६) वहुश्रुत (सूत्र, अर्थ और तदुभय युक्त) मुनिराज की भक्ति करने से।
(७) तपस्वी मुनिराज की भक्ति करने से।
(८) ज्ञान की निरन्तर आराधना करते रहने से।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में दानवीर श्रीमान् सेठ दुर्लभजीभाई शामजीभाई वीराणी राजकोट निवासी ने दो हजार रुपये प्रदान करके अपने धर्म प्रेम का परिचय दिया है। अतएव संघ आपको अनेकानेक धन्यवाद देता है।

मैं अपने धर्मबन्धुओं और बहिनों से नम्र निवेदन करता हूं कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य पठन और मनन करें। इससे उनके धार्मिक ज्ञान में वृद्धि होगी। वे धर्म और अधर्म तथा सदाचार और दुराचार का भेद समझ सकेंगे और अपने को जिनधर्म तथा जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का आराधक बनाकर स्व-पर कल्याण कर सकेंगे।

इसके बाद संघ, धार्मिक साहित्य का प्रकाशन शीघ्रता पूर्वक करता रहेगा। उत्तराध्ययनादि की पुनरावृत्ति, औपपातिक सूत्र और भगवतीसूत्र का प्रकाशन होगा। संघ, समाज में आगम-ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करना चाहता है। यह सब समाज के सहयोग से ही हो सकेगा। समाज से निवेदन है कि अपने इस संघ को उत्साह पूर्वक विशेष सहयोग प्रदान करे।

महाजनवाड़ी
धार [मध्य-प्रदेश]

मानकलाल पोरवाड़
बी. एस-सी. एल-एल. बी
एडवोकेट, धार (म, प्र.)
अध्यक्ष-अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ,
सैलाना [म. प्र.]

होते है। जिन्होने नरकायु का वन्ध करलेने के पश्चात् तीर्थकर नामकर्म निकाचित किया है, वेही तीसरी नरक तक जाते है और वहा से निकलकर मनुष्य होकर तीर्थकरत्व प्राप्त करते है।

"समरथ को नही दोष गुसाई"—यह सिद्धात जैन दर्शन को मान्य नही है। जिन्होने जैसा कर्म किया, वैसा उसे भोगना पडता है। परिणति के अनुसार वन्ध होता है। जिसने अवश्यमेव भुगतने योग्य गाढ रूप से निकाचित कर्म बाँध लिये है, उसे वे भुगतनेही पडते है, फिर भले ही वह आत्मा तीर्थकर होने वाली ही क्यो न हो ?

चौदह स्वप्न

जव महान् आत्माएँ गर्भ मे आती है, तो अपने साथ निश्चित रूप से अवधिज्ञान साथ लेकर आती है और उसी समय उनका शुभ प्रभाव भी दिखाई देता है। यदि उस समय आस पास की अथवा देश की स्थिति विषम हो तो सम हो जाती है, प्रतिकूल हो, तो अनुकूल हो जाती है। रोग, शोक, उपद्रव आदि शान्त होकर सर्वत्र प्रसन्नता का प्रसार हो जाता है। जव वे विशुद्ध कुलोत्पन्न एव विशुद्ध आचार विचार सम्पन्न वीर माता के गर्भ मे आते है, तो माता चौदह महास्वप्न देखती है। वे महास्वप्न इस प्रकार है।

आश्चर्य रूप माना गया है (स्थानांग १०) क्योंकि सामान्यतया ऐसा नहीं होता। इस प्रकार की आश्चर्य जनक घटनाएँ अनन्त काल में कभी हो जाती हैं, और इसका मूल कारण है उन आत्माओं के साथ वैसे कर्मों का संयोग होजाना।

कोई तर्क वाज, स्त्री पर्याय की पुरुष पर्याय के समान श्रेष्ठता बताने के लिए तर्क उपस्थित करते हैं कि—"यदि स्त्री का तीर्थंकर होना आश्चर्य के रूप में माना जाता है, तो कल से गधा भी तीर्थंकर हो जायगा और वह भी आश्चर्य रूप में माना जा सकेगा" ? ऐसे महाशय, केवल सिद्धांत निरपेक्ष तर्क का सहारा लेते हैं। जो मात्र कुतर्क ही है। क्योंकि स्त्री का सिद्ध होना आश्चर्य जनक नहीं है, आश्चर्य जनक है-सिद्ध होने वाली स्त्री का तीर्थंकर पद प्राप्त करना। गधा आदि तिर्यंच न तो सिद्ध हो सकते हैं और न सर्व विरति रूप साधुता का पालन ही कर सकते हैं। वे सहस्रार स्वर्ग से आगे जा ही नहीं सकते, फिर तीर्थंकर होने की तो वात ही कहां रही। गधा तो दूर रहा, अकर्मभूमि का मनुष्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। तिर्यंचों, नारकों, देवों, असंज्ञियों और अकर्मभूमजों आदि में इस प्रकार की योग्यता होती ही नहीं है। जिस प्रकार अजैन संस्कृति में कच्छावतार, वाराह अवतार आदि माना हैं, उस प्रकार जैनदर्शन असंभव मे संभव नहीं मानता। स्त्रियाँ सिद्ध होती हैं, उनमें सिद्ध होने की योग्यता है। किंतु तीर्थंकर होने की विशेष रूप से संभावना नहीं है। यह असंभव वात इसलिए कि अधिकांश ऐसा नहीं होता। अनन्त पुरुष तीर्थंकरों में कभी (अनन्त काल में) एक स्त्री तीर्थंकर होजाय, तो वह आश्चय रूप मानी जाती है। जिस स्त्री पर्याय पलटकर उसी भव में सर्वथा पुरुष बनजाना आश्चर्य रूप है, उसी प्रकार यह भी समझिए।

१ सर्वांग सुन्दर गजराज (हाथी) २ वृषभ ३ सिंह ४ लक्ष्मी देवी ५ दो पुष्पमालाएँ ६ पूर्ण चन्द्र ७ सूर्य ८ ध्वजा ९ पूर्ण कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर समुद्र १२ देव विमान १३ रत्नो का ढेर और १४ निर्धूम अग्नि ।

जो तीर्थंकर नरक से आते है, उनकी माता बारहवे स्वप्न में देव विमान नही किन्तु 'भवन' देखती है ।

(भगवती ११–११ तथा कल्पसूत्र)

ये स्वप्न उत्तम है । आगमो में इन्हे महास्वप्न बतलाये है । जिन मातेश्वरी को ये चौदह स्वप्न आते है, वह या तो चक्रवर्ती सम्राट की माता होती है या फिर धर्म चक्रवर्ती–तीर्थंकर भगवत को जन्म देती है । ससार का राज्य करने वाले चक्रवर्ती की माता कुछ धुंधले स्वप्न देखती है, तब धर्म चक्रवर्ती = जिनेश्वरदेव की माता स्पष्ट एव प्रकाश मान स्वप्न देखती है । भगवान के गर्भ में आते ही माता पिता के सुख, सौभाग्य सम्पत्ति और सम्मान की वृद्धि होने लगती है ।

जन्मोत्सव

जब गर्भ काल पूर्ण होता है और तीर्थंकर का जन्म होता है, तब विश्वभर मे प्रकाश होता है । उस समय रात्रि का अन्धकार भी थोडी देर के लिए दूर होजाता है । विश्व प्रकाशक–विश्वदेव के अवतरण से विश्व का द्रव्य अन्धकार भी थोडी देर के लिए दूर हो जाय तो उसमे क्या बडी बात है ? जहा सदैव अन्धकार ही अन्धकार रहता है–ऐसी नरको में भी उस समय प्रकाश फैलजाता है (ठाणाग ३-१) और सदाही दुख, शोक एव क्लेश में रहकर भयकर कष्टो को सहन करते रहने वाले नारक कुछ देर के लिए शान्ति का अनुभव करते है ।

भगवान् का जन्मोत्सव का वर्णन "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति" सूत्र के पाचवे वक्षस्कार मे विस्तार से दिया गया है । यहा उस अधिकार को सक्षेप में दिया जा रहा है ।

जब भावी जिनेश्वर भगवान् का जन्म होता है, तब अधोलोक–अर्थात् चार 'गजदता' पर्वतो के नौ सौ योजन से नीचे रहने वाली भवनपति जाति की महान् ऋद्धिशाली और अपने अपने भवन की स्वामिनी ऐसी आठ दिशाकुमारियो का आसन चलायमान होता है । इनके पहले वे अपने अधीनस्थ देव देवियो के साथ आमोद प्रमोद करती हुई मस्त रहती है, किन्तु जब उनका आसन चलायमान होता है, तब वे एकदम स्तब्ध होजाती है और आसन चलित होने का कारण जानने के लिए वे 'अवधि' का प्रयोग करती है । अवधि के उपयोग से भगवान् का जन्म होना जानकर प्रसन्न होती है और तत्काल एक दूसरी को बुलाकर कहती है कि–

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र मे तीर्थंकर भगवान् का जन्म हुआ है। हम दिशाकुमरियों का कर्त्तव्य है कि "जिनेश्वर भगवान् के जन्म का महोत्सव करे। भूतकाल मे जितनी दिशाकुमारियें हुई, उन सबने उस समय जन्म लिए भगवनो का जन्मोत्सव किया है। भविष्य मे होने वाली भी करेगी और हमे भी करना चाहिए"। इस प्रकार कहकर वे अपने अपने आज्ञाकारी देवों को आज्ञा देकर तय्यारी करवाती है। आज्ञाकारी देव अपनी अपनी वैक्रेय शक्ति द्वारा एक योजन के विस्तार वाले अत्यन्त सुन्दर विमान का निर्माण करते है और उस विमान मे प्रत्येक दिशाकुमारी अपने परिवार के देव देवियों तथा संगीत एवं वाद्य सामग्री सहित विमान मे बैठती है और शीघ्र गति से तीर्थंकर भगवान् के जन्म स्थान पर आती है। वहा पहुँचते ही पहले तो विमान मे रही हुई ही भगवान् के जन्म भवन की तीन बार प्रदक्षिणा करती है, उसके बाद विमान को एकात स्थान मे पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर रखकर अपने परिवार सहित नीचे उतरती है और गाजे बाजे तथा संगीत के साथ जन्म स्थान मे प्रवेश कर भावी जिनेश्वर तथा माता को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करती है और माता की स्तुति करती हुई कहती है कि—

"हे रत्न कुक्षिधारिनी, है विश्व को महान् प्रकाशक प्रदान करनेवाली महामाता! तुझे धन्य है। अम्बे! तूने, परम मंगल कर्त्ता, विश्ववत्सल, विश्वहितकर, परमज्ञानी, मोक्षमार्गप्रदर्शक, धर्मनायक, लोकनाथ एवं जगत्चक्षु जिनेश्वर भगवंत को जन्म देकर विश्व के लिए अलौकिक आधार उपस्थित किया है।

"महामाता! तू धन्य है, महान् पुण्यशालिनी है, तू कृतार्थ है। हे माता! हम अधोलोक निवासिनी दिशाकुमारियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने आई हैं। अब हम जन्मोत्सव करेंगी। आप हमें अपरिचिता देख कर डरें नहीं"।

इसके बाद वे वैक्रिय समुद्घात करके सुगन्धित वायु उत्पन्न करती है और जन्म स्थान के आसपास एक योजन तक के काटे, कचरे आदि तथा अशुचि पदार्थों को उडाकर दूर एकओर डाल देती है। इसके बाद वे माता और भगवान् के निकट आकर मंगल गान करती हुई खडी रहती है।

इसी प्रकार ऊर्ध्व लोक मे रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ आती है, और माता तथा भगवान् की स्तुति करने के बाद सुगन्धित जल की वर्षा करके वहा की धूल को दबा देती है। पुष्पों की वर्षा और सुगन्धित धूप से सारे वायु मण्डल को सुगन्धित करके देवो और इन्द्र के आने योग्य बना देती है। इसके बाद वे जन्म स्थान पर आकर मंगल गान गाती रहती है।

पूर्व दिशा के रूचक पर्वत पर रहने वाली आठ दिग्कुमारियाँ भी उसी प्रकार आकर हाथ मे दर्पण लेकर मंगलगान करती हुई खडी रहती है।

दक्षिण के रुचक कूट पर रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ भी इसी प्रकार वन्दनादि करके जलकलश लेकर गायन करने लगती हैं।

पश्चिम रुचक की आठ दिशाकुमारियाँ हाथ में पंखा लेकर हवा करती हुई गायन करती हैं।

उत्तर रुचक की आठ दिशाकुमारियाँ चामर डुलाती हुई गाती हैं।

रुचक की चार विदिशाओं की चार कुमारियाँ हाथ में दीपक लेकर मधुर संगीत करती हैं।

मध्यरुचक की चार दिशाकुमारियें नमस्कार करने के बाद भगवान् की नाभि-नाल, चार अंगुल रखकर बाकी का छेदन करती हैं और उसे भूमि में गाड कर रत्नों से उस खड्डे को भर देती हैं फिर उसके ऊपर एक पीठ बना देती हैं। इसके बाद वैक्रेय द्वारा तीन दिशाओं में तीन कदली घर बनाती हैं। प्रत्येक कदलीघर में चौशाल बनाकर मध्य में एक सिंहासन रखती हैं। इसके बाद एक देवी तीर्थंकर भगवान् को अपने हाथों में उठाती है और अन्य देवियें माता का हाथ पकड़कर दक्षिण दिशा के कदलीघर में लाती हैं उन्हें सिंहासन पर बिठाकर शतपाक, सहस्त्रपाक तैल से शरीर का मर्दन करती हैं। इसके बाद सुगन्धित वस्तुओं से उबटन करती हैं। इसके बाद उन्हें पूर्व के कदलीघर में लाती हैं और सुगन्धित जल से स्नान करवाकर वस्त्राभूषण से सुसज्जित करती हैं। इसके बाद उत्तर दिशा के कदलीघर में लाकर सिंहासन पर बिठाती हैं। इसके बाद अपने सेवक देवों द्वारा चुल्लहिमवन्त तथा वर्षधर पर्वतों से गोशीर्ष चन्दन मँगवाकर उससे तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों से हवन करती हैं और उस सुगन्धित राख से रक्षा—पोट्टलिका बाँधकर भूतिकर्म करती हैं। इसके बाद भगवान् को शुभाशीष देती हैं और उन्हें माता सहित लाकर उनकी शय्या पर सुलाती हैं तथा खुद मंगल गान गाती हैं।

इधर प्रथम स्वर्ग के अधिपति और बत्तीस लाख विमानों के स्वामी देवेन्द्र—देवराज शक्र का भी आसन चलायमान होता है। वह भी भगवान् का जन्म जानकर प्रसन्न होता है। तत्काल सिंहासन से नीचे उतरता है और पाँवपोश उतारकर तथा उत्तरासन करके सात आठ पाँवडे उस दिशा की ओर चलकर नीचे बैठता है। दाहिने घुटने को नीचे टिकाकर, बायें घुटने को ऊपर करके, दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करता है। नमस्कार करने के बाद वह उठता है और अपने आज्ञाकारी हरिणगमेषी देव को आज्ञा देता है कि—

"तुम अपनी 'सुघोषा' घंटा बजाकर उद्घोषणा करो कि—'शक्रेन्द्र सपरिवार जिनेश्वर भगवन का जन्माभिषेक करने के लिए भरत क्षेत्र जाना चाहते हैं। अतएव देवदेवियें अपनी ऋद्धि एवं परिवार सहित सजधजकर उपस्थित होवें'।

सुघोषा घंटा के द्वारा इन्द्र की आज्ञा—असंख्यात योजन प्रमाण आकाश प्रदेश में रहे हुए ३१९९९९९ विमानों के देवों तक पहुँची और वे सजधज के साथ शक्रेन्द्र के पास आये। इनमें से कुछ तो तीर्थंकर भगवान् को वन्दना, नमस्कार एवं दर्शन करने की भावना से आये और कुछ शक्रेन्द्र की आज्ञा

के आधीन होकर आये। कई मात्र कुतूहल वश कई भक्ति-राग वश होकर, कई पुरातन आचार पालने के लिए और कई एक दूसरे का अनुकरण करते हुए आये।

शक्रेन्द्र ने अपने आज्ञाकारी देव द्वारा एक लाख योजन विस्तार वाला एक महाविमान देवशक्ति से तय्यार करवाया। इस सुन्दरतम महाविमान के मध्यमें सर्वोच्च सिंहासन पर शक्रेन्द्र बैठा। आस पास समान ऋद्धिवाले देवो, इन्द्रानियो आदि के लाखो सिंहासन होते है जिनपर वे सब बैठ जाते हैं। इसके अतिरिक्त गाने बजाने वाले और नृत्य करने वाले देव भी साथ होते है। फिर वह विमान शीघ्र-गति से चलता है। असख्य द्वीप समुद्र को लाघते हुए वह विमान नन्दीश्वर द्वीप के आग्नेय कोण में स्थित रतिकर पर्वत पर आता है। यहा विमान को सकुचित (छोटा) बनाया जाता है और वहां से चलकर जन्म स्थान पर विमान आता है। जन्म स्थान की तीनवार परिक्रमा करके विमान एकओर जमीन से चार अंगुल ऊपर ठहराकर, शक्रेन्द्र परिवार सहित नीचे उतरता है और भगवान् और जननी को वन्दना नमस्कार करके अपना परिचय देता है।

इसके बाद माता को निद्राधीन करके और उनके पास भगवान् का तद्रूप बनाकर रखता है। फिर शक्रेन्द्र, दिव्य शक्ति से अपने पाँच रूप बनाता है। एक रूप भगवान् को अपने हथेलियो में उठाता है। एक पीछे रहकर छत्र धारण करता है। दो रूप दोनो ओर चामर ढुलाते हैं और एक रूप हाथ में वज्र लेकर आगे चलता है। फिर भवनपति व्यतर आदि देवो के साथ, भगवान् को लेकर मेरु पर्वत के पंडक वन में आता है और अभिषेकशिला पर रहे हुए अभिषेक सिंहासन पर भगवान् को पूर्व की ओर मुँह करके बिठाता है।

जिस प्रकार शक्रेन्द्र आये उसी प्रकार अन्य ग्यारह देवलोक के नौ इन्द्र भी आये और भवन-पति, व्यन्तर तथा ज्योतिषी के इन्द्र भी आये। कुल चौसठ इन्द्र है, जैसे कि—

वैमानिक के दस इन्द्र—प्रथम आठ देवलोक के ८, नौवे दसवें का १ और ग्यारहवें बारहवें का १।

भवनपति के बीस इन्द्र—१ असुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्कुमार ५ अग्नि-कुमार ६ द्वीपकुमार ७ उदधिकुमार ८ दिशाकुमार ९ वायुकुमार और १० स्तनितकुमार, इन दस के उत्तरदिशा के दस इन्द्र और दक्षिण दिशा के दस इन्द्र।

व्यन्तर के बत्तीस इन्द्र—१ पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग और ८ गधर्व इन ८ के दक्षिण तथा उत्तर के १६ इन्द्र, तथा १ आणपन्निक २ पाण पन्निक ३ ऋषिवादी ४ भूतवादी ५ कंदित ६ महाकंदित ७ कोमड और ८ पतग। इन आठ के १६, यो कुल ३२ इन्द्र।

ज्योतिषी के दो इन्द्र—१ चन्द्रमा और सूर्य।

ये कुल चौसठ इन्द्र है। इनमें से शक्रेन्द्र भगवान् के जन्म स्थान पर आते है और शेष ६३ इन्द्र मेरु पर्वत पर ही आते है। इन सब मे अच्युतेन्द्र (ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग का अधिपति) सबसे बडा

और महान् ऋद्धिशाली है। वह अपने आज्ञाकारी देवो को आज्ञा देकर अभिषेक की समस्त सामग्री मँगवाता है। आज्ञाकारी देव, सोने, चाँदी और रत्नादि के कलशों में विविध जलाशयो का शुद्ध एवं सुगन्धित जल लाते है। विविध प्रकार के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्प,चन्दन,वस्त्रा–भूषणादि अनेक सामग्री लाते है। वह स्थान देवताओ और देवांगनाओं से भरजाता है और इस प्रकार सज्जित हो जाता है मानो सभी प्रकार की उत्तमोत्तम सामग्रियो का एक विशाल बाजार अथवा प्रदर्शनी ही लगी हो।

उस उत्तमोत्तम सामग्री से अच्युतेन्द्र अभिषेक करना प्रारंभ करता है। उस समय भगवान्को शक्रेन्द्र अपनी गोदी मे लेकर सिंहासन पर बैठता है और अच्युतेन्द्र जलाभिषेक करता है। इधर सभी देव उत्सव मनाने मे लगते हैं। कई वादिन्त्र बजाते हैं। अनेक गायन करते हैं, कितने ही देव नृत्य करते है, कुछ अभिनय (नाटक) करते है। कई देव, उछलते, कूदते, कुश्ती लडते, सिंहनाद करते और गर्जनादि अनेक प्रकार के शब्द करते है। कोई बिजली चमकाते और कोई मद मद वर्षा करते हैं। यो अनेक प्रकार से हर्ष व्यक्त करते हुए जन्म महोत्सव करते है।

अच्युतेन्द्र जलादि अभिषेक करते हुए भगवान् का जयजयकार करते है। अभिषेक हो जाने के बाद भगवान् के शरीर को उत्तम सुगन्धित एवं कोमल वस्त्र से पोछते है, फिर वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित करते है। तदुपरान्त नृत्य करते है। नृत्य करने के बाद भगवान् के सम्मुख आठ मगल चिन्हो का आलेखन करते है, जो इस प्रकार है,–

१ दर्पण २ भद्रासन ३ वर्द्धमानक (शरावला) ४ श्रेष्ठ कलश ५ मत्स्य ६ श्रीवत्स (एक प्रकार का स्वस्तिक) ७ स्वस्तिक (साथिया) और ८ नन्द्यावर्त (नौकोण वाला स्वस्तिक)

इसके बाद विविध वर्णों के उत्तम सुगन्धित पुष्पो के ढेर करते है और सुगन्धित पदार्थों का धूप करते है। इसके बाद सात आठ कदम पीछे हटकर हाथ जोडकर और सिर झुका कर १०८ शुद्ध एवं महान् श्लोको से स्तुति करते है। इसके बाद बाँये घुटने को खडा करके और दाहिना घुटना नीचे टिकाकर इस प्रकार स्तुति करते हैं,–

"हे सिद्ध, बुद्ध, कर्मरज रहित, श्रमणवर! आपको नमस्कार है। हे शांति के सागर, हे कृतार्थ, हे परम आप्त, हे परम योगी! आपके चरणों में मेरा बारबार नमस्कार है। हे त्रिशल्य-नाशक, परम निर्भय, वीतराग! श्री चरणों में मेरा भक्तियुक्त प्रणाम है। हे निर्मोही, सर्व संगातीत, निरभिमानी एवं सर्वोत्तम चारित्र के सागर, सर्वज्ञ प्रभो! मै आपको हृदय पूर्वक वन्दना करता हूं। हे अप्रमेय, भव्य, धर्मचक्रवर्ती अरिहंत भगवान्! आपके चरण कमलों में मेरा बहुमान पूर्वक नमस्कार हो"।

इस प्रकार पुन स्तुति वन्दना और नमस्कार करके उचित स्थान पर बैठते है।

अच्युतेन्द्र के बैठने के बाद नौवें और दसवें स्वर्ग के अधिपति 'प्राणतेन्द्र' भी इसी प्रकार अभिषेक करते है। उसके बाद सहस्रारेन्द्र, यो उतरते उतरते दूसरे स्वर्ग के ईशानेन्द्र अभिषेक करते है। फिर भवनपति के २० इन्द्र, व्यन्तर के ३२ इन्द्र और ज्योतिषी के २ इन्द्र, यो ६३ इन्द्रो द्वारा अभिषेक हो जाने के बाद शक्रेन्द्र की बारी आती है। उस समय ईशानेन्द्र अपने पाँच रूप बनाकर एक रूप से भगवान् को अपनी गोदी मे लेकर सिंहासन पर बैठता है। एक छत्र धारण करके पीछे खडा रहता है। दो रूप से दोनो ओर चामर विजाते है और एक वज्र लेकर खडा रहता है।

शक्रेन्द्र का अभिषेक कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह देवशक्ति मे उत्तम वृषभ (बैल) के अपने चार रूप बनाता है और भगवान् के चारो ओर खडा रहकर अपने आठ सींगो से स्वच्छ एव सुगन्धित जल की अनेक धाराएँ (फव्वारे की तरह) छोडता है। वे जल धाराएँ ऊँची जाकर और एक रूप होकर भगवान् के मस्तक पर पडती है। शेष सब क्रिया अच्युतेन्द्र जैसी ही होती हैं।

जन्माभिषेक सम्पन्न होजाने के बाद शक्रेन्द्र पूर्व की तरह पुन पाँच रूप धारण करता है और भगवान् को लेकर जन्म स्थान पर आता है। अन्य ६३ इन्द्र वहीं से सीधे अपने अपने स्थान लौट जाते है। भगवान् को जन्मस्थान पर लाने के बाद शक्रेन्द्र, भगवान् का प्रतिरूप हटाकर उन्हे माता के पास सुलाते है और माता को निद्रा मुक्त करते है।

इसके बाद शक्रेन्द्र, भगवान् के सिरहाने क्षोम युगल (उत्तम वस्त्र का जोडा) और रत्न जड़ित कुडल जोडी रखता हैं। फिर स्वर्ण पर रत्न जड़ित और अनेक प्रकार की मालाओ से वेष्टित एक "श्रीदामगड" (गेंद) भगवान् की दृष्टि के समुख रखते है। भगवान् उस प्रकाशमान् श्रीदामगड को देखते और क्रीडा करते हुए माता के पास सोते रहते हैं।

शक्रेन्द्र की आज्ञा से वैश्रमण देव, ३२ करोड चाँदी के सिक्के, ३२ करोड सोने के सिक्के, ३२ सुन्दर नन्दासन और ३२ उत्तम भद्रासनो का (जो अन्यत्र वैसे ही पडे हो) साहरन करके भगवान् के जन्म भवन मे रखते हैं। इसके बाद शक्रेन्द्र की आज्ञा से यह उद्घोषणा होती है कि-

"यदि किसी देव अथवा देवी ने, तीर्थंकर भगवान् और उनकी मातेश्वरी के विषय मे अनिष्ट चिंतन किया, तो उसका सिर तालवृक्ष की मजरी की तरह तोडकर चूर्ण कर दिया जायगा"।

इसके बाद सभी देव वहा से चलकर नन्दीश्वर द्वीप आते है और वहा अष्टान्हिका महोत्सव करने के बाद अपने अपने स्थान पर चले जाते है। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-५)

इन्द्रो द्वारा जन्मोत्सव होने के बाद तीर्थंकर भगवान् के पिता नरेन्द्र द्वारा जन्मोत्सव मनाया जाता है।

तीर्थंकर भगवान् के जन्म होने की बधाई लेकर जाने वाली दासी, नरेश को प्रणाम करके उनका

जयजयकार करती है और जन्म की बधाई देती है। नरेन्द्र के हर्ष का पार नहीं रहता। वे उसी समय उठकर दासी का आदर सत्कार करते है और उसे दासत्व से मुक्त करके इतना पारितोषिक देते है कि जिससे उसके पुत्र पौत्रादि भी सुख पूर्वक जीवन बिता सके। अपना मुकुट छोडकर शेष बहुमूल्य आभूषण भी प्रदान कर देते हैं।

इसके बाद नगर रक्षक को आज्ञा देकर नगर को साफ कराया जाता है। फिर पानी का छिटकाव होता है। शहर मे सर्वत्र लिपाई पुताई होती है। द्वार द्वार पर तोरण और ध्वजाएँ लगती है। वन्दनवार लगाये जाते है। स्थान स्थान पर मण्डप बनाये जाते है। उन्हे ध्वजा, पताका, पुष्पमाला तथा स्वर्णजड़ित वितान (चँदोवा) से सजाया जाता है। मार्ग पर पुष्प बिखेरे जाते है। कही कही पुष्पो के ढेर लगाये जाते है। सुगन्धित धूपो से सारा वायुमण्डल सुगन्धित किया जाता है। मण्डपो मे अनेक प्रकार के कर्णप्रिय वादिन्त्र बजाये जाते है। सगीत मण्डलियाँ सुरीले राग मे गायन करती है। नृत्यागनाएँ नृत्य करती है। नट लोग, नाटक करते है। मल्लयुद्ध (पहलवानो की कुश्तियाँ) करते है। विदूषक लोग भाडचेष्टादि से लोगो में हास्य रस का सचार करते है। कही कविता पाठ होता है, तो कही रास मण्डली जमती है। इस प्रकार सर्वत्र हर्षानन्द की बाढ सी आजाती है।

दूसरी ओर नरेश की आज्ञा से कारागृह खुल जाते है और सभी बदी मुक्त कर दिए जाते हैं। नगर की जनता की ओर से चलने वाली दानशालाएँ बद करके राज्य की ओर से दानशाला चलाई जाती है। सभी प्रकारका 'कर' माफ कर दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये तोल-नाप मे वृद्धि की जाती है। क्रयविक्रय बद करवाकर राज्य से जनता को इच्छित वस्तुएँ दी जाती है। प्रजा का ऋण राज्य की ओर से चुका दिया जाता है और दस दिन तक राज्य की ओर से जब्ती और सख्ती बद करदी जाती है। नरेन्द्र स्वय सिंहासनारूढ होकर अन्य राजाओ, जागीरदारो, अधिकारियो तथा श्रेष्ठजनो से भेंट स्वीकार करते है और याचको को लाखो का दान भी करते है।

जन्म के प्रथम दिन जात कर्म, दूसरे दिन जागरण और तीसरे दिन चन्द्र सूर्य का दर्शन कराया जाता है। बारहवें दिन सभी सम्बन्धियो, ज्ञातिजनो राजाओ, जागीरदारो, अधिकारियो, सेठो आदि को एक महान् प्रीति भोज दिया जाता है और उसके बाद उस बृहद् सभा के समक्ष भगवान् का नामकरण किया जाता है। इसके बाद भगवान् का पाच धात्रियो से पालन पोष

पाच धात्रिये इस प्रकार होती है।

१ क्षीर धात्री—स्तनपान कराने वाली।

२ मज्जन धात्री—स्नानादि कराने वाली।

३ मडन धात्री—शृगार करानें वाली।

४ खेलन धात्री-क्रीडा कराने वाली ।

५ अक धात्री-गोदी मे उठाकर फिरने वाली ।

उपरोक्त पाच धात्रियो तथा अन्य अनेक दास दासियो के द्वारा मातेश्वरी की देख रेख मे पालन पोषण होता है । (ज्ञाता-१ कल्पसूत्र)

जब तीर्थंकर भगवान् बालवय को पारकर यौवनावस्था को प्राप्त करते है, तब जिनके पुरुष-वेद का भोगावली कर्म उदयस्थ होता है, उनका योग्य राज कन्या के साथ लग्न होता है । सतान भी होती है और जिनके वैसा योग नही होता है, वे बालब्रह्मचारी भी रहते है । कोई राजऋद्धि भोगकर प्रव्रजित होते है, तो कोई युवराज अवस्था मे ही ससार त्याग देते है ।

वर्षीदान

जब भगवान् के ससार त्याग का समय निकट आता है, तो उसके एक वर्ष पूर्व ही उनके मनमे वर्षीदान देने की भावना जागृत होती है । भगवान् की उस भावना से इन्द्र प्रभावित होता है और अपने आज्ञाकारी वैश्रमण देव के द्वारा तीर्थंकर भगवान् के खजाने मे तीन अरब अट्ठासी करोड अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएँ पहुँचाई जाती है । यह धन ऐसा होता है कि जिसका कोई अधिकारी नही रहा हो और यो ही भूमि मे गडा हुआ पडा हो ।

भगवान् प्रात काल से लेकर एक प्रहर दिन चढे वहा तक एक करोड़ आठलाख स्वर्ण मुद्राओ का दान करते है । इस प्रकार एक वर्ष में कुल तीन अरब अट्ठासी करोड अस्सी लाख सोनैये दान मे देते है । उधर भगवान् के पिता भी दान शाला स्थापित करके याचको को अशनादि दान देना प्रारभ कर देते है ।

देवों द्वारा उद्बोधन

वर्षीदान दे चुकने के बाद भगवान् ससार त्याग कर दीक्षा लेने का विचार करते है, तब ब्रह्म देवलोक के तीसरे प्रतर में और कृष्णराजियो के मध्य लोकान्तिक विमानो मे रहने वाले नौ प्रकार के लोकान्तिक देव अपने जीताचार के कारण प्रभु के समीप आते है और जय जयकार करते हुए निवेदन करते है कि-

"हे, जगदुद्धारक, हे विश्ववत्सल प्रभो ! अब समय आगया है । भव्य जीवों के हित के लिए अब तीर्थ प्रवर्त्तन कीजिए" ।

इस प्रकार अपने आचार के अनुसार भगवान् को उद्‌वोधित करके अपने स्थान लौट जाते है।

दीक्षा महोत्सव

इनके वाद भगवान् ससार त्याग कर प्रव्रजित होने की अनुमति माँगते है। माता पिता तो पहले से ही जानते है कि यह विश्व विभूति घर मे रहने वाली नही है। वे अनुमति प्रदान कर देते है और प्रभु का महाभिनिष्क्रमण महोत्सव प्रारभ करते है। उधर चौसठ इन्द्र आते है और भगवान् का दीक्षा महोत्सव वडी धूमधाम से करते है।

दीक्षा के समय भगवान् के प्राय तपस्या होती है। कोई तेले के तप के साथ प्रव्रजित होते है तो कोई वेले के तप के साथ ससार का त्याग करते है। ससार त्याग करते समय भगवान् अपने वस्त्राभूषण उतार देते है, तव शक्रेन्द्र एक दिव्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख देता है। जव भगवान् पच मुष्टि लोच करके दीक्षा की प्रतिज्ञा करने लगते है, तव शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वाजिन्त्र और गाना वजाना वद कर दिया जाता है और सभी मनुष्य स्तब्ध होकर खडे रहते है। उस समय भगवान्, सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके अपनी गभीर वाणी मे इस प्रकार प्रतिज्ञा करते है।

"मैं समस्त पापकर्म का सदा के लिए त्याग करता हूं।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा से भगवान् 'सामायिक चारित्र' स्वीकार करते है। अप्रमत्त दशा मे इस क्षयोपशमिक चारित्र की प्राप्ति के साथ ही भावो की विशुद्धि से उन्हे 'मन पर्यव ज्ञान' प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान से वे ढाई द्वीप और दो समुद्र में रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मन के भाव जानते है। इसके वाद अपने मित्र, ज्ञाति, सम्वन्धी आदि जनो को विसर्जन करके, प्रतिज्ञा करते है कि—

"मेरी संयम साधना में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न होगा और कोई देव, मानव तथा तिर्यंच जीव, मुझे घोरातिघोर उपसर्ग देगा, तो मैं उसे समभाव पूर्वक सहन करूगा"।

जव तक भगवान् को केवलज्ञान नही होता, तव तक वे उपदेश नही देते। यदि कोई उनके साथ दीक्षा लेता है, तो ठीक, अन्यथा वाद में छद्‌मस्थ अवस्था मे किसी को दीक्षित नही करते और एक शूरवीर की तरह सयम मे पराक्रम करते ही जाते है। ससार की कोई भी शक्ति उन्हे अपनी साधना से विचलित नही कर सकती।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी

साधना काल मे तीर्थकर भगवान् केवल द्रव्य तीर्थकर होते है। जवसे उन्होने तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित (दृढ) वध किया तव से वे द्रव्य तीर्थंकर माने जाते है। इसके वाद वह आत्मा उस

महान् एव सर्वोत्तम शुभ वन्ध के फल की ओर अग्रसर होती है। पूर्व भव से प्रस्थान कर गर्भ मे आना, माता को स्वप्न दर्शन, जन्म, जन्मोत्सव आदि सभी, तीर्थंकरत्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की स्थिति है। समार मे रहते हुए जन्म, जन्मोत्सव, विवाह, राज्य सचालनादि क्रियाएँ होती है, वे सब कर्मोदय से सवधित होने के कारण उदय भाव की क्रियाएँ है। वे स्वय पूर्व भव से लगाकर ससार त्याग के पूर्व तक गृहस्थावस्था में चौथे गुणस्थान मे ही रहते है। इन्द्रो द्वारा जन्मोत्सव आदि होते है, ये क्रियाएँ भी मावद्य एव आरभ युक्त होती है। तीर्थंकर भगवान् की गृहस्थ अवस्था, अन्य ससारी जीवो की अपेक्षा श्रेष्ठ, निष्कलक एव सर्वोत्तम होती है। इसलिए अन्य ससारियो के लिए भी वे आदर्श रूप होते है। इसके सिवाय यह निश्चित् होता है कि वे एक लोकोत्तम आत्मा है और इसी भव मे भाव तीर्थंकर होगे, इसलिए वाद की उस महान् अवस्था को लक्ष मे रखकर उन्हें पहले से सर्वज्ञ, श्रमण, एव वीतराग आदि विशेषण से विशेपित करके स्तुति की जाती है, यह भक्तिराग का कारण है, किन्तु वास्तविक तीर्थाधिपति तो वे वाद में होते है। जव उनका साधनाकाल पूर्ण होने के निकट आता है, तब वे महान् पुरुपार्थ से क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर मोहनीय आदि चारो घातक कर्मों को नष्ट कर देते है। उन्हे सर्वांग परिपूर्ण केवलज्ञान केवल दर्शन की-प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन ही ज्ञान दर्शन की परिपूर्णता है। इसका परिचय देते हुए आगमो मे वताया गया है कि–

"द्रव्य से केवलज्ञानी, लोकालोक के समस्त द्रव्यो को जानते देखते है। क्षेत्र से समस्त क्षेत्र को, काल से भूत भविप्य और वर्त्तमान के तीनो काल–समस्तकाल और भाव से विश्व के समस्त भावो को जानते और देखते है"। (नन्दी सूत्र, भगवती ८–२)

"वह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहृत, आवरणरहित, अनन्त और प्रधान होता है"। इससे वे सर्वज्ञ और समस्त भावो के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वे समस्त लोक के पर्याय जानते देखते है। गति, आगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, खाना, पीना, करना, कराना, प्रकट, गुप्त, आदि समस्त भावो को प्रत्यक्ष जानते देखते है। (आचाराग २–१५ ज्ञाता ८)

यदि कोई शका करे कि 'जिस प्रकार हम अपनी दो आँखो से देख कर ही जानते है, तथा कानो मे सुनकर यावत् सूघ, चख और स्पर्श करके ही जान सकते है, विना इन्द्रियो की सहायता के नही जान सकते, इसी प्रकार केवलज्ञानी भी इन्द्रियो की सहायता से ही जान सकते होगे', तो इसके समाधान मे आगमो मे ही स्पष्ट किया गया है कि–

"केवलज्ञानी भगवान् का ज्ञान आत्म प्रत्यक्ष होता है (नन्दी) वे पूर्व आदि दिशाओ मे सीमित और सीमातीत ऐसी सभी वस्तुओ को जानते देखते है। उनके ज्ञान दर्शन पर किसी प्रकार का आवरण नही रहता"। (भगवती ५–४ तथा ६–१०)

"केवलज्ञानी भगवत के जानने के लिए किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नही होती, वे स्वय विना किसी वाह्य हेतु के ही जानते देखते हैं"। (भगवती ५–७)

गागेय अनगार भगवान् की परीक्षा करने के लिए आये थे। जब उन्हे विश्वास हो गया कि भगवान् केवलज्ञानी है, तो भी उन्होने भगवान् से पूछा कि—

"ये सब वातें आप कैसे जानते है ? आपने कही सुनी है—सुनकर जानते है, या विना सुने ही जानते है" ? तब भगवान् फरमाते है कि—

"हे गागेय ! मैं स्वय जानता हू, किन्तु दूसरे की सहायता से नही जानता। मैं विना सुने ही यह सब जानता हू—सुनकर नही"।

तब गागेय अनगार ने पूछा—

"आप स्वय, विना सुने कैसे जानते देखते है" ?

"—गागेय! केवलज्ञानी अरिहत समस्त लोक की परिमित और अपरिमित ऐसी सभी ज्ञेय वाते जानते देखते है"।

तब उन्हे सतोष हुआ और उन्होने शिष्यत्व स्वीकार किया। (भगवती ९–३२)

"केवलज्ञानी, अधोलोक मे सातो नरक पृथ्वियो को उर्ध्व लोक मे सिद्धशिला तक और समस्त लोक में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते देखते है"। और इसी तरह सम्पूर्ण अलोक को भी जानते देखते है। (भगवती १४–१०)

केवलज्ञान और केवलदर्शन,आत्मा की वस्तु है। प्रत्येक आत्मा को उसे प्राप्त करने का अधिकार है। किसी अमुक अथवा विशिष्ठ व्यक्ति का ही इस पर एकाधिकार नही है। जो आत्मा सम्यग् पुरुषार्थ द्वारा आवरणो को हटाती जाती है, वह अत में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी वन जाती है।

यद्यपि सर्वज्ञता, आत्मा की ही वस्तु है तथापि प्राप्ति सर्वसुलभ नही है। इसकी प्राप्ति मनुष्येतर प्राणियो को तो हो ही नही सकती, और मनुष्यो मे भी सव को नही हो सकती, किन्तु किसी समय किसी महान् आत्मा को ही होती है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत पर चढना सव के लिए शक्य नही है। ससार के अधिकाश मनुष्य तो हिमालय को जानते ही नही और जानने वालो मे से अधिकाश मनुष्यो ने तो हिमालय पर चढने का विचार ही नही किया। जिन्होने विचार किया, उनमें से प्रयत्न करने वाले वहुत ही थोडे निकले। उस प्रयत्न करने वालो मे से कई मर मिटे और कई असफल होकर वापिस लौट आये। श्री तेनसिंग नेपाली और मि० हिलैरी न्यूजीलैंड निवासी ही सफल हुए। श्री तेनसिंग के अनुभव का सहारा लेकर अन्य व्यक्ति भी प्रयत्न कर रहे है। केवल्य प्राप्ति के विषय मे भी लगभग ऐसी ही वात है। ससार के अधिकाश लोगो को तो इसका वोध ही नही है। जिन्हे वोध है, तो प्रयत्न

की मन्दता है। यदि कोई उग्र प्रयत्न करते है, तो साधनो की अनुकूलता नही है, इसलिए सफलता प्राप्त नही होती। जिस प्रकार तेनसिंग और हिलैरी के पहले कितने ही काल तक कोई भी मनुष्य हिमालय पर नही चढ सका, उसी प्रकार इस ह्रायमान काल मे कोई भी व्यक्ति, ज्ञान के इस सर्वोच्च शिखर पर नही पहुँच सकता। जिस प्रकार हिमालय पर चढने के लिए मि० हिलैरी को भारत आकर हिमालय* के निकट जाना पडा, उसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र में के व्यक्ति ही सफल हो सकते है, क्योकि वहा इसकी पूर्ण अनुकूलता है।

कुयुक्तियाँ बहुत है, और उनमे से कई प्रभावोत्पादक भी होती है। सर्वज्ञता के विरुद्ध भी अनेक कुतर्क खडे हुए और हो रहे है, किंतु सिद्धात विघातक कुतर्कों की उपेक्षा करके हम सिद्धात साधक तर्कों पर विचार करेगे, तो सम्यग् श्रद्धान को बल मिलेगा।

मनुष्यो मे बहुत से ऐसे होते है कि जिन्हे अपनी मातृभाषा तथा अपने धन्धे का ज्ञान भी पूरा नही होता। ऐसे व्यक्ति थोडे होते है—जिन्हे किसी एक भाषा या धन्धे का तलस्पर्शी ज्ञान हो। उसमे से कुछ इने गिने व्यक्ति ही ऐसे होते है जिन्हे अनेक भाषाओ और उद्योगो का आविष्कारिक ज्ञान हो। इस स्थिति को समझने वाला यदि सम्यक् विचार करे, तो उसकी समझ मे आसकता है कि कोई ऐसी महान् आत्मा भी हो सकती है, जो ससार के समस्त भावो—सभी द्रव्यादि ज्ञेय वस्तुओ का पूर्ण रूप से ज्ञाता हो। इस प्रकार के सर्वज्ञ सर्वदर्शी महा पुरुष महाविदेह को छोडकर सर्वत्र और सदासर्वदा नही होते, कभी किसी क्षेत्र अथवा काल विशेष मे ही होते है। जिस प्रकार एक सूर्य, विशाल क्षेत्र मे अनन्त वस्तुओ को एक साथ प्रकाशित कर सकता है, उसी प्रकार एक सर्वज्ञ भी विश्व की अनन्तानन्त—समस्त वस्तुओ के त्रिकालज्ञ हो सकते है। आगम मे भी सर्वज्ञ की उपमा देते हुए लिखा है कि—

"उग्गओ खीण संसारो, सव्वण्णु जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्व लोयम्मि पाणिणं ॥ (उत्तरा २३-७८)

जब तक ग्रामोफोन, रेडियो, टेलिविजन, अणुबम आदि का आविष्कार नही हुआ था, तब तक जिनागमो मे प्रतिपादित, शब्द की पौद्गलिकता, तथा स्पर्शादि गुण, और तीव्रगति, तथा परमाणु और स्कन्ध की शक्ति आदि पर कौन तार्किक विश्वास कर सकता था ? श्री दयानन्द सरस्वती आदि ने तो इसे जैनियो की गप्प ही कह दिया था, किन्तु वही आज प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधार रखने वाले व्यक्ति, सर्वज्ञता पर भी अविश्वास करे तो आश्चर्य नही।

हीरा एक खनिज (पृथ्वीकाय) पदार्थ है—पत्थर की जाति का है। पत्थर तो सर्वत्र पाये जाते है इनमे से बहुत से ठोकरो मे रुलते रहते है, बहुत से मकानो के उपयोग मे आते है, उनसे

*हिमालय का उदाहरण केवल समझने के लिए एकदेशीय ही समझा जाय।

भी मूल्यवान् पत्थर संगमरमर आदि के है। इस प्रकार बढते बढते हीरा अधिक मूल्यवान् होता है। हीरो मे भी सभी समान नही होते। सभी हीरो मे अभी 'कोहेनूर' अकेला सर्वोत्तम माना गया है। आगे चलकर कभी इससे भी अधिक मूल्यवान् हीरा प्रकाश मे आ सकता है। इसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और कोई ऐसा पूर्ण ज्ञानी भी होता है जो सभी ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता हो अर्थात् ज्ञान की चरम सीमापर पहुँच कर सर्वज्ञ होगया हो। यदि ऐसा सर्वज्ञ पुरुष आज यहा नही है, तो यह नही मान लेना चाहिए कि पहले कभी था ही नही और भविष्य में भी नहीं हो सकेगा।

राग द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष देखी जाती है। कई इतने अधिक क्रोधी होते है, जो बात की बात में आगबबूला हो जाते है और मनुष्य को मौत के घाट उतार देते है, या स्वय आत्म हत्या कर लेते है, तो कई ऐसे भी सहनशील होते है कि उत्तेजित होने के प्रबल प्रसग उपस्थित होने पर भी उत्तेजित नही होते। इस प्रकार राग द्वेष की तरतमता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। तरतमता मे उग्रतमता है और मन्दतमता भी है, और मदतमता है, तो कही न कही अभाव भी है। जिस महान् आत्मा मे राग—द्वेष की कालिमा का सर्वथा अभाव होता है, वही पूर्ण वीतराग होते हैं। जिस प्रकार राग द्वेष की तरतमता होती है, उसी प्रकार ज्ञान की भी तरतमता होती है और जिस प्रकार राग द्वेप का सर्वथा अभाव होकर परम वीतराग हो सकते है, उसी प्रकार ज्ञानावरण के सर्वथा अभाव से कोई महान् आत्मा, परम ज्ञानी—सर्वज्ञ भी हो सकता है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ हमारे भरत क्षेत्र में सदाकाल नहीं होती, किंतु कभी कही अवश्य होती है। यदि हमारे जमाने में—हमारे इस क्षेत्र में नहीं है, इससे कभी कही हो ही नही सकती—इस प्रकार की मान्यता बना लेना एक भूल ही है। ऐसी अलौकिक आत्माएँ असंख्य काल तक नही भी होती है।

साधारणतया लोगो की स्मरण शक्ति ऐसी नही होती जो अनेक बातो की स्मृति यथातथ्य रख सके, किन्तु अवधान करने वाले अवधानी, एक साथ एक सौ अटपटे विपयो को स्मृति मे रख सकते है और यथातथ्य रूप से बता सकते है। ऐसे कई प्रयोग जनता के समक्ष हुए है। सहस्रावधान करने वाला व्यक्ति भी देखने में आया है, तब लक्षावधानी और कभी कोई सर्वावधानी—सर्वज्ञ भी हो सके, तो असभव जैसी बात क्या है ?

जबतक कोलम्बस ने अमेरिका की खोज नही की, तबतक प्रत्यक्ष दर्शियो के लिए पृथ्वी पर अमेरिका का अस्तित्व ही नही था। उनका ससार इतना विस्तृत नही था, किन्तु कोलम्बस ने अमेरिका की खोज करके भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि की। अभी भी यह ज्ञान अधूरा ही है। मई ५८ मे ही सोवियत रूस के एक अन्वेषक दल ने आस्ट्रेलिया और दक्षिण ध्रुव के मध्य एक छोटे से बेट का पता लगाया है। मई ५८ के पूर्व इसका ज्ञान किसी को नही था।

एक ओर अनपढ आदिवासी—जिसने अपना प्रान्त ही पूरा नहीं देखा—बहुत कम क्षेत्र को जानता

है, तब दूसरी ओर अनेक पर्यटक—जो सभी राष्ट्रो में घूम चुके है, इनमे क्षेत्रीय ज्ञान की कितनी तरतमता है ? और रूसी अन्वेषक दल तो वर्त्तमान के सभी क्षेत्रज्ञो से आगे बढ गया है। इतना होते हुए भी यह तो नही कहा जा सकता कि पृथ्वी की खोज पूरी हो चुकी है, और आगे पृथ्वी है ही नही। आगे चलकर नई खोज करने वाले भी होगे और नई नई खोजे भी होगी। मनुष्य की इस प्रकार की खोजो का अन्त आना असभव है, क्योकि उसके पास वैसे भौतिक साधन तथा अनुकूलता नही है, किन्तु जिस प्रकार क्षेत्रीय ज्ञान मे अभिवृद्धि होती जाती है और एक एक से बढकर ज्ञाता होता है, तो कभी कोई पूर्ण द्रव्यज्ञ, क्षेत्रज्ञ, कालज्ञ, भावज्ञ हो तो असभव जैसी क्या बात है ?

ऊपर दी हुई कुछ युक्तियाँ श्रद्धालु जनो की सैद्धातिक श्रद्धा को सुरक्षित रखने में सहायक हो सकेगी—ऐसी आशा है।

तीर्थङ्कर भगवान् की महानता

तीर्थंकर भगवान् के गुणो की महानता का वर्णन औपपातिक, भगवती, रायपसेणी, कल्पसूत्र आदि के मूल मे इस प्रकार किया गया है।

तीर्थंकर भगवत के गुणनिष्पन्न विशेषण इस प्रकार है।

अरिहंत—जिसमे मोहनीय की प्रमुखता है—ऐसे चार घातिकर्म रूप शत्रु को नष्ट करने वाले अरिहत अथवा जिनसे कोई रहस्य गुप्त नही रह सका ऐसे अरहत, अथवा जो देवेन्द्रो के लिए भी पूज्य है—ऐसे अर्हन्त भगवान् को नमस्कार है।

भगवंत—समस्त ऐश्वर्यादि युक्त, पूर्ण ज्ञान, यश, धर्म आदि और अतिशयादि ऐश्वर्य युक्त।

आदिकर—श्रुत तथा चारित्र धर्म की आदि—प्रारभ करने वाले। यद्यपि धर्म अनादि काल से है, फिर भी काल प्रभाव से मनुष्यो की व्यापक परिणति के अनुसार पाच महाव्रत अथवा चारयाम रूप चारित्र धर्म और स्वत के आत्मागम से प्रतिपादित श्रुत वाग्धारा से श्रुत धर्म के उत्पादक। यद्यपि समस्त तीर्थंकरो की प्ररूपणा समान रूप से होती है, फिर भी धर्मकथानुयोग मे परिवर्त्तन होता रहता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् अपनी वाणी द्वारा धर्म का प्रवर्त्तन करते है और सघ स्थापना करते है। अतएव वे धर्म के आदि कर्त्ता कहलाते है।

तीथकर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का यो चतुर्विध सघ रूप तीर्थ, अथवा तिरने का साधन ऐसे प्रवचन के करने वाले।

स्वयं संबुद्ध—बिना किसी के उपदेश से स्वय अपने आप ही—जन्म के पूर्व से ही, हेय, ज्ञेय और उपादेय को जानने वाले और अपने आप समझकर प्रवृत्ति करने वाले।

पुरुषोत्तम—ससार के सभी पुरुषो में उत्तम। रूप, बल, बुद्धि, अतिशय एव महत्वतादि गुणो मे

मभी पुरुषो से उच्चतम स्थिति वाले पुरुषोत्तम ।

पुरुषसिंह—जिम प्रकार सभी पशुओ में मिह, शौर्यादि गुण मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भगवान् तीर्थंकर भी शौर्य आदि गुणो में मभी पुरुषो मे श्रेष्ठ हैं।

पुरुषवरपुंडरीक—पुष्पो की जातियो में सहस्र पखुडियो वाला पुडरीक कमल, श्वेत वर्ण एव उत्तम गध से शोभायमान होता हैं। वह पानी और कीचड से अलिप्त एव शुद्ध—निर्मल रहता है, उसी प्रकार भगवान्, कामरूप कीचड और भोगरूप पानी से अलिप्त रहकर उत्तम रूप तथा यश से शोभायमान होते है।

पुरुषवर गंधहस्ति—गध हस्ति के शरीर मे ऐसी सुगन्ध निकलती है कि जिससे अन्य हाथी भाग जाते है। वह शत्रु सेना में भी भगदड मचा देने वाला होता है। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् भी होते हैं। उनके अतिशय के प्रभाव से, रोग, शोक, दु ख, दुर्भिक्ष, ईति, भीति आदि अशुभ परिणाम नष्ट हो जाते है। पाखण्डियो के समूह दूर भागते रहते हैं।

लोकोत्तम—समस्त लोक के मभी प्राणियो—नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से भी उत्तमोत्तम।

लोकनाथ—भगवान् लोकनाथ हैं। लोक में सज्ञी भव्य जीव भी मिथ्यात्व एव अविरति के कारण दु खी है—अनाथ है। उनको आनन्द प्रदायक कोई नही मिला, किन्तु जिनेश्वर भगवत, सज्ञी भव्य प्राणियो को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र की प्राप्ति करवाते है और प्राप्ति किए हुए को पालन कराकर क्षेम—आनन्द की प्राप्ति करवाते है। इस प्रकार अनाथ जीवो को सनाथ वनाने के कारण भग-वान् लोकनाथ हैं।

लोक के हितकर्त्ता—भगवान् लोक के हितकर्त्ता हैं। उपदेश द्वारा हितकारी मार्ग वताकर और हित साधना में सहायक होने से भगवान् विश्व हितकर हैं।

लोकप्रदीप—जिस प्रकार दीपक घर में रहे हुए अन्धकार को दूर करके प्रकाश करता है, उसी प्रकार भगवान्, मनुष्य, तिर्यच और देव रूप विशिष्ठ लोक के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करके ज्ञान का प्रकाश करने वाले दीपक के समान हैं।

लोकप्रद्योतकर—समस्त लोकालोक के स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण भगवान् सूर्य के समान उद्योत करने वाले हैं। जीव अजीव मय लोक और अलोक के तत्त्व तथा भेदानुभेद के रहस्य को अपने केवलज्ञान केवदर्शन से जान देखकर प्रवचन द्वारा प्रकाशित करने के कारण भगवान् लोक प्रद्योतकर कहलाते है।

अभय दाता—समस्त प्राणियो के भय को दूर करने वाली दया के पालक एव प्रवर्त्तक तथा क्रूर प्राणियो को भी अभय देने वाले। जगत् के अन्य देव तो भयका प्रवर्त्तन करने वाले भी है, और दुष्टो के लिए भय प्रद भी होते है, किन्तु जिनेश्वर भगवत तो समस्त प्राणियो को अभय दान देने वाले है। अरिहन्त भगवान् के समान अभय—अहिंसा का प्रवर्त्तन करने वाला दूसरा कोई भी देव, ससार मे नही है। निर्भयता का दान करने वाले जिनेश्वर भगवत अद्वितीय एव सर्वोपरि हैं। वे भयभ्रान्त जीवो को अभयकर बनने का मार्ग बना कर निर्भयता का दान करते हैं।

चक्षु दाता—श्रुतज्ञान रूपी चक्षु के देने वाले। जिस ज्ञान नेत्र से हेय, ज्ञेय और उपादेय का बोध होना है, ऐसी विवेक दृष्टि को प्रदान करने वाले।

जैसे किसी धनाढ्य पथिक को डाकु लोगो ने लूट लिया हो, उसकी आँखो पर पट्टी बाँधकर भयानक अटवी मे धकेल दिया हो, और वह अन्धे की तरह इधर उधर भटक रहा हो, उस समय कोई पुरुष, उसकी आँखो की पट्टी खोलकर उसे मार्ग बतादे तथा इच्छित स्थान पर पहुँचने मे सहायक बन जाय, वह उपकारी माना जाता है। उसी प्रकार ससार रूपी भयानक अटवी मे रागादि शत्रुओ के द्वारा लुटे हुए और दुष्ट वासनाओ से जिनके ज्ञान रूपी नेत्र बद हो गए है, ऐसे अज्ञानी जीवो के अज्ञान रूप पाटे को हटाकर सम्यगज्ञान रूपी चक्षु का दान करके मोक्ष रूपी इच्छित स्थान का मार्ग बताने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी हैं।

आँखो पर मोतिया आजाने से जिसे दिखाई नही देता, ऐसे अन्ध समान व्यक्ति का मोतिया उतारने वाला डाक्टर, नेत्रदान करने वाला—उपकारी माना जाता है, उसी प्रकार जिनके ज्ञान नेत्र बद हो गए है और जो अन्धे की तरह कुमार्ग मे भटक रहे है, उनका अज्ञानरूपी पटल—मोतिया हटाकर एव ज्ञान नेत्र को खोलकर सुखप्रद मार्ग पर लगाने वाले तीर्थंकर भगवान् परम उपकारी है। आँखो का मोतिया तो एक भव को ही द्रव्य दृष्टि से बिगाडता है, किन्तु अज्ञान का मोतिया तो अनेक भवो को बिगाडकर दु ख की परम्परा खडी कर देता है और जिनेश्वर भगवत का चक्षुदान शाश्वत सुखो की प्राप्ति में सहायक होता है।

मार्गदाता—ससार अटवी मे भूले भटके और विषय कषायादि चोरो द्वारा लूटे गये भव्य प्राणियो को मोक्षरूपी शाश्वत सुख का स्थान—निज घर का मार्ग बताने वाले। मोक्ष मार्ग पर लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मार्ग का दान करने वाले।

शरणदाता—अनेक प्रकार के उपद्रव से भरे हुए ससार में से भव्य प्राणियो को उपद्रव रहित ऐसे निर्वाण स्थान को प्राप्त करने मे ज्ञानादि सहायक—रक्षक प्रदान करने वाले।

जीवनदाता-सयमरूप जीवन प्रदान करके मोक्ष नगर में पहुचाने और सादि अनन्त जीवन-जन्म मरण से रहित दशा को प्राप्त कराने वाले।

बोधिदाता-हितोपदेश के द्वारा वस्तु स्वरूप समझाकर सम्यक्त्व, रत्न प्रदान करने वाले।

धर्मदाता-चारित्र रूपी धर्म का दान करने वाले।

धर्मदेशक-श्रुत और चारित्र धर्म को दिखाने वाले। धर्म का उपदेश करने वाले।

धर्मनायक-धर्म-सघ एव तीर्थ के नायक

धर्मसारथि-धर्म रूप रथ के चालक-रक्षक। जिस प्रकार सारथि, रथ, रथमे बैठने वाले और रथ को खींचने वाले घोडो का रक्षण करता है, उसी प्रकार भगवान् चारित्र धर्म के-सयम, आत्मा और प्रवचन रूप अग को रक्षा करते हुए, धर्म रूपी रथ का प्रवर्त्तन करते है, अतएव धर्मसारथि हैं।

धर्मवरचातुरंत चक्रवर्ती-जिस प्रकार तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमाचल पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी, चातुरन्त चक्रवर्ती-राजाओ का भी स्वामी कहलाता है, उसी प्रकार भगवान् भी अन्य सभी धर्म प्रवर्त्तको में अतिशयवत है, इसलिए वे धर्मवर = चातुरत = चक्रवर्ती है। अथवा चारगति रूप ससार का अत करने वाले-भाव-आभ्यन्तर शत्रुओ को नष्ट करने वाले, ऐसे धर्मरूपी चक्र का प्रवर्त्तन करने वाले।

द्वीप-त्राण सरण गतिप्रतिष्ठा रूप-भगवान् ससार समुद्र मे डूबते हुए जीवो के लिए द्वीप के समान आधार भूत, तारक, शरणप्रद, उत्तमगति और प्रतिष्ठा रूप है।

अप्रतिहत वरज्ञानदर्शन धर-किसी प्रकार की दीवाल आदि की ओट से नहीं रुकने वाला अर्थात् किसी ओट में छुपी हुई वस्तु को भी प्रत्यक्ष की तरह देखने वाला, विसवाद रहित, तथा ज्ञानावरण रूप मल को नष्ट कर क्षायक ऐसे प्रधान ज्ञान दर्शन के धारक। जिनेश्वर भगवन, किसी भी प्रकार की बाधा से नही रुक सके-ऐसे उत्तमोत्तम ज्ञान दर्शन के धारक होते हैं।

व्यावृत्त छद्म-जिनकी छद्मस्थता बीत चुकी-ज्ञानका आवरण नष्ट हो चुका और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो चुके, ऐसे तीर्थंकर भगवान् व्यावृत्त छद्मा है।

जिन-रागद्वेष रूप शत्रुओ को जीत लिया है, जिन्होंने।

जापक-दूसरो को जिन बनाने वाले।

तिरक-ससार समुद्र से तिर गये।

तारक-भव्य जीवो को ससार समुद्र से तिराकर पार पहुँचाने वाले।

बुद्ध-जीवादि तत्त्वो को जानने वाले।

बोधक—भव्य जीवो को तत्त्वज्ञान का बोध देने वाले।

मुक्त—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त अथवा ससार का मूल ऐसे मोहनीयादि घातिकर्म से मुक्त।

मोचक—भव्य जीवो को बन्धन मुक्त करने वाले।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी—समस्त पदार्थों को विशेष रूप से = समस्त भेदोपभेद से = द्रव्य की त्रिकाल वर्ती समस्त पर्यायो को विस्तार पूर्वक जानने के कारण भगवान् सर्वज्ञ है, और सामान्य रूप से जानने के कारण सर्वदर्शी है।

मोक्ष प्राप्त करने वाले—वे तीर्थंकर भगवान्, उस सिद्धिस्थान को प्राप्त करने वाले है, कि जो सभी प्रकार के उपद्रवो से रहित, अचल—स्थिर, रोग रहित, अनन्त—जिसका कभी अन्त नही हो—जो कभी भी नही छोडना पडे, अक्षय—जो कभी नष्ट नही हो सके, अव्याबाध—जहा किसी भी प्रकार की बाधा—अडचन—पीडा नही है, अपुनरावृत्ति—जहा से फिर कभी नही लौटना पडे, ऐसी सिद्धिगति को प्राप्त करने वाले जिनेश्वर भगवान् है। वे जीत भय है, उन्होने समस्त भयो को जीत लिया है।

यह जिनेश्वर भगवत का गुण वर्णन है। इसे शक्रस्तव भी कहते है, किंतु आजकल "नमुत्थुण" के नाम से प्रचलित है। इस मूलपाठ से देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने भगवान् की स्तुति की और करते है। ऐसे जिनेश्वर भगवान् ही जिन धर्म के उद्गम स्थान है।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश

भगवान् महावीर प्रभु की धर्म देशना का कुछ स्वरूप 'उववाई' सूत्र मे दिया है, जो इस प्रकार है।

"भव्यो! षट् द्रव्यात्मक लोक का अस्तित्व है और आकासात्मक अलोक का भी अस्तित्व है। जीव है, अजीव है, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, वेदना और निर्जरा भी है। अरिहत, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव होते है। नरक और नैरियक भी है, तिर्यंच जीव है। ऋषि, देवलोक, देवता और इन सब से ऊपर सिद्धस्थान तथा उस मे सिद्ध भगवान् भी है। मुक्ति है। अठारह प्रकार के पाप स्थान है और इन पाप स्थानो से निवृत्ति रूप धर्म भी है। अच्छे आचरणो का फल अच्छा—सुखदायक होता है और बुरे आचरणो का फल बुरा—दुखदायक होता है। जीव पुण्य और पाप के परिणाम स्वरूप बन्ध दशा को प्राप्त होता हुआ ससार में परिभ्रमण करता है। पाप और पुण्य, अपनी प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल देते है। इस प्रकार अस्तित्त्व भाव और नास्तित्व भाव का प्रतिपादन किया"।

भगवान् ने फरमाया कि—"यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है। यह उत्तमोत्तम, शुद्ध, परिपूर्ण और

न्याय नम्पन्न है। माया निदान और मिथ्या दर्शन रूप त्रिशल्य को दूर करने वाला है। मिद्धि, मुक्ति, और निर्वाण का मार्ग है। निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य अर्थ का प्रकाशक-पूर्वापर अविरुद्ध है और समम्त दु खो को नाश करने का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले मनुष्य समम्त दु खो का नाश करके मिद्ध, वृद्ध और मुक्त हो जाते है"।

"जो महान् आरभ करते हे, अत्यन्त लोभी (परिग्रही) होते है पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा करते हैं और माम भक्षण करते हैं, वे नरक गति को प्राप्त होते है"।

"मायाचारिता-कपटाई करने से, दाभिकता पूर्वक दूमरो को ठगने से, झूठ वोलने मे और कम देने तथा अधिक लेने के लिए खोटा तोल नाप करने से,तिर्यच आयु का वन्ध होता है।"

'प्रकृति की भद्रता, विनयशीलता, जीवो की अनुकम्पा करने मे तथा मत्सरता=अदेखाई नही करने मे मनुष्य आयु का वन्ध होता है"।

"मराग मयम मे, श्रावक के व्रतो का पालन करने से अकाम निर्जरा मे और अज्ञान तप करने मे देवगति के आयुष्य का वन्ध होता है"।

"नरक मे जाने वाले महान् दुखी होते हैं। तिर्यच में शारीरिक और मानमिक दु ख वहुत उठाना पड़ता है। मनुष्य गति भी रोग, शोक आदि दु खो से युक्त है। देवलोक मे देवता सुख का उपभोग करते है। जीव, नाना प्रकार के कर्मो से वन्धन को प्राप्त होता है और धर्म के आचरण (मवर निर्जरा) मे मोक्ष प्राप्त करता है। राग द्वेष में पडा हुआ जीव,महान् दु खो से भरे हुए समार मागर मे गोते लगाता ही रहता है-डूवता उतराता रहता है, किन्तु जो राग द्वेप का अत करके वीतरागी होते है, वे ममम्त कर्मो को नष्ट करके शाश्वत सुखो को प्राप्त कर लेते है"।

इस प्रकार परम तारक भगवान् महावीर प्रभु ने श्रुत धर्म = शुद्ध श्रद्धाका उपदेश किया, इसके वाद चारित्र धर्म का उपदेश करते हुए फरमाया कि-

"चारित्र धर्म दो प्रकार का है १-पाच अणुव्रत,तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत,इस प्रकार वारह व्रत तथा अतिम सलेपणा रूप अगार धर्म है और २-पाच महाव्रत तथा रात्रि भोजन त्याग रूप-अणगार धर्म है। जो अणगार और श्रावक अपने धर्म का पालन करते है, वे आराधक होते है"। (उववाई सूत्र)

"मभी जीवो को अपना जीवन प्रिय है। वे वहुत काल तक जीना चाहते है। सभी जीवो को सुख प्रिय है और दु ख तथा मृत्यु अप्रिय है। कोई मरना अथवा दुखी होना नही चाहते हैं"। (इमलिए हिंसा नही करनी चाहिए) (आचाराग १-२-३)

"भूतकाल मे जितने भी अरिहत भगवत हुए है और जो वर्त्तमान मे है, तथा भविष्य मे होगे, उन मव का यही उपदेश है, यही कहते है, यही प्रचार करते है कि छोटे वडे सभी जीवो को मत मारो, उन्हे अपनी अधीनता (आज्ञा) मे मत रखो, उन्हे वन्धन मे मत रखो, उन्हें क्लेशित मत करो, और

उन्हे त्रास मत दो। यह धर्म शुद्ध है, शाश्वत है, नित्य है—ऐसा जीवो के दु खो को जानने वाले भगवतो ने कहा है। इसपर श्रद्धा करके आचरण करना चाहिए। (आचारांग १--४--१)

"जीव अपनी पापी वृत्ति से उपार्जन किये हुए अशुभ कर्मों के कारण कभी नरक में चला जाता है, तो कभी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय होकर महान् दु खो का अनुभव करता है। शुभ कर्म के उदय से कभी वह देव भी हो जाता है"।

"अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से कभी वह उच्च कुलीन क्षत्रीय होजाता है, तो कभी नीच कुल मे चाण्डाल आदि होजाता है।"

"कर्म बन्ध के कारण जीव अत्यन्त वेदना वाली नरकादि मनुष्येतर योनियो में जाकर अनेक प्रकार के दु ख भोगता है और जब पाप कर्मों से हल्का होता है, तो मनुष्य भव प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य भव महान् दुर्लभ है"।

"यदि मनुष्य जन्म भी मिलगया, तो धर्म श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और पुण्य योग से कभी धर्म सुनने का सुयोग मिलगया, तो सद्धर्म पर श्रद्धा होना महान् दुर्लभ है। बहुत से लोग तो धर्म सुनकर और प्राप्त करके फिर पतित हो जाते है"।

"धर्म श्रवण कर के प्राप्त भी करलिया, तो उसमे पुरुषार्थ करके प्रगति साधना महान् कठिन है। धर्म वही ठहरता है, जिसका हृदय सरल हो"।

"हे भव्य जीवो ! मनुष्य जन्म, धर्म श्रवण, धर्म श्रद्धा और धर्म में पुरुषार्थ, इन चार अगो के लिए बाधक होने वाले पाप कर्मों को व इनके दुराचारादि कारणो को दूर करो और ज्ञानादि धर्म की वृद्धि करो। इसीसे उन्नत हो सकोगे"। (उत्तराध्ययन ३)

"टूटा हुआ जीवन फिर नही जुडता, इसलिए सावधान हो जाओ, आलस्य और आसक्ति को छोडो। समझलो कि जब वृद्धावस्था आयगी और शरीर मे शिथिलता तथा रोगो का आतक होगा तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा ? जब मौत आयगी तब सब धन = अनेक प्रकार के पाप से सग्रह किया हुआ धन, यही धरा रह जायगा और आप पाप का फल भुगतने के लिए नरक में जाकर दुखी होगा। जीव अपने दुष्कर्मों से उसी प्रकार नरक मे जाता है जिस प्रकार सेध लगाता हुआ चोर पकडा जाकर जेलखाने मे जाकर दु ख पाता है, क्योकि किये हुए कर्मों का फल भुगते बिना छुटकारा नही होता। जिन बन्धु-जनो अथवा पुत्रादि के लिए पाप किये जाते है, वे फल भोग के समय दु ख में हिस्सा नही लेते। जो यह सोचते है कि 'अभी क्या है बाद में पिछली अवस्था में धर्म करलेगें', वे मृत्यु के समय पछतावेगे, इसलिए प्रमाद को छोडकर धर्म का आचरण करो"। (उत्तरा० ४)

"यह निश्चित है कि धन सपत्ति और कुटुम्ब को छोडकर परलोक जाना पडेगा, तो फिर इस कुटुम्ब और वैभव मे क्यो आसक्त हो रहे हो ? यह जीवन और रूप बिजली के चमत्कार की

"केवलज्ञानी भगवंत के जानने के लिए किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वयं विना किसी बाह्य हेतु के ही जानते देखते हैं"। (भगवती ५-७)

गांगेय अनगार भगवान् की परीक्षा करने के लिए आये थे। जब उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् केवलज्ञानी हैं, तो भी उन्होंने भगवान् से पूछा कि-

"ये सब बातें आप कैसे जानते हैं? आपने कहीं सुनी हैं-सुनकर जानते हैं, या विना सुने ही जानते हैं"? तब भगवान् फरमाते हैं कि-

"हे गांगेय! मैं स्वयं जानता हूं, किन्तु दूसरे की सहायता से नहीं जानता। मैं विना सुने ही यह सब जानता हूं-सुनकर नहीं"।

तब गांगेय अनगार ने पूछा-

"आप स्वयं, विना सुने कैसे जानते देखते हैं"?

"-गांगेय! केवलज्ञानी अरिहंत समस्त लोक की परिमित और अपरिमित ऐसी सभी ज्ञेय बातें जानते देखते हैं"।

तब उन्हें संतोष हुआ और उन्होंने शिष्यत्व स्वीकार किया। (भगवती ९-३२)

"केवलज्ञानी, अधोलोक में सातों नरक पृथ्वियों को उर्ध्व लोक में सिद्धशिला तक और समस्त लोक में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं"। और इसी तरह सम्पूर्ण अलोक को भी जानते देखते हैं। (भगवती १४-१०)

केवलज्ञान और केवलदर्शन,आत्मा की वस्तु है। प्रत्येक आत्मा को उसे प्राप्त करने का अधिकार है। किसी अमुक अथवा विशिष्ठ व्यक्ति का ही इस पर एकाधिकार नहीं है। जो आत्मा सम्यग् पुरुषार्थ द्वारा आवरणों को हटाती जाती है, वह अंत में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है।

यद्यपि सर्वज्ञता, आत्मा की ही वस्तु है तथापि प्राप्ति सर्वसुलभ नहीं है। इसकी प्राप्ति मनुष्येतर प्राणियों को तो हो ही नहीं सकती, और मनुष्यों में भी सब को नहीं हो सकती, किन्तु किसी समय किसी महान् आत्मा को ही होती है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत पर चढ़ना सब के लिए शक्य नहीं है। संसार के अधिकांश मनुष्य तो हिमालय को जानते ही नहीं और जानने वालों में से अधिकांश मनुष्यों ने तो हिमालय पर चढ़ने का विचार ही नहीं किया। जिन्होंने विचार किया, उनमें से प्रयत्न करने वाले बहुत ही थोड़े निकले। उस प्रयत्न करने वालों में से कई मर मिटे और कई असफल होकर वापिस लौट आये। श्री तेनसिंग नेपाली और मि० हिलैरी न्यूजीलैंड निवासी ही सफल हुए। श्री तेनसिंग के अनुभव का सहारा लेकर अन्य व्यक्ति भी प्रयत्न कर रहे हैं। कैवल्य-प्राप्ति के विषय में भी लगभग ऐसी ही बात है। संसार के अधिकांश लोगों को तो इसका बोध ही नहीं है। जिन्हें बोध है, तो प्रयत्न

विशेषताएँ–अतिशय चौतीस है, जो इस प्रकार है।

१ तीर्थंकर भगवान् के मस्तक और दाढी मूछ के बाल नही बढते। उनके रोम नख और केश सदा अवस्थित रहते है।

२ उनका शरीर नीरोग औरनिर्मल (स्वच्छ) रहता है।

३ उनके शरीर का रक्त और मास गाय के दूध की तरह श्वेत होता है।

४ उनके श्वासोच्छ्वास में पद्म एव नील कमल की अथवा पद्मक तथा उत्पल कुष्ट गन्ध द्रव्य जैसी सुगन्ध होती है।

५ उनका आहार और नीहार प्रच्छन्न होता है, वह चर्म चक्षुओ से दिखाई नही देता।

६ भगवान् के आगे आकाश मे धर्मचक्र रहता है।

७ भगवान् के ऊपर–आकाश मे तीन छत्र रहते है।

८ जिनेश्वर के दोनो ओर अत्यन्त उज्ज्वल ऐसे श्वेत चामर वीजते है।

९ भगवान् के बैठने के लिए, आकाश के समान परम उज्ज्वल स्फटिक रत्नमय, पादपीठ युक्त उत्तम सिंहासन होता है।

१० जिनेश्वर के आगे एक बहुत ऊँचा इन्द्र ध्वज होता है, जो हजारो छोटी छोटी पताकाओ से परिमण्डित होता है।

११ तीर्थंकर भगवान् जहाँ ठहरते या बैठते है, वहाँ उसी समय देव अथवा यक्ष, पत्र, पुष्प और फलो से युक्त तथा छत्र, ध्वज, घटा तथा पताका से युक्त एक अशोक वृक्ष प्रकट करते है।

१२ भगवान् के पीछे मस्तक के पास एक तेजमण्डल –प्रभामण्डल रहता है, जिससे अन्धकार का नाश होकर दसो दिशाएँ प्रकाशित होती है।

१३ भगवान् जहा विचरते है वहा की भूमि ऊबड खाबड नही रहकर बहुत ही समतल हो जाती है।

१४ मार्ग के काटे अधोमुख हो जाते है।

१५ भगवान् के विहार क्षेत्र में ऋतु अनुकूल रहती है।

१६ तीर्थंकर भगवान् के गमन क्षेत्र अथवा स्थिति क्षेत्र मे शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त–चारो ओर की भूमि शुद्ध हो जाती है।

१७ तुषारबिन्दुरूप मेघ वृष्टि होकर * रज और रेणु दब जाती है।

१८ देवो द्वारा घुटने तक ऊँचे, ऐसे पांच वर्ण के सुगन्धित अचित्त पुष्पो के ढेर होते है। उन पुष्पो के डठल नीचे ही रहते है।

---

* आकाशवर्ती रज कही जाती है और भूमिवर्ती रेणु कही जाती है।

१९ भगवान् के विहार स्थल मे अमनोज्ञ, शब्द, रस,गन्ध, रूप और स्पर्श नही रहते—दूर हो जाते है।

२० मनोज्ञ एव उत्तम, शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श प्रकट होते है।

२१ देशना देते समय भगवान् का स्वर अतिशय हृदय स्पर्शी होता हुआ, एक योजन तक सुनाई देता है।

२२ भगवान् अर्ध मागधी भाषा मे धर्मोपदेश देते है।

२३ भगवान् के श्रीमुख से निकली हुई अर्धमागधी भाषा मे धर्म देशना का यह प्रभाव होता है कि उसे आर्य और अनार्य सभी प्रकार के और विविध भाषाओ वाले मनुष्य तथा पशु पक्षी, और सरीसृप आदि तिर्यंच, अपनी अपनी भाषा मे समझ लेते है। वह जिनवाणी उन्हे हितकर, सुखकर एव कल्याणकर प्रतीत होती है।

२४ जिनके पहले से ही एक दूसरे के (व्यक्तिगत अथवा जातिगत) आपस में वैर बँधा हुआ है, ऐसे देव, असुर, नाग, सुवर्णकुमार, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुल, गवर्व, महोरगादि, (तथा मनुष्य और तिर्यंच भी) अरिहत भगवान् के श्री चरणो में आते ही वैर को भूलकर प्रशान्त चित्तवाले होकर धर्मोपदेश सुनते है।

२५ जिनेश्वर के समीप आये हुए अन्य तीर्थी—प्रवर्तक भी भगवान् की वदना करते हुए नमस्कार करते है।

२६ यदि वे वाद करने को आये हो, तो भी निरुत्तर हो जाते है।

भगवान् के विहार क्षेत्र के आस पास चारो ओर पच्चीस पच्चीस योजन (सौ सौ कोस) के भीतर निम्न लिखित उपद्रव नही होते।

२७ ईति—चूहे आदि जीवो से धान्यादि को क्षति नही होती।

२८ मारी—प्लेग आदि जनसहारक रोग नही होते।

२९ स्वचक्र भय—राज की ओर से किसी प्रकार का भय—अत्याचार नही होता।

३० परचक्र भय—अन्य राज्य द्वारा आक्रमणादि भय नही होता।

३१ अतिवर्षा का उपद्रव नही होता।

३२ अनावृष्टि नही होती।

३३ दुर्भिक्ष—दुष्काल नही पडता।

३४ यदि पहले से किसी प्रकार का उपद्रव हो रहा हो, तो जिनेश्वर के पधारने पर अपने आप तुरन्त शान्त हो जाता है। (समवायाग ३४)

उपरोक्त चौतीस भेद में से तीर्थंकरो के जन्म से, दूसरा, तीसरा, चौथा और पाचवा ऐसे चार

अतिशय होते है। बारहवाँ और इक्कीस से लगाकर अत तक के कुल पन्द्रह अतिशय, घातिकर्मो के क्षय होने के बाद उत्पन्न होते है और शेष पन्द्रह अतिशय देवकृत होते है। ×

यद्यपि अतिशय पौद्गलिक ऋद्धि विशेष है, तथापि यह उसी आत्मा को प्राप्त होती है जिसकी महान् साधना से आत्मा की निर्मलता होते होते प्रशस्त राग के कारण शुभतम कर्मों का बध होता है। हमारे बहुत से भाई, तीर्थंकर भगवान् के अतिशयो मे विश्वास नही करते, इतना ही नही वे इन्हे गलत और कपोल कल्पना रूप बतलाकर उपहास भी करते है, किन्तु यह उनकी भूल है। जो वस्तु सर्व सुलभ नही हो और सदा काल किसी क्षेत्र विशेष मे विद्यमान नही रहती हो, वह कभी और कही होही नही सकती—उसका एकात अभाव ही होता है, ऐसी बात नही है। इस प्रकार के अतिशयो की आशिक झाकी तो इस हायमान समय मे भी कभी कही मिल सकती है। योग विद्या से भी कई प्रकार के क्षणिक चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं, तब उत्कृष्टतम साधना से जिन महान् आत्मा के कार्मण शरीर

× प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रंथों में भी चौंतीस अतिशयों का वर्णन है, किंतु उनमें और समवायाग सूत्र के उपरोक्त अतिशयों में कुछ भेद है। प्रवचनसारोद्धारादि मे निम्न लिखित सात अतिशय ऐसे हैं, जो सूत्र में नहीं है,—

१ एक योजन प्रमाण क्षेत्र में करोड़ों देव और मनुष्य तिर्यंचो का आराम के साथ बैठ जाना।
२ तीन मूर्तियों सहित भगवान् का चतुर्मुख दिखाई देना।
३ समवसरण का. रत्नादि से तीन कोट के रूप में निर्माण होना।
४ मक्खन के समान कोमल ऐसे स्वर्णमय कमल पुष्पों का पृथ्वी पर हो जाना, जिनपर तीर्थंकर भगवान् पॉव रखते हुए चलते हैं।
५ रास्ते मे चलते हुए पक्षिगण प्रदक्षिणा करे।
६ रास्ते मे पड़ने वाले वृक्ष झुककर प्रणाम करें।
७ देवदुंदुभी का बजना।

इन सात अतिशयों के बदले सूत्रगत निम्न चार अतिशय बिलकुल छोड़ दिए गए हैं।

१ एक योजन प्रमाण विस्तार वाली जिनेश्वरो की वाणी।
२ अर्धमागधी भाषा।
३ अन्य तीर्थी द्वारा वन्दना।
४ वादियों का निरुत्तर होजाना।

ये चार अतिशय छोड़ दिए और निम्न तीन अतिशयों को दूसरे अतिशयों में मिला दिया गया है।

१ भूमि का सम होजाना, २ दुर्गन्धादि रहित होना और ३ पर चक्र का भय उत्पन्न नही होना।

इस प्रकार संख्या बराबर होते हुए भी मूल आगम में और बाद के ग्रन्थों में कुछ भेद है।

मे उत्कृष्ट प्रकार की वर्गणाएँ लगी हुई है। उनमे अतिशयो का प्रादुर्भाव हो तो इसमे इन्कार कैसे किया जा सकता है। इस विषय को समझने मे निम्न घटना सहायक होगी।

महात्मा भगवानदीनजी से भारत का विद्वद् समाज परिचित है ही। वे स्पष्टवादी, स्वतन्त्र विचारक, तथा बुद्धिवादी है। प्रत्यक्ष के पक्षपाती है। शास्त्रीय परोक्ष विषयो पर आप विश्वास नही करते, इतना ही नही आप उनका व्यग पूर्वक खण्डन भी करते है। आपने 'मेरे साथी' नामकी पुस्तक (जो भारत जैन महामण्डल, वर्धा से प्रकाशित हुई है) मे आगमसिद्ध नरक पृथ्वियो-नरकावासो और नारकीय भीषण दुःखो का व्यग पूर्वक खडन किया है, किन्तु उसी पुस्तक में एक अतिशय पूर्ण सत्य घटना का निम्न शब्दो में उल्लेख किया है।

"कितना आकर्षण रहा होगा उस वीरचन्द राघवजी गाधी मे, जिस वक्त 'मेसॉनिक टेम्पिल में हिप्नाटिज्म पर बोलते हुए उन्होने लोगो से कहा कि कमरे की बत्तिया हल्की करदी जायें और जैसे ही हल्की हुई कि उस सफेद कपडे धारी हिन्दुस्तानी की देह मे एक आभा चमकने लगी और उसकी पगडी ऐसी मालूम होने लगी मानो उस आदमी के चेहरे के पीछे कोई सूरज निकल रहा हो और जिसे देखकर अमेरिकावासियो का कहना था कि वह उस आभा को न देख सके, उनकी आँखे बन्द होगई और थोडी देर के लिए ऐसा मालूम हुआ मानो वे सब समाधि अवस्था मे हों"।

(मेरेसाथी पृष्ठ १२५)

उपरोक्त घटना को स्वीकार करने वाला सुज्ञ, भगवान् के प्रभामण्डल वाले बारहवे अतिशय से कैसे इन्कार कर सकता है?

जो प्रकाश 'स्फटिकरत्न' और 'रेडियम' जैसे पृथ्वीकाय के अग दे सकते है और सूर्यमण्डल का पृथ्वीकायमय पिण्ड देसकता है वह पृथ्वी एव तेज तत्त्व (पचभूतात्मक) रूप माने जाने वाला कोई विशिष्ट मानव देह नही दे सकता-ऐसा कहने वाले तटस्थता पूर्वक गहरा विचार करे, तो उनकी समझ मे आसके। 'जुगनू' नामक क्षुद्र प्राणी की देह मे हलकासा प्रकाश होता हुआ हम सभी देखते है, तब विश्व की एक मात्र विभूति ऐसे जिनेश्वर भगवतो की देह की उत्कृष्ट प्रभा हो और अलौकिक प्रकाश निकले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

योग के चमत्कार को बताने वाला आज भी कोई कोई है और वे अपने योगबल से वातावरण को उत्तम सुगन्ध से सुगन्धित बना सकते है। स्वभाव से ही कई मनुष्यो की देह और पसीना दुर्गन्धमय होता है, तो कुछ व्यक्तियो का सुगन्धित भी होता है, तब तीर्थंकर भगवान् का सर्वोत्तम देह और श्वासोच्छ्वास परम सुगन्धित हो, तो असभव कैसे हो सकता है? आचार्य श्री मानतुगसूरिजी अपने आदिनाथ (भक्तामर) स्तोत्र मे भगवान् आदिनाथ की स्तुति करते हुए कहते है कि-

"यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावंत एव खलु ते प्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपर नहि रूपमस्ति" ॥१२॥

अर्थात्–हे भगवान् ! जिन परमाणुओ से आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु ससार मे उतने ही थे, यदि अधिक होते तो आप जैसा रूप किसी दूसरे का भी होता, किन्तु वास्तव में आप जैसा सर्वोत्तम रूपवान् संसार में कोई भी नही है ।

उत्तम वस्तु, किसी काले, नीले या अपारदर्शक भाजन मे रखी हुई हो, तो उसका परिचय ऊपर से देखनें वाले को सरलता से नही हो सकता, किन्तु वही उत्तम वस्तु कांच के निर्मल बरतन मे रखी हो, तो दूर मे ही अपना परिचय देती है और "शोवाक्स" की तरह उसमें रोशनी रखदी जाय, तो फिर तो वह अन्धेरे मे भी प्रकाशित होती रहती है । तीर्थकर भगवान् का शरीर, पुण्य के प्रवल उदय से उत्तमोत्तम एव देदीप्यमान परमाणुओ से बना हुआ होता है। उसमे रही हुई आत्मा भी विश्वोत्तम होती है, अतएव उसमे असाधारणता–समार के समस्त मानवो से अत्यधिक विशेषताएँ होना, सुज्ञ विचारको के बुद्धि मे जचने योग्य है ।

जिस प्रकार राष्ट्रपति अथवा राष्ट्र के प्रधान मन्त्री के अन्य स्थान पर जाने के पूर्व, उधर के रास्तो की सफाई, सजाई और अनेक प्रकार की शोभा बढाई जाती है । बडे बडे अधिकारी और नागरिक उनके स्वागत एव सेवामें उपस्थित रहते है, उसी प्रकार तीर्थकर भगवान् के विहार तथा स्थिति के क्षेत्र में देवो द्वारा अतिशय–विशेषताएँ हो, तो असभव नही है। देवो का सद्भाव मानने वाला व्यक्ति सरलता से इस वात को समझ सकता है ।

तात्पर्य यह कि तीर्थंकर भगवतो के अतिशय, वास्तविक एव बुद्धि मे उतरने योग्य है ।

सत्य वचनातिशय

देहादि की अपेक्षा चौतीस अतिशय होते है, उसी प्रकार भगवान् के वचनो के भी पेतीस अतिशय होते है, जो इस प्रकार है ।

१ सस्कारित वचन–भाषा एव व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष वचन होता है ।

२ उदात्त स्वर–उच्च प्रकार की आवाज, जो योजन प्रमाण क्षेत्र तक पहुँच सके ।

३ उपचारोपपेत–ग्राम्य दोष रहित अर्थात् तुच्छकार आदि ओछी भाषा का उपयोग न होकर उत्तम प्रकार के सम्बोधनो से युक्त होती है ।

४ गभीर शब्दता–मेघ गर्जना की तरह प्रभावोत्पादक एव अर्थ गाभीर्य युक्त वचन ।

५ अनुनादिता–वचनो की प्रतिध्वनि होना ।

६ दाक्षिणत्व–प्रभु के वचन इतने सरल एव प्रभावक होते है कि श्रोतागणो के हृदय मे शीघ्र उतर जाते है और मधुर लगते है।

७ उपनीतरागत्व–मालव केशिकादि राग से युक्त स्वर जो श्रोताश्रो को तल्लीन बनाकर बहुमान उत्पन्न करते हैं।

८ महार्थत्व–थोडे शब्दो में विशेष अर्थ युक्त वाणी।

९ पूर्वापर अवाधित–वचनो मे पूर्वापरविरोध नही होता ।

१० शिष्टत्व–अभिमत सिद्धात का कथन करना, व्यर्थ की अथवा असगत बाते नही करना एव शिष्टता सूचक वचनो का उच्चारण करना।

११ असन्दिग्धता–स्पष्टता पूर्वक उच्चारण करना कि जिससे श्रोताओ में सन्देह उत्पन्न नही हो।

१२ अदूषित–भाषा दोष करके रहित वाणी, जिसमे श्रोता को शका समाधान करने की आवश्यकता नही पडे।

१३ हृदयगाहित–श्रोता के हृदय में कठिन विषय भी सरलता से उतर जाय और वह आकर्षित होकर समझ जाय, इस प्रकार के वचन।

१४ देशकालानुरूप–उस देश और कालके अनुरूप वचन एव अर्थ कहना।

१५ तत्वानुरूपता–वस्तु स्वरूप के अनुकूल वचन।

१६ सारवचन–विवक्षित विषय का उचित विस्तार के साथ वर्णन करना, किन्तु व्यर्थ के शब्दाडम्बर अथवा अनुचित विस्तार नही करना ।

१७ अन्योन्य प्रगृहीत–पद और वाक्यो का सापेक्ष होना।

१८ अभिजातत्त्व–भूमिका के अनुसार विषय और वाणी होना।

१९ अतिस्निग्ध मधुरत्व–कोमल एव मधुरवाणी, जो श्रोता के लिए सुखप्रद और रुचिकर हो–उपराम नही हो।

२० अपरमर्मवेधित–दूसरे के छुपाये हुए रहस्य को प्रकट नही करने वाले, क्योकि इससे छुपाने वाले का मर्म प्रकट होकर उसके लिए दुःखदायक होता है।

२१ अर्थ धर्मोपेत–श्रुत चारित्र धर्म और मोक्ष अर्थ से सबधित वचन।

२२ उदारत्व–शब्द और अर्थ की विशिष्ठ रचना तथा प्रतिपाद्य विषय की महानता युक्त वचन ।

२३ पर निन्दा स्वात्म प्रशसा रहित–दूसरो की निन्दा और अपनी प्रशसा से रहित वचन ।

२४ उपगत श्लाघत्व–दूसरो को खुश करनें–खुशामद करनें के दोष से रहित।

२५ अनपनीतत्व–कारक, काल, लिंग, वचन आदि के विपर्यास रूप दोष से रहित ।
२६ उत्पादितादि विच्छिन्न कुतूहलत्व–श्रोताओ मे निरतर कुतूहल बनायें रखने वाली वाणी ।
२७ अद्भुतत्व–अश्रुतपूर्व वचन होने के कारण श्रोताओ के मनमे हर्ष रूप विस्मय बना रहना।
२८ अनतिविलम्बितत्व–धारा प्रवाह रूप से बोलना–रुक रुक कर नही बोलना ।
२९ विभ्रमविक्षेप किलिकिंचितादि विप्रयुक्तत्व–प्रतिपाद्य विषय मे वक्ता के मनमे भ्रान्ति, उपराम–अरुचि, रोष, भय आदि नही देना ।
३० विचित्रत्व–वर्णनीय विषय विविध प्रकार के होने के कारण वाणी मे विचित्रता होना ।
३१ आहित विशेषत्व–अन्य वक्ताओ की अपेक्षा वचनो मे विशेषता होना और श्रोताओ में विशेष आकर्षण होना ।
३२ साकारत्व–वर्ण, पद तथा वाक्यो का भिन्न भिन्न होना ।
३३ सत्व परिगृहीतत्व–वाणी का ओजस्वी एव प्रभावोत्पादक होना ।
३४ अपरिखेदित्व–उपदेश देते हुए खेदित नही होना ।
३५ अव्युच्छेदित्व–प्रतिपाद्य विषय को सागोपाग सिद्ध नही कर दिया जाय तब तक बिना छोडे उसका ही व्याख्यान करना ।

श्री समवायाग, औपपातिक और रायपसेणी सूत्र के मूल मे उपरोक्त पैंतीस 'सत्य–वचनातिशय' के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि–"सत्य वचन के पैंतीस अतिशय है" । वे पैंतीस अतिशय कौनसे है–इसका उल्लेख मूल पाठ में नही हैं । समवायाग आदि सूत्रो की टीका मे अन्य ग्रथो के आधार से टीकाकारने पैंतीस अतिशयो के नाम बताये है । उन्ही के आधार से उपरोक्त अतिशय दिये गये हैं । जिनेश्वर भगवतो की वाणी अनेक प्रकार के गुणो से युक्त और अतिशयवाली हो–यह स्वाभाविक ही हैं ।

निर्दोष जीवन

जिनेश्वर भगवन्तो मे किसी भी प्रकार का दोष नही होता । जब वे बालवय मे होते है, तो उनकी बाल्यावस्था भी अन्य सासारिक बालको की अपेक्षा आदर्श होती है । युवावस्था एव गृहस्था–श्रम भी अन्य गृहस्थियो की अपेक्षा उत्तम और निष्कलक होता है । छद्मस्थ और तीर्थकर जीवन भी निर्दोष रहता है । उनमे किसी भी प्रकार के दोष का सद्भाव नही रहता । फिर भी पुर्वाचार्यों ने अन्य देवो मे पाये जाने वाले निम्न लिखित अठारह दोषो से जिनेश्वर भगवतो को रहित बताया है । वे १८ दोष ये है ।

१ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ वीर्यान्तराय ४ भोगान्तराय ५ उपभोगान्तराय, ये पांच कर्मप्रकृतियाँ असमर्थता को प्रकट करने वाली हैं, ६ मिथ्यात्व ७ अज्ञान ८ अविरति ९ काम १० हास्य ११ रति १२ अरति १३ शोक १४ भय १५ जुगुप्सा १६ राग १७ द्वेष १८ निद्रा।

(उपरोक्त दोष सत्तरिसयठाण वृत्ति गा १९२—१९३ में है) दूसरी प्रकार से अठारह दोष इस प्रकार है।

१ अज्ञान २ क्रोध ३ भय ४ मान ५ लोभ ६ माया ७ रति ८ अरति ९ निद्रा १० शोक ११ अलीक वचन १२ अदत्त ग्रहण १३ मत्सरता १४ भय १५ हिंसा १६ प्रेम १७ क्रीड़ा (भोग) और १८ हास्य। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ४१)

जिनमें उपरोक्त दोष विद्यमान हो वे सुदेव नहीं हो सकते, और जिनमें ये दोष नहीं हो, वे ही सुदेव हो सकते है। श्री जिनेश्वर भगवतो में इनमें से एक भी दोष नहीं होता है। अतएव वे सुदेव है। धर्म के वास्तविक दाता वे ही है। इन की आज्ञा का आराधन करने वाला परमानन्द को प्राप्त करता है।

मूलातिशय

भगवान् के सभी अतिशयो को श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्याद्वादमजरी कारिका १ में निम्न चार मूल अतिशयो में सम्मिलित किया है।

१ अपायापगमातिशय—अठारह दोषो और समस्त विघ्न बाधाओ का नष्ट होजाना।

२ ज्ञानातिशय—ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने से अनन्तज्ञान—सर्वज्ञता की प्राप्ति।

३ पूजातिशय—देवेन्द्र एव नरेन्द्रो के लिए पूज्य, लोकनाथ, देवाधिदेव।

४ वागतिशय—सत्यवचनातिशय के ३५ गुण युक्त वाणी।

आठ महाप्रातिहार्य

उपरोक्त मूलातिशयो के अतिरिक्त नीचे लिखे आठ महा प्रातिहार्य माने हैं।

१ अशोकवृक्ष २ देव कृत पुष्पवृष्टि ३ दिव्यध्वनि ४ चँवर ५ सिंहासन ६ भामण्डल ७ देवदुन्दुभि और ८ छत्र। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ३९)

बारह गुण

उपरोक्त चार मूलातिशय और आठ महा प्रातिहार्य मिलाकर भगवान् के बारह गुण माने गये हैं। (सम्बोधसत्तरी)

"जैनतत्त्व प्रकाश" में ये बारह गुण इस प्रकार लिखे हैं,–१ अनन्तज्ञान २ अनन्तदर्शन ३ अनन्तचारित्र ४ अनन्ततप ५ अनन्तवीर्य ६ क्षायिक सम्यक्त्व ७ वज्र–ऋषभ–नाराचसंहनन ८ सम-चतुरस्र सस्थान ९ चौंतीस अतिशय १० पंतीसवाणी ११ एक हजार आठ लक्षण और १२ चौंसठ इन्द्रो के पूज्य। (जैनतत्त्वप्रकाश आवृत्ति ८ पृ० ९)

उपरोक्त गुणो मे आत्मिक गुण तो प्रथम के छ ही है, शेष पौद्गलिक है। किन्तु ये भी तीर्थ-कर भगवान् में ही पूर्ण रूप से प्रकट होते है। ये विश्वोत्तम महापुरुष ही तीर्थपति होकर धर्म की उत्पत्ति के स्थान है। इन्ही से धर्म प्रकाश मे आता है और भव्यात्माओ का उद्धार होता है।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व की महान् भयंकरता किन शब्दों में बताई जाय। इसी के कारण जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और इसी के कारण नरक निगोद के दुःखो का संचय होता है। यदि मिथ्यात्व नहीं होता तो, सम्यक्त्व के सद्भाव में जीव, कभी नरक निगोद का वन्ध कर ही नहीं सकता। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने का प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। यह प्राणी की मति ऐसी मोह लेता है कि जिससे उसे हिताहित का यथार्थ भान हो ही नही सकता। वह अपने स्वरूप को भी सही रूप में नही समझ सकता। पारमार्थिक विषयो में उसकी दृष्टि उल्टी ही होती है। उसके घोरतम दुःखों–अधमाधम अवस्था में तो उसकी दशा जड़ के समान–मुर्दे के समान होती है। इस दशामें उसे अनन्त काल रहना पड़ता है। अनादि अपर्यवसित मिथ्यात्वी को देव और मनुष्य के भौतिक सुखो में रहने को जितना समय मिलता है, उससे अनन्त गुण समय नरक तिर्यंच के महान दुःख भुगतना पड़ता है। उसके लिए अधिक समय तक टिकने का स्थान निगोद ही है। इस प्रकार दुःखमय अनन्त संसार का कारण, सित्तर कोटाकोटी सागरोपम जितनी उत्कृष्टतम स्थिति का वन्ध करानेवाला मिथ्यात्व ही आत्मा का प्रधान शत्रु है। जिसने इस महान् शत्रु को जीत लिया वह वहुत कुछ पा गया। फिर यदि उसने इस शत्रु को अपने पर अधिकार नहीं करने दिया और इसकी शक्ति नष्ट करते हुए आगे वढ़ा, तो वह अनन्त सुखो का स्वामी वन सकता है।

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है मिथ्यात्व । यही अनन्त भव भ्रमण कराने वाला है । अनादिकाल से जीव जन्म मरण के चक्कर मे पडा है—इसी के प्रताप से । यदि यह महाशत्रु हट जाय तो जीव का परम सुखी होना सरल हो जाय । भगवान फरमाते है कि—"मिथ्यात्व से ससार मजबूत होता है, जिसमें प्रजा निवास करती है । (सूय १-१२-१२) मिथ्यात्व ही के कारण ससार है । यदि ससार मे मिथ्यात्व नही रहे, तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि सभी जीव मुक्त हो जाएँ और ससार मे कोई जीव नही रहे । किन्तु ऐसा नही हो सकता । मिथ्यात्व की सत्ता सम्यक्त्व की अपेक्षा अनन्त गुणी है । सम्यक्त्वी जीव तो केवली समुद्घात के सिवाय लोक के अमुक अश में ही है, किन्तु मिथ्यात्वी तो लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश मे विद्यमान है । सम्यगदृष्टि अत्यन्त अल्प सख्यक है और रहेंगे और मिथ्यादृष्टि सदा से अत्यन्त वहुत सख्यक ही नही, अनन्त गुण अधिक रहे है और रहेगे । प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व से वचते रहना चाहिए । जिस प्रकार वहुमूल्य वस्तु-रत्नादि को कूडे, कर्कट, कर्दम एव चोरादि से वचाया जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी स्फटिक रत्न को मिथ्यात्व रूपी मल, कर्दम और चोर से वचाना चाहिए । मिथ्यात्व से सतर्क रहने के लिए उसका स्वरूप भी समझना आवश्यक हो जाता है । मिथ्यात्व के भेद निर्ग्रंथ महर्षियो ने इस प्रकार वतलाये है ।

१ धर्म को अधर्म समझना—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है । कोई कोई अनसमझ जैनी, उपरोक्त धर्म के पालन मे 'क्रिया जडता' कहकर इस मिथ्यात्व का सेवन करते है ।

२ अधर्म को धर्म समझना—जिस प्रवृत्ति से आत्मा की पराधीनता वढती है, वन्धनो मे विशेष वधती है—ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में धर्म समझना भी मिथ्यात्व है । हिंसादि कृत्यो मे धर्म मानना आदि इसी भेद में आ जाता है और सवर निर्जरा रहित लौकिक क्रिया में धर्म मानना भी इसी भेद मे है ।

३ ससार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना—मिथ्यात्व, अविरति आदि ससार मार्ग है । जिस प्रवृत्ति से जीव ससार के परिभ्रमण मे ही चक्कर काटा करता है—जन्म मरण की शृंखला कायम रखता है, वह सभी ससार मार्ग है । ऐसे मार्गों को मुक्ति का मार्ग मानना ।

४ मुक्ति के मार्ग को वधन (ससार) का मार्ग मानना—सयम, सवर और तपस्यादि से मुक्ति की साधना होती है, किन्तु इन्हे वन्धनरूप मानना अथवा तप आदि मे आत्म हिंसा मानना ।

५ अजीव को जीव मानना—जिसमें जीव नही है, उसमे जीव मानना ।

३ जीव को अजीव मानना—स्थावरकाय और समूर्च्छिम आदि को जीव नही मानना अथवा पचभूत की मान्यता रखकर जीव का अस्तित्व ही नही मानना ।

७ कुसाधु को सुसाधु मानना—जिसमें न तो दर्शन और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति से रहित है, जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं है उसे लौकिक विशेषता के कारण, अथवा साधुवेश देखकर सुसाधु मानने मे यह मिथ्यात्व लगता है।

८ सुसाधु को कुसाधु समझना—जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रतादि श्रमण धर्म का पालक है—ऐसे सुसाधु को कुसाधु समझना।

९ रागी द्वेषी को मुक्त समझना—इतर पथों के देव, राग द्वेष युक्त है और छद्मस्थ है, इसलिए वे मुक्त नहीं हुए। किन्तु अज्ञान वश उन्हे मुक्त समझना।

१० मुक्त को ससार में लिप्त समझना—भगवान महावीर प्रभु रागद्वेष से मुक्त हो चुके थे, फिर भी गोशालक मति ने आर्द्रकुमार श्रमण के सामने उन्हें अमुक्त कहा था। इसी प्रकार या प्रकारान्तर से मुक्तात्मा को ससार में लिप्त समझना मिथ्यात्व है।

उपरोक्त दस मिथ्यात्व का उल्लेख स्थानागसूत्र के १० वे स्थान में है। मिथ्यात्व के कुल २५ भेद पूर्वाचार्यों ने बतलाये है, किन्तु मूल भेद तो ये दस ही है। बाकी के भेद तो इन दस भेदो मे रहे हुए मिथ्यात्व को ही स्पष्ट करने वाले है। एक दृष्टि से देखा जाय तो उपरोक्त दस भेदो का समावेश निम्न पाँच भेदो मे हो जाता है—

(१) नौवां और दसवा भेद, देव सबधी मिथ्यात्व को बतलाता है।

(२) सातवां और आठवा भेद, गुरु सबधी मिथ्यात्व को स्पष्ट करता है।

(३) पाचवाँ और छठा भेद, तत्त्व सबधी मिथ्यात्व से सबधित है। सग्रह नयकी दृष्टि से मुख्य तत्त्व तो जीव और अजीव ही है।

(४) तीसरा और चौथा भेद, मार्ग सबधी है। यह ससार मार्ग और मोक्ष मार्ग के विषय में होती हुई कुश्रद्धा का निर्देष करता है।

(५) पहला और दूसरा भेद धर्म सबधी मिथ्या मान्यता के विषय मे है।

यदि हम और भी सक्षेप में सोचे, तो देव गुरु और धर्म सबधी मिथ्यात्व मे सभी भेदो का समावेश हो जाता है। क्योकि देव और गुरु के अतिरिक्त छहो भेदो का समावेश, धर्म तत्त्व सबधी मिथ्यात्व मे हो जाता है। तत्त्व और मार्ग सबधी मिथ्यात्व श्रुतधर्म सबधी मिथ्यात्व ही है।

आगम विहित दस भेदो के सिवाय जो पन्द्रह भेद है, वे इन दस भेदो के मिथ्यात्वी जीवो के प्रकार को स्पष्ट करने वाले है—स्वतन्त्र नही है। वे पन्द्रह भेद ये है।

१ आभिग्रहिक मिथ्यात्व—अपने ग्रहण किये हुए मिथ्या सिद्धात को, तत्त्व की परीक्षा किये विना

ही पकड रखना । वापदादो से चली आती हुई गलत मान्यता नही छूटना । (ठाणाग २—१)

२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सभी मतो और पथो को सत्य मानना । 'अपने लिए तो सभी एक समान हें'—इस प्रकार सत्यासत्य, गुणावगुण और धर्म अधर्म का विवेक नही रखकर 'सर्व धर्म समभाव' रूप मूढता अपनाना । (ठाणाग २—१)

३ अभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने सिद्धात को गलत जानकर भी अभिमान वश हठाग्रही होकर उसे पकडे रहना । (भगवती ६—३३)

४ साशयिक मिथ्यात्व—तत्त्व अथवा जिनेश्वर के वचनो में शकाशील बने रहना ।

(शका—उपासक १)

५ अनाभोग मिथ्यात्व—विचार शून्यता अथवा मनन शक्ति के अभाव मे, ज्ञानावरणीयादि कर्म के उग्रतम उदय से होने वाला मिथ्यात्व सभी असज्ञी जीवो मे होता है ।

६ लौकिक मिथ्यात्व—जिनमे वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशकता के गुण नही—ऐसे रागी द्वेषी, छद्मस्थ और मिथ्यामार्ग प्रवर्त्तक, ससार मार्ग के प्रणेता को देव मानना, सवर के लक्षण युक्त सम्यग्चारित्र रूप पाँच महाव्रत, तथा समिति गुप्ति से रहित, नामधारी साधु या गृहस्थ को गुरु मानना और अधर्म—जिसमे सम्यग्ज्ञानादि का अभाव है और जो लौकिक क्रियाकाड मय है, उसे धर्म मानना, तीर्थयात्रा, स्नान यज्ञयागादि सावद्य प्रवृत्ति मे धर्म मानना, लौकिक मिथ्यात्व है (अनुयोगद्वार)

७ लोकोत्तर मिथ्यात्व—तीर्थंकर भगवान् लोकोत्तर देव है, वे वीतराग हैं उनकी आराधना अपनी आत्मा मे वीतरागता का गुण लाने के लिए ही करनी चाहिए, किन्तु अपनी विषय कषायो की पूर्ति के लिए उनको आराधना की जाय, निर्ग्रंथो की सेवा, मागलिक श्रवण, सामायिक, आयम्बिलादि तप, भौतिक स्वार्थ भावना से किया जाए, तो यह लोकोत्तर मिथ्यात्व है । इसका दूसरा अर्थ गोशाला जैसे को देव, निन्हवादि को गुरु और शुभ बधकी क्रिया को लोकोत्तरधर्म मानना भी है ।

(अनुयोग द्वार)

८ कुप्रावचन मिथ्यात्व—निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कुप्रावचनिक—मिथ्या प्रवचन के प्रवर्त्तक प्रचारक और मिथ्या प्रवचन को मानना । (अनुयोगद्वार)

६ न्यून—मिथ्यात्व—तत्त्व के स्वरूप में से कम मानना । एकाध तत्त्व या उसके किसी भी भेद में अविश्वासी होना । कोई कोई यो कहा करते है कि 'इतनीसी बात नही माने तो क्या होगा' ? किन्तु यह सब स्वमत या परमत वाद है । जो जैनी कहलाता है उसे तो जिनेश्वरो के वचनो को पूर्ण रूप से यथार्थ मानना ही पडेगा । पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व की व्याख्या करते हुए लिखा कि—**"सूत्रोक्तस्यैक-स्याप्यरोचनादक्षरस्य भवतिनरः मिथ्यादृष्टिः"** (स्थानाग १ टीका) श्री प्रज्ञापन सूत्र के मूल पाठ मे

लिखा कि "मिथ्यादर्शन विरमण समस्त द्रव्यों से होता है" (पद २२) टीकाकार श्रीमलय-गिरिजी ने इनकी टीका में सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों से मिथ्यादर्शन विरमण माना है। और सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग टीका में लिखा कि "जिनाभिहिता-र्थाश्रद्धानवतीदृष्टिः-दर्शनं श्रद्धानं"। अतएव इसमें किञ्चित् भी न्यून मानना मिथ्यात्व है। (ठाणांग २-१)

१० अधिक मिथ्यात्व-जिन प्रवचन से अधिक मानना मिथ्यात्व है। (ठाणांग २-१)

११ विपरीत मिथ्यात्व-जिनागमों के विपरीत प्ररूपणा करना मिथ्यात्व है। क्योंकि सम्यक्त्व का अर्थ ही जिन प्ररूपित तत्त्वों को यथातथ्य मानना है। "जिणपण्णत्तं तत्तं इइसमत्तं" अतएव जिन प्रवचन से विपरीत मान्यता नहीं करना चाहिए। (ठाणांग २-१)

१२ अक्रिया मिथ्यात्व-सम्यग्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बनकर आत्मा को अक्रिय मानना। चारित्रवानों को 'क्रियाजड़' कहकर तिरस्कार करना। (ठाणांग ३-३)

१३ अज्ञान मिथ्यात्व-ज्ञान को बंध और पाप का कारण मानकर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना। (ठाणांग ३-३)

१४ अविनय मिथ्यात्व-पूजनीय देवगुरु और धर्म का विनय नहीं करके अविनय करना। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना, उन्हें असत् कहना आदि। (ठाणांग ३-३)

१५ आशातना मिथ्यात्व-देवगुरु और धर्म की आशातना करना। इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिनसे ज्ञानादि गुणों और ज्ञानियों को ठेस पहुँचे। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार मिथ्यात्व के भेदों को समझकर इससे बचते रहना प्रत्येक जैनी का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व की शुद्धि और रक्षा के लिए अतीव सावधानी की आवश्यकता है। मिथ्याज्ञान से प्रभावित हुए कुछ भाई इसे जैनियों की संकीर्णता कहकर घृणा करते हैं, किन्तु वे वास्तविकता को समझने का प्रयत्न नहीं करते। जिस प्रकार आरोग्य का अर्थी कुपथ्य से बचता है, स्वच्छता प्रेमी मैल से बचता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री सहवास वर्जनीय है, उसी प्रकार सम्यक्त्व की रक्षा के लिए मिथ्यात्व के निमित्तों से बचना आवश्यक है। यदि इसका कोई यह अर्थ लगावे कि "जैनियों का ऐसा नियम विद्वेष एवं झगड़े का मूल है"-तो यह कहना गलत है। जैनधर्म किसी से झगड़ने की शिक्षा नहीं देता, वह तो सहन करने की शिक्षा देता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी मूल वस्तु को सुरक्षित नहीं रखें। जिस प्रकार हम अपनी मूल्यवान और अत्यन्त प्रिय वस्तु को दूसरों से बचाये रखने के लिए पूर्ण सावधान रहते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व रत्न को बचाने के लिए भी पूर्ण सावधान रहना चाहिए। सावधानी नहीं रखने के कारण नन्द मणिहार मिथ्यात्वी बना। सम्यक्त्व की सुरक्षा के कारणों से

सम्पर्क नही रखने से वह मिथ्यात्वी वनगया (ज्ञाता १३) और आनन्दादि श्रमणोपासको ने इस रत्न की रक्षा की और पूरी सावधानी वरती। उन्होने प्रतिज्ञा करली कि "मै अन्य तीर्थिक देव गुरु से परिचयादि नही रखूगा, तो उनका दर्शन गुण कायम रहा और वे एकाभवतारी होगए। (उपासकदशा१)

हम छद्मस्थ है, हमारी बुद्धि उतनी नही जितनी सर्वज्ञो, पूर्वधरो, श्रुत केवलियो और गण-धरादि महापुरुषो की थी। हमारी यह शक्ति नही कि हम उन सर्वज्ञो, महाज्ञानियो की सभी बातो को पूर्ण रूप मे समझ सके। हमारी कोशिश तो अवश्य होनी चाहिए कि हम सभी बातो को समझें, किन्तु जो समझ मे नही आवे उसे झूठी मानकर या अविश्वासी वनकर अपने सम्यक्त्व रत्न को नही गँवादे। सागरदत्त के पुत्र नें अविश्वास किया, तो उसे सुन्दर मयुर नही मिल सका, और जिनदत्त के पुत्र ने विश्वास रखकर सुन्दर वच्चा प्राप्त किया और सुखी हुआ (ज्ञाता. ३) जिस प्रकार हम रत्न की परीक्षा नही जानते है और जौहरी के वचन पर विश्वास करके उसे खरा और मूल्यवान् मानते है और पूर्ण सावधानी से रखते है, उसी प्रकार यदि कांक्षामोहनीय के उदय से हमारे समझ में कोई बात नही आवे, तो अविश्वासी नही वनकर यही विचार करना चाहिए कि **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"** । [भगवती १-३] =जिनेश्वर भगवान् ने कहा वह सत्य और यथार्थ ही है। उसमे किसी प्रकार की शका नही है। इससे सम्यक्त्व शुद्ध रहती है। मोक्षार्थियो को हृदय मे यह बात पूर्ण रूप से जमा लेना चाहिए—"निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय ससार के जितने वाद, विवाद, सिद्धात वचन है, वे सब अनर्थ रूप है। ससार के विषय वासना के साधन, कुटुम्ब परिवार, धन, वैभव, जमीन, जायदाद, सत्कार, समान और अधिकार सब सबके अनर्थ रूप है। सामान्य अर्थ और परम अर्थ एक मात्र निर्ग्रंथ प्रवचन ही है, **"णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे"** (भगवती २-५) इस प्रकार जिसके हृदय में दर्शन धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी है और वह इस गुण को छोडता नही है, तो थोडे भवो मे मुक्ति प्राप्त कर सकता है—यह निसन्देह समझना चाहिए। ऐसी भव्यात्मा, पन्द्रह भव से अधिक तो कर ही नही सकती (भगवती ८-१०) भगवती सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरिजी ने तो श १ उ १ की टीका मे लिखा है कि "मोक्ष के सच्चे कारण दर्शन के विषय मे विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए"।

नन्दीसूत्रकार श्री देववाचक आचार्य ने संघ की स्तुति करते हुए 'सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध मार्ग वाला' (गा ४) सयम का परिकर—रक्षक (गा ५) 'सम्यक्त्वरूप प्रभावाला निर्मलचन्द्र' (गा ९) और सघ रूपी सुमेरु पर्वत की "दृढ वज्रमय उत्तम और वहुत गहरी आधारशिला—नीव (गा १२) रूप माना है, जिस पर कि चारित्र तप रूप महान् पर्वताधिराज सुदर्शन टिक रहा है।

मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के कारणो को बताते हुए विशेषावश्यक भाष्य गा० ११९३ मे निम्न लिखित भाव व्यक्त किए है।

आयुष्य कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम (एक कोडा-कोड़ी सागरोपम से कुछ कम) परिमाण स्थिति होने पर चार प्रकार की सामायिक में से किसी एक प्रकार की सामायिक प्राप्त होती है। सामायिक के चार प्रकार ये है—

१ सम्यक्त्व सामायिक २ श्रुतसामायिक ३ देशविरति सामायिक और ४ सर्वविरति सामायिक।

आयुष्यकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण में से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होता है, तब ग्रथिदेश प्राप्त होता है। कठोर, निविड, शुष्क और अत्यन्त गूढ बनी हुई, वास की गाठ जैसी दुर्भेद्य होती है, वैसी ही कर्म जनित मिथ्यात्व की गाठ दुर्भेद्य होती है—जो जीव के प्रबल रागद्वेष रूप परिणाम से ही बनती है। मोह की इस गांठ का भेदन होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्वादि का लाभ होता है।

मनोविघात तथा सामान्य परिश्रम आदि से ग्रथिभेद नही होता। इसमे महान् पराक्रम की आवश्यकता होती है। अनादिकाल की बँधी हुई और गूढ बनी हुई मोह की गाठ, बडी कठिनाई से टूटती है। जिस प्रकार शूरवीर सैनिक को, घोर सग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए, महान् परिश्रम करना पडता है। शत्रुदल की प्रबल शक्ति को तोडने पर उसे विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार मन्त्रादि विद्या सिद्ध करने के समय अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते है, उन विघ्नो को अपने प्रबल पराक्रम से जीतने से विद्या सिद्ध होती है, उसी प्रकार मोह की प्रबलतम गाठ को तोडना भी महान कठिन है।

प्रश्न-जिस प्रकार सम्यक्त्वादि गुणो के बिना ही जीव, कर्मों को ६९ सागरोपम जितनी बहुत ही लम्बी स्थिति को क्षय कर देता है, तो शेष रही केवल एक सागरोपम से भी कम स्थिति को भी जीव मिथ्यात्व की स्थिति में क्यो नही क्षय कर सकता है, इसमे सम्यक्त्वादि गुणो की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर—जिस प्रकार महाविद्या को सिद्ध करने वाली प्रारभिक क्रिया सरल होती है, किन्तु अन्तिम क्रिया महान् विघ्नो से घिरी हुई तथा कठिन होती है। उसमें उग्र परिश्रम करना पड़ता है, उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण तक के कर्मों को तोडने की क्रिया तो सरल है—उतनी कठिन नही है, परतु ग्रथिभेद से लगाकर मोक्षसाधन रूप सम्यग् ज्ञानादि क्रिया, महान् कठिन और अनेक प्रकार के विघ्नवाली है। बिना सम्यग् ज्ञानादि की प्राप्ति के किसी की भी मुक्ति नही होती, अर्थात्—शेष रही हुई कर्म स्थिति, बिना सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के क्षय नही हो सकती। वैसे तो शेष रही हुई अन्त कोटाकोटि स्थिति भी क्षय होती ही है, किन्तु नवीन कर्म बन्धन भी होता रहता है। इस प्रकार पुराने और नये कर्मों की स्थिति का योग अन्त कोटाकोटि से कम नही रहता, और इस स्थिति को

समाप्त करने मे विशेष प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। ग्रंथि भेद का क्रम गाथा १२०२ से इस प्रकार बताया है।

अनादिकाल से भव भ्रमण के चक्कर में पड़ा हुआ जीव, सर्वप्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करता है। फिर अपूर्वकरण करता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। ये तीनो करण भव्य जीवो के अनुक्रम से शुद्ध होते है, किन्तु अभव्य जीव को तो एक मात्र यथाप्रवृत्तिकरण * ही होता है। इसके बाद के दो करण नही होते। तीनो करण का क्रम इस प्रकार है।

अनादिकाल से जीव, राग द्वेष के महामलिन परिणाम से, मोहनीय कर्म के दुरूह भार से दबा हुआ रहता है। उसकी आत्मा पर राग द्वेष की गूढतम गाठ लगी ही रहती है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पडकर लुढकता और अन्य पत्थरादि से टकराता हुआ पाषाण खड, घिसकर गोल और कोमल स्पर्शवाला बन जाता है, उसी प्रकार कर्म जनित दुखो को भुगतता हुआ एव अकामनिर्जरा से कर्मों से हलका होता हुआ जीव, ग्रथिभेद के निकट आता है। इस प्रकार परिणामो की विशेषता से जीव ग्रथिभेद तक आता है। इस अवस्था को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस अवस्था मे जीव की, सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य परिणति तो नही होती, किन्तु अध्यवसाय ऐसे होते है कि जिससे वह हलका होते होते ग्रथि स्थान तक पहुच जाता है। इसके बाद परिणामो की विशेष शुद्धि से 'अपूर्वकरण' § होता है। अपूर्वकरण जैसे विशुद्ध अध्यवसाय उसके पहले कभी नही हुए थे। अनादिकाल मे प्रथम बार ही हुए। यथाप्रवृत्तिकरण तो भव्य और अभव्य के भी होता है और अनन्त बार भी हो जाता है, किन्तु अपूर्वकरण तो भव्य जीव के ही होता है, अभव्य के कदापि नही होता। इस अपूर्वकरण से जीव, मिथ्यात्व की महाकठिन-तीव्रतम गाठ को तोडकर छिन्नभिन्न करदेता है और सम्यक्त्व के सम्मुख हो जाता है। इसके बाद उसके तीसरा 'अनिवृत्तिकरण' + होता है। इसके प्रभाव से वह अपूर्वकरण मे पीछे नही हटकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है।

---

* यथाप्रवृत्तिकरण-सम्यक्त्वी जैसी प्रवृत्ति, किन्तु यह प्रवृत्ति अज्ञान-अश्रद्धा पूर्वक होती है।

§ अपूर्वकरण-सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य परिणाम-जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे। यह दशा उसे प्रथम बार ही प्राप्त होती है। इस विषय में आचार्यों में मत भेद भी है। कोई कहते हैं कि यह स्थिति अनादि मिथ्यात्वी को ही प्राप्त होती है। जो सम्यक्त्व का पडवाई होकर मिथ्यात्व में चला जाता है और बाद मे पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे अपूर्वकरण नहीं होता और कोई आचार्य कहते हैं कि होता है।

+ अनिवृत्तिकरण-सम्यक्त्व के योग्य प्राप्त हुई विशुद्धि से पीछे नहीं हटकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना।

उपरोक्त तीनो करणो से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व सामायिक को सरलता से समझने के लिए निम्न लिखित नौ उदाहरण दिये गए है।

१ पल्य–जिस प्रकार कोई किसान अपने भरे हुए धान्य के वडे कोठे में थोडा थोडा धान्य डाले, किन्तु उसमें से अधिक अधिक निकाले, तो वह धान्य थोडे दिनो में ही बहुतसा निकल जाता है और कोठा खाली हो जाता है, उसी प्रकार जीव, अपने कर्म रूपी कोठे मे से अकाम निर्जरा द्वारा–अनाभोग से अधिक अधिक कर्मों को क्षय करता जाय और थोडे थोडे कर्म बाँधता जाय, तो कर्मों की कमी से हलका होता हुआ वह यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रंथि स्थान तक आजाता है।

शिष्य पूछता है–"भगवन्! ग्रंथिभेद होने के पूर्व, जीव असयत, अविरत एव अनादि मिथ्या–दृष्टि होता है। ऐसे जीव को अधिक कर्मों की निर्जरा और थोडे कर्मों का वन्ध नही होता, क्योकि आगमो मे इसका निषेध किया है। उसके वन्ध अधिक और निर्जरा कम ही होती है। कर्मवन्ध के विषय मे तीन भग होते है। जैसे–

१ वडे कोठे में किसान, कुभ प्रमाण अन्न डाले और छोटे प्याले के बराबर निकाले, वैसे ही मिथ्यादृष्टि को वध अधिक और निर्जरा कम होती है।

२ जो प्रमत्तसयत है, वे वन्ध थोडा और निर्जरा अधिक करते है। जैसे–किसान, प्याला भर भर के धान्य कोठे में डालता रहे और घडा भर भर कर निकालता रहे।

३ जो अप्रमत्तसयत है, वे निर्जरा ही करते है–वध नही करते। जैसे–किसान अपने कोठे मे से धान्य निकालता ही जाता है, परन्तु डालता कुछ भी नही है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, प्रथम भेद के अनुसार प्रति समय वन्ध तो अधिक करता है, और निर्जरा थोडी ही करता है। फिर आप उल्टी वात कैसे वता रहे है?

गुरु महाराज उत्तर देते है–"वत्स! यह एकान्त नियम नही है कि–असयत, अविरत एव मिथ्यादृष्टि को वध अधिक और निर्जरा कम ही होती हो। यदि ऐसा ही नियम हो, तो वहुलकर्मी जीव को कभी सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सके। वास्तव मे सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व वहुत अधिक (६९ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण) कर्मों का क्षय होजाता है, तभी वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यदि मिथ्यादृष्टि सदासर्वदा अधिक प्रमाण में ही वध करता रहे, तो कालक्रम से उसे सभी पुद्गल राशि को कर्म रूप मे सग्रहित करने का प्रसंग आ सकता है, जिससे एक भी पुद्गल उससे अलग नही रहे। किन्तु ऐसा तो नही होता है। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि स्तभ, कुभ, वादल, पृथ्वी, गृह, शरीर, वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्रादि भाव से परिणत हुए पुद्गल, सदैव भिन्न रहते ही है। इसलिए वध और निर्जरा के विषय में ये तीन भग समझने चाहिए।

१ किसी को उत्कृष्ट कर्म वन्ध के हेतु से और पूर्वबद्ध कर्मों की थोडी निर्जरा के हेतु से बन्ध अधिक और निर्जरा थोडी होती है, २ किसी को वन्ध और निर्जरा समान होती है और ३ किसी को वन्ध थोडा और निर्जरा अधिक होती है। इन भगो मे से कोई मिथ्यादृष्टि, जव तीसरे भग मे रहता है,तव उसे वध थोडा और निर्जरा बहुत होती है। इससे वह ग्रथिदेश को प्राप्त होजाता है।

अनाभोग=अनिच्छापूर्वक इतने अधिक कर्मों की निर्जरा कैसे हो सकती है ? इस शका का समाधान करने के लिए आचार्य श्री, पर्वतीय नदी मे रहे हुए पाषाणखड का उदाहरण देते है।

२ नदी का पत्थर—जिस प्रकार पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह को झेलने वाला अथवा प्रवाह मे परस्पर टकराकर गोल होने वाला पत्थर अपने आप घिसकर गोल तथा त्रिकोणादि वन जाता है, कोमल स्पर्श वाला हो जाता है,वैसे ही कर्म जनित दुखो को भोगता हुआ जीव, हल्का होकर यथाप्रवृत्ति-करण करते हुए ग्रथिदेश को प्राप्त कर लेता है।

३ चींटियाँ—जिस प्रकार कुछ चीटियाँ, पृथ्वी पर स्वाभाविक रूप से चलती है, कुछ ठूठ पर चढती है, कुछ दीवाल पर चढती है, कुछ खूटे पर चढकर उडजाती है, कुछ खूट पर ही रहजाती है और कुछ खभे पर चढकर पुन नीचे उतर आती है, उसी प्रकार यहा भी समझना चाहिए। चीटियो के स्वाभाविक रूप से पृथ्वी पर चलने के समान पहला यथाप्रवृत्तिकरण है। खूट पर चढने के समान अपूर्वकरण है। खूट पर से उडने के समान अनिवृत्तिकरण है। जिसने ग्रथि का भेदन नही किया—ऐसे ग्रथिसत्व को खूट पर ठहर जाने की तरह रुकना होता है और वहा से पुन लौटने रूप कर्म स्थिति की वृद्धि होती है।

४ मुसाफिर—तीन मुसाफिर स्वाभाविक गति से अटवी मे जाते हुए बहुतसा मार्ग उल्लघ गये, किन्तु सध्या हो जाने से वे भयभीत हो गये। इतने मे उन्हे दो चोर मिले। चोरो को देख कर उन तीन पथिको मे मे एक तो पीछा लौटकर जिधर से आया था उधर ही चला गया। दूसरे को एक चोर ने पकड लिया और तीसरा चोर से लडता हुआ हिम्मत पूर्वक—उसे हराकर आगे वढगया, और इच्छित स्थान पर पहुच गया।

ससार रूपी अटवी मे तीनो पथिक चलते रहे। उन्हे राग द्वेष रूपी दो चोरो का सामना हुआ। उसमें से एक जो चोरो को देख कर वापिस लौट गया, उसके समान ग्रथि देश से वापस लौटने वाला है, उल्टा लोटने से उसने अपनी कर्मस्थिति वढादी है। जिसे चोर नें पकड लिया, उसके समान ग्रथि देश मे रहा हुआ जीव है और जो चोर का सामना करते हुए आगे बढने वाले के समान है, वह ग्रथि को भेद कर सम्यक्त्व रूपी नगर में पहुँचने वाला है।

ग्रंथिदेश तक यथाप्रवृत्तिकरण लाता है, चोर का सामना करके—उसे पराजित करके आगे बढ़ने के समान अपूर्वकरण है और सम्यक्त्व रूपी नगर की प्राप्ति रूप—अनिवृत्तिकरण है।

५ मार्ग—शिष्य पूछता है—"भगवन्! जीव ग्रंथि भेद करके सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है, तो क्या किसी के द्वारा उपदेश देने पर प्राप्त करता है अथवा स्वाभाविक रूप से या फिर दोनों प्रकार का योग मिलने पर भी प्राप्त नहीं कर सकता" ?

आचार्य कहते है—"वत्स! जिस प्रकार वन मे इधर उधर भटकते हुए कोई जीव अपने आप ही योग्य मार्ग प्राप्त कर लेता है, तो कोई दूसरो के मार्ग बतलाने से मार्ग पर आता है, किन्तु कई ऐसे भी होते है, जो किसी भी प्रकार से मार्ग नही पाकर भटकते ही रहते हैं। इसी प्रकार कोई भव्यात्मा, ससार रूपी वन मे भटकते हुए अपने आप सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, तो कोई गुरु आदि के सदुपदेश से सम्यक्त्व पाता है, तो कई अभव्य अथवा दुर्भव्य जीव, सम्यक्त्व प्राप्त कर ही नही सकते, वे ससाराटवी में भटकते ही रहते है, और ग्रंथिदेश तक आकर वापिस लौट जाते है।

६ ज्वर—जिस प्रकार किसी व्यक्ति का ज्वर बिना औषधि के अपने आप उतर जाता है, किसी का औषधोपचार से छूटता है, तो किसी (तपेदिकादि) का औषधोपचार करते हुए भी नही छूटता, इसी प्रकार किसी भव्यात्मा का मिथ्यात्व रूपी ज्वर, बिना प्रयत्न के अपने आप छूट जाता है तो किसी का गुरु के उपदेश रूपी औषधि के योग से छूटता है, और किसी अभव्य अथवा दुर्भव्य का मिथ्यात्व रूपी महाज्वर, किसी भी उपाय से नही छूटता है।

७ कोद्रव—एक प्रकार के कोद्रव नामक धान्य की मादकता (कालान्तर मे) स्वभाव से ही नष्ट हो जाती है, दूसरे प्रकार के कोद्रव की मादकता प्रयोग करने पर दूर होती है किन्तु एक तीसरा प्रकार ऐसा भी होता है कि जिसकी मादकता बनी ही रहती है, प्रयत्न करने पर भी नही छूटती। इसी प्रकार कुछ जीवो का मिथ्यात्व अपने आप छूट जाता है, कुछ जीवो का उपदेशादि के योग से दूर होता है, तो कुछ जीव ऐसे भी होते हैं—जिनका मिथ्यात्व प्रयत्न करने पर भी नही छूटता और बना ही रहता है।

मिथ्यात्व की शुद्धि इस प्रकार से होती है।

जिस प्रकार कोद्रव की शुद्धि करने से तीन प्रकार के बन जाते हैं। जिसमें कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, कुछ अर्ध शुद्ध होते है, और कुछ शुद्ध होते ही नही—अशुद्ध ही रहते है। इसी प्रकार जीव, मिथ्यात्व के दलिको को शुद्ध करते हुए उसके तीन पुञ्ज करता है,—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। इनमें से सम्यक्त्व को आवरित करने वाले रस को नष्ट करके, शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलो का जो पुञ्ज है, वह जिनोक्त तत्त्व रुचि को आवरण नही करता, इसलिए उसे उपचार से सम्यक्त्व कहते हैं।

अर्धशुद्ध मिथ्यात्व दलिको के पुञ्ज को सम्यग्मिथ्यात्व-मिश्र कहते है और जो सर्वथा अशुद्ध पुद्गलो का पुञ्ज है-वह मिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार अपूर्वकरण से मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज हो जाते है, किन्तु अनिवृत्तिकरण विशेष से जीव,सम्यक्त्व पुञ्ज मय हो जाता है,फिर दूसरे दो पुञ्ज मय नही रहता। जब सम्यक्त्व मे पतित होकर पुन सम्यक्त्व लाभ करता है, तब भी अपूर्वकरण मे तीन पुञ्ज करके अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व लाभ करता है।

शका-दूसरी वार सम्यक्त्व लाभ करते समय अपूर्वकरणता क्यो कही जाती है ? वह अपूर्व तो रहा ही नही, क्योकि वह दूसरी बार सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है ?

समाधान-सिद्धातवादी और वृद्ध आचार्य कहते है कि स्वल्प समय तक ही उसका लाभ होता है। इसलिए अपूर्व के समान होने से उसे अपूर्वकरण कहते हैं। किन्तु कर्मग्रथ का मत है कि 'अन्तर-करण' करते हुए जीव, उपशम सम्यक्त्व लाभ करता है और उसीसे तीन पुञ्ज करता है। उसके बाद क्षायोपशमिक पुञ्ज के उदय मे क्षयोपशम सम्यक्त्व पाता है।

अब ग्रथिदेश तक आये हुए अभव्य की दशा बताई जाती है।

तीर्थंकर भगवत की महिमा पूजा (भक्ति) देखकर अभव्य मनुष्य अपने मनमे विचार करता है कि-"इस धर्म मे ऐसा सत्कार होता है, राज्यऋद्धि अथवा देविक सुख प्राप्त होते है"। इस प्रकार की इच्छा से, ग्रथिदेश को प्राप्त हुआ अभव्य, ऋद्धि आदि के लोभ मे, कष्टकारी धर्मानुष्ठान करता है, किन्तु मोक्ष की श्रद्धा रहित होने से वह सम्यक्त्व सामायिक मे सर्वथा शून्य होता है। उसे अज्ञान रूप श्रुत सामायिक का लाभ हो सकता है, क्योकि अभव्य को भी ग्यारह अगो का अध्ययन होना शास्त्र मे माना है। +

जिस प्रकार प्रयोग करने मे कोद्रव धान्य अशुद्ध, अर्धशुद्ध और शुद्ध होता है, उसी प्रकार अपूर्व-करण रूप परिणाम से मिथ्यात्व भी शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध, यो तीन प्रकार का हो जाता है।

८-६ जल वस्त्र-पानी और वस्त्र मलिन होता है, तब शुद्ध करने से कुछ पानी और वस्त्र शुद्ध हो जाता है, कुछ अर्ध शुद्ध होता है, तो कुछ अशुद्ध ही रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपूर्वकरण रूप परिणाम मे, दर्शनमोहनीय कर्म को शुद्ध करते, कुछ अशुद्ध-मिथ्यात्व, कुछ अर्धशुद्ध-मिश्र और कुछ शुद्ध-सम्यक्त्व, यो तीन प्रकार बन जाते हैं। किन्तु अनिवृत्तिकरण करने पर मिथ्यात्व और मिश्रपुञ्ज नही रहते, केवल शुद्ध-सम्यक्त्व ही रहता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति बडे पराक्रम से होती है। यथाप्रवृत्तिकरण तो जीव ओघसज्ञा मे भी करलेता है, किन्तु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण प्रबल पुरुषार्थ से होता है। मिथ्यात्व की

+ यहां मतभेद है, क्योंकि अभव्य को नौ पूर्व से अधिक तक का श्रुत होना सर्वमान्य है।

अनादि काल की बँधी हुई और कठोरतम बनी हुई ग्रंथि को भेदना सरल नहीं है। जिन्हें सम्यक्त्व रूपी महान् रत्न प्राप्त हो गया, वे महान् भाग्यशाली हैं। उन्हें अपने महान रत्न की प्राणपण से सुरक्षा करनी चाहिए, और विरति के द्वारा आत्मविकास करते हुए अजरामर पद प्राप्त करना चाहिए।

सम्यक्त्व

हां, तो धर्म का उद्गम स्थान परम वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् हैं। उन्होंने आत्मा के लिए उत्थान का सबसे पहला कदम 'सम्यग्दर्शन' बतलाया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है–यथार्थदृष्टि= सत्य दृष्टि, तत्त्व विषयक वास्तविक विश्वास अथवा ध्येय शुद्धि। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाले की सफलता का मूल आधार ही यथार्थ दृष्टि होती है। दृष्टि विकार के चलते कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जन्म, जरा, रोग, शोक आदि दुःखों से सर्वथा छूटकर, शाश्वत, परम सुख की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। उस मोक्ष को उसके रूप, उपाय आदि तथा अपने स्वरूप आदि की सत्य समझ का नाम ही सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन अ० २८ गा० १५ में लिखा है कि–

"तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं" ॥

–जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के उपदेश का अन्तःकरण से विश्वास करने वाले को सम्यग् दर्शन होता है–ऐसा जिनेश्वर देवों ने कहा है। यही बात संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन शब्दों कही है–"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"–तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के चार अंग

अब सम्यग्दर्शन की आराधना कैसे होती है, इसे समझ लेना चाहिए। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० २८ मे दर्शनाराधना का स्वरूप इस प्रकार बताया है।

"परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थ सेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसण वज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा" ॥

अर्थात्—१ परमार्थ का कीर्त्तन करना, विशेष मनन करना, २ सम्यग्दर्शनी—परमार्थ के ज्ञाता की सेवा करना ३ सम्यक्त्व से पतित हुए की सगति त्यागना और ४ मिथ्यादर्शनी की सगति का त्याग करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धान है।

१ परमार्थ संस्तव—परमार्थ का अर्थ 'मोक्ष' होता है, और मोक्ष के कारणभूत तत्त्व—ज्ञान=नव तत्त्व, जैनवाणी, देव, गुरु और धर्म, इनका परिचय करना, गुण कीर्त्तन करना, हृदय के पूर्ण उल्लास के साथ निर्ग्रंथ प्रवचन का आदर करना, **'सद्दहामिणं भंते! निग्गंथं पावयणं'** इस प्रकार अन्तस्तल से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों के प्रति आदर भाव व्यक्त करना। मोक्ष के उत्तम निमित्त देव, गुरु और धर्म के प्रति बहुमान रखते हुए गुण-गान करना, जैसे कि—

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवो सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं" **(आवश्यक सूत्र)**

—इस जीवन मे अरिहंत भगवान ही मेरे देव है, सुसाधु मेरे गुरु है और जिनेश्वर प्रणीत तत्त्व ही मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। इस प्रकार की हार्दिक अभिव्यक्ति परमार्थ सस्तव है।

२ सुदृष्ट परमार्थ सेवन—जो सम्यग्दृष्टि और परमार्थ की आराधना करने वाले है, उन आचार्य, उपाध्याय, और साधु तथा महासतीजी की सेवा करना।

३ व्यापन्न वर्जन—जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया—जिनकी दृष्टि बदल गई, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो चुके—ऐसे निन्हव अथवा अन्य मत को ग्रहण करने वालो की सगति का त्याग करना।

४ कुदर्शन वर्जन—कुदर्शनी=अन्य मतावलम्बी की सगति का त्याग करना।

पूर्वोक्त चार नियमो मे पिछले दो तो 'रक्षाकवच' के समान है, और पहले दो उन्नति के साधन है। रक्षाकवच—पिछले दो नियमो का पालन करते हुए, पहले के दो नियमो द्वारा दर्शन आराधना करते रहने वाला, उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ, क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सर्वदर्शी बन सकता है।

इन दर्शनाचार को पालन करने के निम्न आठ नियम श्री उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३१ में इस प्रकार बताये हैं।

१ **निःशंकित**--जिनेश्वर भगवन्तों के वचनों में शंका रहित होना और हृदय में दृढ़ विश्वास होना कि **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"**—जिनेश्वर भगवन्तों ने कहा, वह सर्वथा सत्य और शंका रहित है। (आचारांग १-५-५ तथा भगवती १-३)

२ **निःकांक्षित**--जिनधर्म=निर्ग्रंथ प्रवचन में दृढ़ रहना, परदर्शन की इच्छा नहीं करना और यह विश्वास रखना कि–

"कुप्पवयण पासंडी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे" । (उत्त० अ० २३-६३)

पहले के श्रावक एक दूसरे से मिलते, तब आपस में अपने भावों को व्यक्त करते हुए कहते कि–

"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे." (भगवती २-५ तथा सूयग० २-२) इस प्रकार हमें भी अपने धर्म में विशेष दृढ़ रहकर कांक्षारहित होना ही चाहिए।

३ **निर्विचिकित्सा**--धर्म आराधना=संयम और तप के फल के विषय में शंकाशील नहीं होना। जो भी क्रिया की जाती है, उनका फल अवश्य मिलना है। वर्त्तमान में जो सुख दुःख दिखाई देता है, वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इस समय जो आत्म साधना की जा रही है, उसका फल अवश्य मिलेगा।

इसका दूसरा अर्थ–निर्ग्रंथों के मलिन वस्त्र और मैला शरीर देखकर घृणा नहीं करना है।

४ **अमूढ़दृष्टि**–अन्यदर्शनी की विद्या, बुद्धि, और धन सम्पत्ति में बढ़ा चढ़ा देखकर भी विचलित नहीं होना और अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखना।

५ **उपबृंहण**--गुणवानों के गुण की प्रशंसा करना, उनके गुणों में वृद्धि करना और स्वयं भी उन गुणों को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना।

६ **स्थिरीकरण**--धर्म से डिगते हुए को धर्म में स्थिर करना और स्वयं भी स्थिर होना।

७ **वात्सल्य**--साधर्मियों के साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करना। उनके दुखों को मिटाने का यथा-शक्ति प्रयत्न करना।

८ **प्रभावना**–जिनधर्म की उन्नति करने में प्रयत्न शील रहना, प्रचार करना, जिससे दूसरे लोग भी धर्म के संमुख होकर आत्म कल्याण करे। इनके भेद आगे बताये जावेंगे।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की आराधना से जीव, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से बढ़कर क्षायिक

सम्यक्त्व प्राप्त करलेता है और बढते बढते केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है।

(उत्तरा० २९-६०)

लक्षण

सम्यग्दृष्टि के पाच लक्षण होते है १ सम—इतना विषम नही बनना कि जिससे अनन्तानुबन्धी कषाय को बल मिले, अर्थात् भौतिक सुख और दुख को समभाव पूर्वक वेदना। २ सवेग—धर्म के प्रति प्रेम रखना—मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखना। ३ निर्वेद—ससार के प्रति उदासीन रहना। ४ अनुकम्पा—दुखी जीवो पर अनुकम्पा करना। ५ आस्तिक्य—जिनेन्द्र भगवान के वचनो पर विश्वास रखना। ये सम्यग्दृष्टि के पाच लक्षण है।

येही लक्षण पश्चानुपूर्वि ढग से समझना अधिक उपयुक्त होगा, जैसे—सबसे पहले आस्तिक्य=श्रद्धा होती है। **"पढमंनाणं तओ दया"** प्रथम ज्ञान दर्शन, फिर दया=अनुकम्पा तथा "जो जीवाजीव को जानता है, वही सयम पाल सकता है" (दशवै० ४ गा० १०-१३) अर्थात् दर्शन युक्त ज्ञान (आस्तिक्य) पहले हो, उसके बाद अनुकम्पा होती है। वह सम्यग्दृष्टि पूर्वक अनुकम्पा है। श्रद्धालु की अनुकम्पा स्व-परा-नुकम्पा होगी, वह हिंसा को अपने लिए भी दुखदायक मानेगा। उसकी ससार के प्रति उदासीनता=निर्वेद होगा। जब ससार से उसकी प्रीति हटेगी, तो मोक्ष मे प्रीति=सवेग बढेगा। इस प्रकार निर्वेद पूर्वक सवेग वाली आत्मा मे 'समत्व' विशेष रूप से आ सकेगा, क्योकि वह सुख दुख को पूर्वकृत कर्मो का फल मानकर ससार के प्रति=भौतिक सुखो के प्रति, उदासीन रहेगा। समत्व को विशेष रूप से प्राप्त करने वाली आत्माएँ ही स्वावलबी होती हैं और 'असहेज्जदेवासुरनाग जैसी दृढतम स्थिति को प्राप्त होकर प्रशसित होती है। वह समत्ववाली आत्मा, विरति के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति पर अकुश लगाकर पाचवे सातवे गुणस्थानो मे प्रवेश करती है।

(ये पाँचो लक्षण 'धर्मसग्रह' मे लिखे है, और आगमानुकूल है। अनन्तानुबधी के क्षयोपशमादि रूप समत्व, स्थानाग ४ मे, सवेग, निर्वेद और आस्तिक्य उत्त० २९ मे तथा अनुकम्पा ज्ञाता अ० १ प्रश्नव्या० २-१ मे है)

सम्यक्त्व के ६७ अंग

सम्यग्दर्शन की आराधना के विषय मे पूर्वाचार्यो ने 'सम्यक्त्व के ६७ बोल बतलाये है, जो अवश्य ही पालने योग्य है। उनमे से चार श्रद्धान और पाच लक्षण का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शेष आगे दिया जारहा है,—

तीन लिंग— १ प्रवचन प्रेम—जिनवाणी के प्रति अतिव प्रेम होना, शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, धर्म

चर्चा में इस प्रकार उत्कट अनुराग होना कि जिस प्रकार तरुण पुरुष का रंग राग में होता है। उववाई में वीरवाणी सुनते समय कुणिक नरेश का ऐसा ही अनुराग व्यक्त हुआ है २ धर्मप्रेम—चारित्र धर्म के प्रति प्रेम होना, जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य, भोजन में विशेष रुचि रखता है, उसी प्रकार चारित्र धर्म की विशेष इच्छा रखना। 'पेमाणुराग रत्त'का यह लक्षण है और संवेग में भी इसकी गणना हो सकती है ३ देव गुरु की वैयावृत्य—देव गुरु में आदर, बहुमान, सत्कार संमानादि वैयावृत्य करना। इसमें सम्यक्त्वी की पहिचान होती है।

दस प्रकार का विनय—१ अरिहंतों का विनय २ अरिहंत प्ररूपित धर्म का विनय ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ स्थविर ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ चारित्र धर्म और १० साधर्मी का विनय। इनमें दर्शन में दृढ़ता आती है। भगवती सूत्र श० २५ उ० ७ में दर्शन विनय के दो भेद आये हैं, उनमें इनका समावेश हो जाता है।

तीन शुद्धि—जिनेश्वर देव, उनका प्रवचन=जिनागम और उनकी आज्ञानुसार चलने वाले साधु, इन तीनों को विश्व में सारभूत मानना यह—१ मन शुद्धि, २ गुण ग्राम करना वचन शुद्धि, और ३ काया से नमस्कार करना आदि काय शुद्धि है। (उववाई)

पांच दूषण त्याग—१ शंका—श्री जिनवचनों की सत्यता में सन्देह करना २ कांक्षा—बौद्धादि अन्य दर्शन की इच्छा करना ३ विचिकित्सा—संयम तप आदि आज्ञायुक्त करणी के फल में सन्देह करना ४ परपाखंडी प्रशंसा—सर्वज्ञ भगवान प्रणीत जिन धर्म के सिवाय दूसरे मतवालों की प्रशंसा करना, और ५ परपाखंडी संस्तव—अन्य मतावलम्बियों के साथ रहना, अलाप संलाप आदि परिचय करना। ये सम्यक्त्व के पांच दोष हैं। इससे सम्यक्त्व मलिन होती है, (उपासकदशांग अ० १) यदि विशेष परि-चय बढ़ाया जाय, तो सम्यक्त्व का वमन होकर मिथ्यात्व में चलाजाता है। इसलिए इन अतिचारों (दोषों) से सदैव बचते रहना चाहिए।

आठ प्रभावना—धर्म प्रचार जिससे हो वह प्रभावना कहलाती है। और प्रचारक को प्रभावक कहते हैं। यह प्रचार आठ प्रकार से होता है।

१ जिनेश्वरों के उपदेश का सर्वत्र प्रचार करना २ हेतु व दृष्टांत सहित समझाना ३ वाद प्रभा-वना— अन्य मतावलम्बियों के असत्य सिद्धांत या आक्षेप को वाद द्वारा हटाकर धर्म की प्रभावना करना ४ निमित्त द्वारा—यदि भूत भविष्य का ज्ञान हो, तो उससे धर्म पर आने वाली आपत्ति से बचाव करते हुए सावधानी पूर्वक धर्म का आचरण करे, जिससे लोग प्रभावित हो, ५ उग्रतप करके ६ विद्या द्वारा ७ प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करे और ८ कवित्व शक्ति के द्वारा लोगों को प्रभावित करके धर्म का प्रचार करना।

पांच भूषण—१ जिन शासन में निपुण होना २ जिन धर्म के गुणों की महत्ता प्रकट करना

पृष्ठ १ ३ साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चार तीर्थ की सेवा करना ३ धर्म मे डिगते हुए को स्थिर करना
४३५ और ५ महापुरुषो का विनय करना ।
४३६ **यतना छः**—सम्यक्त्व को सम्हालकर सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखने के उपाय को यतना कहते है,
४४० जो छ प्रकार की है १ सम्यग्दृष्टि गुणज्ञो को वन्दना करना—प्रशसा करना २ नमस्कार करना ३ अलाप—
४४८ अ० २। बातचीत करना—प्रेम पूर्वक आदर देना ४ सलाप—वार वार मिष्ठ वचन बोलना, धर्म चर्चा करना—क्षेम
४५० कुशल पूछना ५ आहारादि आवश्यक वस्तु देना और ६ सम्मान करना ।
४५७ **स्थान छः**—सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा उसी आत्म मन्दिर मे हो सकती है—जहाँ उसके योग्य स्थान हो।
४५८ जिस भव्य आत्मा मे—१ आत्मा है, २ वह शाश्वत नित्य एव उत्पत्ति और विनाश रहित है, ३ वह कर्म
४६५ की सेव का कर्त्ता है, ४ कर्म का भोक्ता भी वही है, ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय भी है । इस प्रकार की
" करना, मान्यता को जिस आत्मा मे स्थान है, वही सम्यक्त्व का निवास स्थान है । इस प्रकार की मान्यता
८.२४४ १ रखने का विधान सूयग० २—५ मे और उववाई मे है ।
" जिनवा **भावना छः**—सम्यक्त्व को अपने आत्म मन्दिर मे सुरक्षित रखते हुए दृढीभूत करने की छ
निर्ग्रंथ भावनाएँ है । सम्यक्त्वी आत्मा यह भावना करे कि मेरी सम्यक्त्व १ धर्म रूपी वृक्ष का मूल है २ धर्म
के कार रूपी नगर का द्वार है ३ धर्म रूपी महल की नीव है ४ धर्म रूपी जगत का पृथ्वी रूपी आधार है ५ धर्म
गति ब रूपी महारसायन को धारण करनेवाला उत्तम पात्र है और ६ चारित्र रूपी महान निधि को सुरक्षित रखनेवाला खजाना (तिजोरी) है । इन भावनाओ के बल से आत्मा सर्वदर्शिता के निकट पहुचती है ।

आगार छः—विकट परिस्थिति उत्पन्न होने पर अधोमार्ग अपनाकर—दोष सेवन करना, आत्म बल की कच्चाई है, किन्तु गृहस्थ साधको मे अधिकाश आत्म बलके धनी नही होते, उनके लिए निम्न छ आगार—छूट—रखी गई है, जिससे वे रुक्ष भाव से दोषो का सेवन करके पुन अपने सम्यक्त्व मे स्थिर
ही मेर हो सके । ये आगार श्रमणो के लिए नही है । श्रावक भी दूसरो के दवाव या विकट परिस्थिति के
है। कारण ही इन अपवादो का सेवन करता है ।

१ राजा के दवाव से, २ गण=सघ=समूह के दवाव से, ३ बलवान के भय से, ४ देव के भय से,
उपाध्य ५ माता पितादि ज्येष्ठ जन के दवाव से और ६ अटवी मे भटक जाने पर अथवा आजीविका के कारण, कठिन परिस्थिति को पार करने के लिए किन्ही मिथ्यादृष्टि देवादि को वन्दनादि करना पडे, तो इसकी
र अप छूट—कमजोरी के कारण रखी गई है । (उपासक दशाग अ १)

इस प्रकार सम्यक्त्व=दर्शन की आराधना की जाती है । इसकी प्राप्ति निम्न लिखित दस प्रकार से होती है ।

। रक्ष
हने व

सम्यक्त्व रुचि

१ **निसर्ग रुचि**–मति–ज्ञानावरण एवं दर्शन–मोहनीय का क्षयोपशम हो जाने से जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा अपने आप ही–बिना उपदेश या शास्त्र पठन के, सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना।

२ **उपदेश रुचि**–सर्वज्ञ अथवा छद्मस्थ मुनिवरों के उपदेश के निमित्त से सम्यक्त्व लाभ होना।

३ **आज्ञारुचि**–वीतराग भगवान अथवा गुरु की आज्ञा से ही जिनप्ररूपित तत्त्वों पर रुचि होना।

४ **सूत्र रुचि**–आचारांगादि अंग प्रविष्ट तथा उववाई आदि अंग बाह्य सूत्रों के अध्ययन से तत्त्व श्रद्धान होना।

५ **बीज रुचि**–जिस प्रकार एक बीज से अनेक बीज उत्पन्न होते है, और जल में डाली हुई तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार एक पद से अनेक पदों को समझना और श्रद्धा करना–इशारे से समझ–कर श्रद्धा करना–बीजरुचि सम्यक्त्व कहलाती है।

६ **अभिगम रुचि**–ग्यारह अंग, दृष्टिवाद तथा अन्य सूत्र ग्रंथों को अर्थ युक्त पढने से श्रद्धा का होना।

७ **विस्तार रुचि**–द्रव्यों के सभी भावों और सभी प्रमाणों तथा नयनिक्षेपादि विस्तार से जानने के बाद होने वाली श्रद्धा।

८ **क्रिया रुचि**–ज्ञानाचार, दर्शनचार, चारित्राचार, तपाचार, विनय, वैयावृत्य, सत्य, समिति, गुप्ति, आदि क्रिया करते हुए या इन क्रियाओं से होने वाली श्रद्धा।

९ **संक्षेप रुचि**–जो जिन प्रवचन को विस्तार से नही जानता है और ज्ञानावरणीय के उदय के कारण मंद–बुद्धि होने से विशेष समझ नही सकता, किन्तु जिसने मिथ्या मत को भी ग्रहण नहीं किया है, केवल यही जानता है कि "जो जिनेश्वर के वचन है वे सर्वथा सत्य है", इस प्रकार की संक्षेप रुचि।

१० **धर्म रुचि**–सर्वज्ञ वीतराग प्ररूपित धर्मास्तिकायादि द्रव्य और श्रुत चारित्र धर्म की प्रतीति होना, धर्म रुचि है।　　　　(उत्तराध्ययन अ० २८)

उपरोक्त इन भेदों का स्थानांग स्थान २ में 'निसर्ग सम्यक्त्व' और अधिगमिक सम्यक्त्व' में समावेश हुआ है। दर्शन प्राप्ति और स्थिरता के मुख्य निमित्त इस जमाने में सद्गुरु सेवा वाणीश्रवण, सूत्रस्वाध्याय, सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग् साहित्य का परिचय है। इससे क्षयोपशम में सहायता होती है और सम्यक्त्व सुरक्षित रहती है।

सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व का अर्थ 'तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान' है और जिसमे यह हो वही सम्यक्त्वी है, फिर भी विशेष अपेक्षा से इसके निम्न भेद किये गये हैं।

१ उपशम सम्यक्त्व—मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, इन सात के उपशम—अनुदय से होने वाली तत्त्वरुचि। मिथ्यात्व प्रेरक कर्म पुद्गलो के सत्ता में रहते हुए भी उदय में नही आना और राख मे दबी हुई अग्नि की तरह उपशान्त रहना—उपशम सम्यक्त्व है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

विशेषावश्यक भाष्य गा० २७३५ के अनुसार यह सम्यक्त्व या तो उपशम श्रेणी प्राप्त जीव को होता है, या फिर अनादि मिथ्यात्वी को, यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, एव अनिवृत्तिकरण द्वारा होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त का है। यह ग्रंथिभेद=अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर होता है।

२ क्षायिक सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय कर्म की तीनो प्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय का चोक, इन सातो प्रकृतियो के सर्वथा क्षय हो जाने से होने वाला सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व, सर्वथा निर्मल—दोष रहित होता है। और होने के बाद सदाकाल स्थायी रहता है—फिर कभी नही छूटता, क्योकि मिथ्यात्व का बीज समूल नष्ट कर देने से फिर उसके उदय का कोई कारण ही नही रहता। (अनुयोगद्वार सूत्र)

३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व--दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चोक के क्षयोपशम से होने वाली तत्त्वरुचि।

मिथ्यात्व के उदय मे आये हुए कर्म दलिकों का क्षय कर देना और उदय मे नही आये हुए को उपशान्त करना—क्षयोपशम कहलाता है। (अनुयोगद्वार सूत्र)

यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय की—मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, इन दो तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के चोक का—यो छ प्रकृति का क्षयोपशम होता है, और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चालू रहता है, और इसमे मिथ्यात्व के शुद्ध दलिक उदय मे रहते है, फिर भी वे इतने सबल नही होते कि जिससे सम्यक्त्व का घात कर दे। उनमे रसोदय नही होता, परन्तु प्रदेशोदय होता रहता है। इसके कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार दोष लगने की सभावना है। (अनाचार में तो रसोदय होता है)

उपशम सम्यक्त्व मे न तो रसोदय होता है, न प्रदेशोदय होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशोदय होता है, यही इन दोनो में भेद है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है।

४ सास्वादन सम्यक्त्व–सम्यक्त्व का मिटता हुआ आस्वाद=परिणाम। उपशम सम्यक्त्व से गिरते हुए और मिथ्यात्व को प्राप्त करने के पूर्व की स्थिति। यह स्थिति चौथे गुणस्थान से गिरकर प्रथम गुणस्थान में पहुँचने के बीच की है। इसका गुणस्थान दूसरा है। और इसकी स्थिति भी जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ आवलिका की होती है। (विशेषावश्यक गा० ५३१)

जिस प्रकार क्षीर का भोजन करने के बाद किसी को वमन होने पर भी कुछ समय तक क्षीर का स्वाद जबान पर रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के वमन होने पर उसका किंचित्–नष्ट होता हुआ प्रभाव आत्मा पर होता है।

इस स्थिति में तत्त्व के प्रति अरुचि अव्यक्त रूप से रहती है और अनन्तानुबन्धी क्रोध का उदय हो जाता है।

इस दशा का दूसरा उदाहरण यह भी है–वृक्ष से टूट कर पृथ्वी पर गिरने वाले फल की मध्य अवस्था। फल वृक्ष से तो टूट चुका, किन्तु अभी पृथ्वी पर नहीं गिरकर, नीचे आ रहा है, यह मध्य की दशा जैसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व की है।

५ वेदक सम्यक्त्व–क्षपक श्रेणी अथवा क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय तथा मिश्रमोहनीय को क्षय कर चुकने पर तथा सम्यक्त्वमोहनीय के अधिकांश दलिकों को क्षय कर चुकने पर, अन्तिम पुद्गल जो रहते हैं उन्हें नष्ट करते समय अन्तिम एक समय में जो सम्यक्त्व वेदनीय का वेदन होता है, वह वेदक सम्यक्त्व है। अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त होने के एक समय पूर्व की स्थिति–जिसमें नष्ट होते हुए दर्शनमोहनीय के दलिकों का वेदन करना। (नवबोध प्रकरण सम्यक्त्वाधिकार गा० २१ तथा कर्मग्रंथ भा १ गा० १५)

६ कारक सम्यक्त्व–जिस श्रद्धान के कारण चारित्र में परिणति हो अथवा जिस आचरण से दूसरों में सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, वह कारक–क्रियाशील सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व विशुद्ध चारित्र–वान में होती है। (विशेषावश्यक गा० २६७५)

आचारांग सूत्र अ० ५ उ० ३ का **'जं सम्मंति पासह तं मोणंति पासह'** कारक सम्यक्त्व के भाव को प्रकट करता है।

७ रोचक सम्यक्त्व–रुचि मात्र की उत्पादक, जिसके कारण चारित्र में मात्र रुचि ही हो, वह अविरत सम्यग्दृष्टि का–चौथे गुणस्थान का सम्यक्त्व।

८ दीपक सम्यक्त्व–जिस प्रकार दीपक अपने में अन्धकार रखकर पर को प्रकाशित करता है–

पृष्ठ प
४३५
४३६
४४०
४४८
४५०
४५७
४५८
४६५ की सेव
" करना,
२४१
" जैनवा
नैर्ग्रंथ
के कार
प्रति व
ी मेर
है।
उपाध्य
र अ
। रद
हने व

अपने नीचे अन्धेरा होते हुए दूसरो को प्रकाश देता है, उसी प्रकार जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करले, किन्तु स्वय सम्यक्त्व से वञ्चित ही रहे, ऐसे अन्तरग मे मिथ्यादृष्टि अथवा अभव्य है, किन्तु बाहर से यथार्थ प्रतिपादन करके जिनोपदेश के अनुसार उपदेश करता है और उसके यथार्थ उपदेश से दूसरे जीवो को सम्यक्त्व लाभ होता है, इसलिए यथार्थ प्ररूपणा और दूसरे मे सम्यक्त्व का कारण होने से उपचार से इसे सम्यक्त्व कहा है। (विशेषावश्यक भा० गा० २६७५)

९ **निश्चय सम्यक्त्व**--जिसके कारण आत्मा का ज्ञान गुण निर्मल हो, और वह अपनी आत्मा को ही देव स्वरूप, गुरु रूप और धर्म मय माने, अनन्तगुणो का भण्डार समझे, आत्मा को ही सामायिक, सवर आदि रूप माने—वह निश्चय सम्यक्त्व है।

१० **व्यवहार सम्यक्त्व**—अरिहत भगवान को सुदेव, निर्ग्रंथ श्रमण को सुगुरु और केवली प्ररूपित धर्म को सद्धर्म माने, श्रुत धर्म चारित्र धर्म की तथा नवतत्त्वादि जिन प्रवचन की यथार्थ श्रद्धा करे, वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके ६७ भेद पृ० ५० मे दिये गए है।

११ **द्रव्य सम्यक्त्व**--विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलो को द्रव्य सम्यक्त्व कहते है।

१२ **भाव सम्यक्त्व**--केवली प्ररूपित धर्म मे श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना।

(आवश्यक सूत्र तथा कर्मग्रथ भा० १ गा० १५)

प्रवचनसारोद्धार गा० ९४२ से सम्यक्त्व के निम्न भेद भी दिये गए है।

एक भेद—तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्व, यह सभी भेदो मे रहता है।

दो भेद—१ निसर्गज=अपने आप विशुद्धि होने से या जातिस्मरण ज्ञानादि से होना वाला।

२ अधिगम=गुरुके उपदेश से अथवा आगमो के अध्ययन से होने वाला।

तथा—१ द्रव्य स० २ भाव स० अथवा—१ निश्चय स० व्यवहार स०।

तीन भेद—१ कारक २ रोचक ३ दीपक

अथवा—उपशम, २ क्षायिक ३ क्षायोपशमिक।

चार भेद—उपरोक्त तीन मे सास्वादान सम्यक्त्व मिलाने से।

पाच भेद—उपरोक्त चार में वेदक सम्यक्त्व मिलाने पर।

दस भेद—उपरोक्त पाचो को निसर्ग और अधिगम से गुणने पर दस भेद हुए अथवा निसर्गरुचि आदि १० प्रकार की रुचि से दस भेद हुए।

सम्यक्त्व के नौ भंग

चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी १ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ और दर्शन-मोहनीयकर्म की ५ मिथ्यात्वमोहनीय ६ मिश्रमोहनीय और ७ सम्यक्त्वमोहनीय, इन सातों प्रकृतियों के उदय में मिथ्यात्व रहता है और क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से सम्यक्त्व होता है।

इनके नौ भंग इस प्रकार हैं—

(१) सातों प्रकृतियों का क्षय हो जाना-क्षायिक सम्यक्त्व है।

(२) सातों प्रकृतियों का उपशम होना—औपशमिक सम्यक्त्व है।

(३)	प्रथम की चार का क्षय और तीन का उपशम	क्षयोपशम सम्यक्त्व है।
(४)	" पांच " दो "	
(५)	" छः " एक "	
(६)	" चार का क्षय, दो का उपशम और एक का उदय।	क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है।
(७)	" पांच का क्षय एक का उपशम और एक का उदय।	

(८) " छः का क्षय, एक का उदय—क्षायक वेदक सम्यक्त्व है।

(९) " छः का उपशम, एक का उदय—औपशमिक वेदक सम्यक्त्व है।

उपरोक्त ९ भंगों में से प्रथम के दो भंगों को छोड़कर शेष सात भंग में होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इन नौ भंग में से दूसरे और नौवें भंग के स्वामी, अवश्य ही पड़वाई—मिथ्यात्व में गिरने वाले होते हैं। (गुणस्थानद्वार)

समकिती की गति

'सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव की गति कौनसी होती है'–इस विषय पर विचार करना भी आवश्यक है। जिस जीवने सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में आयु का बन्ध कर लिया है, वह तो अपने बन्ध के अनुसार चारो गति मे से किसी भी गति मे जा सकता है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद–सम्यक्त्व के सद्भाव मे, यदि वह मनुष्य या तिर्यंच पचेन्द्रिय है, तो वह मात्र वैमानिक देव का ही आयुष्य बाँधता है, इसके अतिरिक्त दूसरे किसी का आयुष्य बाँध ही नही सकता और यदि वह जीव देव या नारक है, तो मनुष्य आयु का बन्ध करता है।

श्री भगवती सूत्र श० ३० उ० १ मे लिखा है कि–"सम्यग्दृष्टि–क्रियावादी जीव, नैरयिक और तिर्यंच आयु का बन्ध नही करते, किन्तु मनुष्य और देवायु का ही बन्ध करते है"।

उपरोक्त विधान का तात्पर्य यह है कि–जो देव और नारक है, वे तो मनुष्य आयु का ही बन्ध करते है क्योकि न तो देव मरकर पुन देव हो सकता है, न नारक मरकर सीधा देव हो सकता है। इसलिए देव और नारक सम्यग्दृष्टि जीव, एक मात्र मनुष्यायु का ही बन्ध करते है अर्थात् वे मनुष्य गति ही प्राप्त कर सकते है और मनुष्य तथा तिर्यंच पचेन्द्रिय जीव, एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते है। इसी बात को निम्न विधान भी स्पष्ट करता है,–

"कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी, केवल मनुष्यायु का ही बन्ध करते है"। ∴

उपरोक्त विधान नारक और भवनपति तथा व्यन्तर देवो की अपेक्षा मे है। इसका सम्बन्ध मनुष्य तथा तिर्यञ्च पचेन्द्रिय से नही है, क्योकि–मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेद्रिय क्रियावादी–जो कृष्ण, नील और कपोत लेश्या मे है, वे किसी भी गति का आयु–तीन अशुभ लेश्या में नही बाधते है, क्योकि इनको इन तीन लेश्या मे आयु बन्ध के योग्य परिणाम नही होते। आगे चल कर यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि–

"क्रियावादी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च के विषय मे मन पर्यवज्ञानी की तरह जानना चाहिये।" ‡

और निम्न विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि–

"कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, किसी भी गति का आयुष्य नही बाँधते है।"×

∴ भगवती सूत्र भावनगर से प्रकाशित भाग ४ पृ० ३०४

‡ पृ० ३०७ कंडिका २८

× पृ० ३०७ कंडिका २६

इस विधान की टीका मे श्री अभयदेवसूरि ने लिखा है कि—वे क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या मे ही आयु का बन्ध करते है और वैमानिक देवो मे ये तीन शुभ लेश्याएँ ही है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च के विषय में मूल पाठ मे यह स्पष्ट लिखा है कि—

"सम्मदिट्ठी जहा मणपज्जवनाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेइ"।

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च मन पर्यवज्ञानी की तरह वैमानिक देव का ही आयु बाधते है।

यदि मनुष्य और तिर्यञ्च, पुन मनुष्य और तिर्यञ्च का ही आयु बांधे तो उनमें आयु बन्ध के समय मिथ्यादृष्टि होती है। क्योकि इस प्रकार के मरण को 'तद्भवमरण' कहा है और यह बालमरण है (भगवती श २ उ १) और प्रथम गुणस्थान में होता है। कर्मग्रथ के मत से प्रथम और द्वितीय गुणस्थान में भी माना है (कर्मग्रन्थकार तो प्रथम के तीनो गुणस्थानो मे अज्ञान ही मानते है। अर्थात् दूसरे गुणस्थान में ज्ञान नही मानते है)। जो कि मिथ्यात्व के सम्मुख हो रहा है, किंतु सिद्धात और कर्मग्रथ के मत से यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य और तिर्यञ्च का आयुष्य बाँधने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च, सम्यग्दृष्टि तो नही है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च एक मात्र देवायु का ही बन्ध करते है और वह देवायु भी भवनपत्यादि तीन का नही, किन्तु एक मात्र वैमानिक का ही। यह बात निम्न मूल पाठ से सिद्ध होती है,—

"नो भवणवासिदेवाउयं पकरेइ, नो वाणमंतर० नो जोइसिय० वेमाणिय देवाउयं पकरेइ"।*

यदि कहा जाय कि 'यह विधान विशेष प्रकार के सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से किया गया है, सामान्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो मनुष्यायु भी बाँध सकते है'—तो यह भी ठीक नही है। विशेष रूप से विरति का पालन करने वाला तो वैमानिक के ऊँचे देवलोक में जा सकता है, और सामान्य पालक—अविरत सम्यग्दृष्टि, सौधर्म ईशान आदि नीचे के वैमानिक देवों में जाते है। इसमें कोई बाधा नही है, किन्तु उनका अन्य स्थान का आयुष्य बाँधने का कहना सिद्धान्त के अनुकूल नही है। भगवती सूत्र में तीन विकलेन्द्रियो को (जो कुछ समयो में ही—उत्पत्ति के बाद—मिथ्यात्वी होने वाले है, वे इस पतनावस्था में आयुका बन्ध नही कर सकते, इसलिए इन्हे) छोडकर शेष सभी सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी—जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव है, क्रियावादी मे गिना है और उसकी आयुष्य बन्ध का निर्णय कर दिया है। वहा सामान्य विशेष का भेद नही रहा है।

---

* पृ० ३०५ कंडिका २२

भगवतीसूत्र श० १ उ० ८ मे—१ एकान्तबाल को चारो गति के आयु का बन्ध करने वाला बताया है, शेष—२ एकान्त पण्डित और ३ बालपण्डित को देवायु का बन्धक माना है। अविरत सम्यग्-दृष्टि एकान्तबाल नही होते, इसलिए वे भी देवायु का ही बन्ध करते है। टीका मे लिखा है कि—

"अतएव बालत्वे समानेऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोति न शेषाणि"।

श्री भगवती सूत्र श० २६ उ० १ (बन्धी शतक) मे मन पर्यवज्ञानी और नोसज्ञोपयुक्त जीव मे, आयुकर्म की अपेक्षा दूसरे भग को छोडकर शेष तीन भग बताये, तिर्यचपचेन्द्रिय के—१ सम्यग्-दृष्टि २ सज्ञानी ३ मतिज्ञानी ४ श्रुतज्ञानी और ५ अवधिज्ञानी, इन पाँच बोलो मे तीन ही भग होते है। मनुष्यो मे समुच्चय बोल होते हुए भी उपरोक्त पाँच बोलो या इनमे से किसी भी बोल के सद्भाव मे तीन भग * ही पाते है। इनमे मनुष्यायु नही बँधता है, इसीसे दूसरा भग छोडा है। इस दृष्टि मे भी देवायु ही बाँधता है।

श्री भगवती सूत्र श० ६ उ० ४ मे लिखा कि—"वैमानिक देवो मे ही प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान मे निबद्ध आयु वाले होते है, शेष अप्रत्याख्यान निबद्ध आयु वाले होते है। इससे भी सिद्ध होता है कि जिसमें किञ्चित् भी विरति होती है, वह उस अवस्था मे वैमानिक देव का ही आयु बाँधता है।

यदि कहा जाय कि 'सुमुख गाथापति' ने ससार परिमित किया, तो वे सम्यग्दृष्टि थे, और उन्होंने मनुष्यायु का बन्ध किया था। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्यायु का बन्ध कर सकता है? इसका समाधान यह है कि—आयु तो जीवन भर मे केवल एक बार ही बँधता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो जीवन में प्रत्येक हजार बार तक आ जा सकती है (अनुयोगद्वार) तब यह कैसे कहा जाय कि आयुका बन्ध होते समय 'सुमुख' सम्यग्दृष्टि ही था? हा, ससार परिमित करते समय वह अवश्य सम्यग्दृष्टि था, क्योकि समकिती ही ससार परिमित कर सकते है। इसलिए यह मानना चाहिए कि सुमुख गाथापति के आयुष्य का बन्ध सम्यक्त्व के छुटने के बाद हुआ था। इसी प्रकार मेघकुमार के विषय मे भी समझना चाहिए।

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र दशा ६ मे सम्यग्दृष्टि क्रियावादी के नरक मे जाने का उल्लेख है, किंतु उसका आशय यह नही कि उन्होंने सम्यक्त्व अवस्था मे ही नरकायु का बन्ध किया हो। यदि ऐसा माना

---

* कुल चार भंग इस प्रकार है—
१ पाप कर्म या आयु कर्म, भूतकाल में बाँधा, वर्त्तमान में बांधता है और भविष्य में बाँधेगा।
२ बांधा, बाँधता है और आगे नहीं बांधेगा।
३ बांधा, नहीं बांधता है और आगे पर बांधेगा।
४ बांधा, नहीं बांध रहा है और आगे भी नहीं बांधेगा।

जाय, तो भगवती श ३० उ १ में जो कहा है कि—"कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले क्रियावादी मनुष्य और तिर्यञ्च, किसी भी गति के आयुष्य का बन्ध नहीं करते"—इस विधान का विरोध होगा, क्योंकि नरक में तो ये तीन लेश्या ही है और जिस लेश्या में आयुष्य बाँधते है, उसी लेश्या मे आयु पूर्णकर दूसरे भव मे उत्पन्न होते है। यदि सम्यग्दृष्टि एव क्रियावादी अवस्था मे नरकायु का बन्ध होना माना जाय, तो कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मे भी आयु बन्ध होना मानना पडेगा, जो सिद्धात से विरुद्ध होता है। अतएव दशाश्रुतस्कन्ध लिखित सम्यगदृष्टि क्रियावादी के नरकायु का बन्ध सम्यक्त्व के सद्भाव में नहीं, किंतु मिथ्यात्व के सद्भाव मे होना मानना चाहिए।

यो तो सम्यक्त्व को लेकर छठी नरक तक जासकते है, इतना ही नहीं, कोई कोई मन पर्यवज्ञान पाया हुआ जीव, मन पर्यवज्ञान से गिर कर, उस भव को छोडकर नरक मे जासकता है (भगवती श २४-१) तो इसका मतलब यह तो नहीं कि उन्होंने सम्यक्त्व अवस्था मे नरक के योग्य आयुकर्म का बन्ध किया हो। अतएव आगमानुसार यही मानना उचित है कि सम्यक्त्व के सद्भाव मे मनुष्य और तिर्यञ्चपचेन्द्रिय जीव, केवल वैमानिक देव का ही आयु बाँधते है।

सम्यक्त्व को साथ लेकर जीव, इतने स्थानो मे उत्पन्न नहीं होता—१५ परमाधामी देव, तीन किल्विषी देव, पाँच स्थावरकाय, सातवी नरक मे छप्पन अन्तरद्वीप के मनुष्यो मे, और सम्मूच्छिम मनुष्यों मे। इसके सिवाय सर्वत्र जा सकता है।

सम्यक्त्व की स्थिति

सम्यग्दर्शन व्यक्ति की अपेक्षा अनादिअपर्यवसित तो हो ही नहीं सकता। वह सादिसपर्यवसित (आदि अत सहित) या सादिअपर्यवसित (सादि अनन्त) होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व सादिअपर्यवसित होता है। वह एकबार प्राप्त होने के बाद फिर नहीं जाता (प्रज्ञापना पद १८ और जीवाभिगम—समुच्चय जीवाधिकार) क्षायिसम्यक्त्वी का दर्शन सर्वथा विशुद्ध होता है, उसमे अतिक्रमादि दोष लगते ही नहीं है (व्यवहारसूत्र उ० २ भाष्य गा० ७ टीका)

उपशमसम्यक्त्व अवश्य छूटता है। इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। उपशमचारित्र भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है, अर्थात् मोह का उपशम अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है। इसके बाद अवश्य उदय हो जाता है।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल की है। ये छासठ सागरोपम, यदि विजयादि चार अनुत्तर विमान के हो, तो दो बार और

अच्युत कल्प के हो तो तीन बार मे पूरे होते है। इनमे जो मनुष्य के भव होते है, उतना काल अधिक होता है। (प्रज्ञापना पद १८ तथा जीवाभिगम) इसके बाद या तो जीव मुक्त हो जायगा या फिर मिथ्यात्व में गिर जायगा।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के उदय का पूरा अवकाश रहता है। यह एक भव में अधिक से अधिक नौ हजार बार तक आ जा सकती है।

सास्वादन सम्यक्त्व उस समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करता है। इसका गुण-स्थान दूसरा है। जिन विकलेन्द्रियो मे अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व का सद्भाव माना है वह यही है। इसकी स्थिति छ आवलिका और सात समय से अधिक नही है।

वेदक सम्यक्त्व की स्थिति-क्षपक वेदक और उपशम वेदक की तो एक समय की है, किन्तु क्षायोपशमिक वेदक सम्यक्त्व की क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अनुसार-अधिक से अधिक छासठ सागरोपम से अधिक है। यह सम्यक्त्व मोहनीय की प्रकृति का वेदन है।

जिस भव्यात्मा ने एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, वह मोक्ष का अधिकारी अवश्य ही होगा।

दुर्लभ बोधि के कारण

जिन दुष्कृत्यो से धर्म को प्राप्त करना, समझना और श्रद्धा करना कठिन होजाता है, उन्हे दुर्लभ बोधि के कारण कहते है। वे पाच कारण इस प्रकार है।

१ अरिहत भगवान के विपरीत बोलना—जैसेकि अरिहंत सर्वज्ञ नही होते। सभी पदार्थों का त्रिकालज्ञ-पूर्णज्ञाता एक व्यक्ति कदापि नही हो सकता। शास्त्रो मे अरिहतो के अतिशय तथा ज्ञान की झूठी प्रशसा की गई है, इत्यादि।

२ अरिहत प्रणीत धर्म का अवर्णवाद बोलना—विद्वद्भोग्य सस्कृत भाषा को छोडकर प्राकृत जैसी तुच्छ भाषा मे आगमोका होना प्रशसनीय नही है। जैनियो के श्रुतज्ञान, देव, नारक और मोक्ष आदि का ज्ञान किस काम का? साधुओ को जन-सेवा करनी चाहिए। परिश्रम करके अपना पेट भरना चाहिए। साधुओ का चारित्र-जड क्रिया है, इससे जनता का कोई लाभ नही, इत्यादि।

३ आचार्य उपाध्याय के अवर्णवाद बोलना—आचार्य उपाध्याय कुछ भी नही समझते। इन्हे ससार का कोई अनुभव नही है। अभी इनकी उम्र ही क्या है? आदि।

४ संघ की निन्दा करना—साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध सघ होता है। ज्ञान,

दर्शन चारित्र और तप रूप गुणो के समूह ऐसे सघ की निन्दा करना, उसे पशुओ का सघ कहना आदि।

५ जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करके देव हुए हैं, उनकी निन्दा करना, जैसे कि 'भोग के अभाव में—उत्कृष्ट भोग प्राप्ति के लिए अर्थात् कामेच्छा से युक्त होकर तप आदि करके अब ये देवागनाओ के साथ भोग कर रहे हैं,' इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म—प्रवर्त्तक और धर्म—पालको की निन्दा करने वाले, अपने दुष्कृत्यों से मोहनीय कर्म का ऐसा दृढतर वन्धन कर लेते हैं कि जिससे भविष्य मे उन्हें धर्म की प्राप्ति होना कठिन हो जाता है। सम्यग्ज्ञान के निकट आना उनके लिए असभव—सा बन जाता है। इसलिए दुर्लभ—बोधि के उपरोक्त कारणों से सर्वत्र दूर ही रहना चाहिए। (ठाणाग ५—२)

सुलभ बोधि के कारण

जिन सत्कार्यो से जीव का धर्म प्राप्त करना सरल हो जाता है, और बिना कठिनाई के धर्म को समझकर स्वीकार किया जा सकता है उन्हें सुलभ—बोधि के कारण कहते हैं। ये कारण दुर्लभ बोधि के कारण से उल्टे हैं। यथा—

१ अरिहत भगवान का गुणगान करना, जैसे—अरिहत भगवान, राग द्वेष को नष्ट करके वीत—राग हुए हैं, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। देवेन्द्र भी उनकी वन्दना करते हैं। उनकी वाणी पूर्ण सत्य और परम हितकारी है। वे मोक्षगामी हैं। उन्हें मेरा नमस्कार है।

२ अरिहंत प्रणीत धर्म के गुणग्राम करना—वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने में सूर्य के समान, गुणरत्नों का समुद्र, सभी जीवो का परम हितैषि बन्धु—ऐसा श्रुतचारित्र रूप जिनधर्म जयवन्त वर्तो।

३ आचार्य उपाध्याय के गुणगान करना—परहित में रत, पाच आचार के पालक और प्रवर्तक चतुर्विध सघ के नायक, मोक्ष मार्ग के नेता—ऐसे आचार्य उपाध्याय को नमस्कार हो।

४ सघ की स्तुति करना—ससार में सर्वोत्तम गुणो का भडार, जिनधर्म को धारण करके प्रवर्तन करने वाला, ऐसा जगम तीर्थ रूप संघ, प्रतिदिन उन्नत होता रहे।

५ तप और ब्रह्मचर्यादि शील का पालन करके देव हुए उनकी प्रशसा करना—जैसे अहो ! शील का कैसा उत्तम प्रभाव है। जिन्होंने काम पर विजय पाई, जो भोग को रोग मानकर त्याग चुके थे और तप के द्वारा कर्मों को क्षय करते थे, वे कर्मों के शेष रहने से महान ऋद्धिशाली देव हुए है। इत्यादि।

इस प्रकार धर्म, धर्मदाता, धर्म नेता आदि का गुणगान करने से भविष्य में—परभव में धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है। इसलिए दुर्लभबोधि के कारणों को त्यागकर सुलभबोधि के कारणो का विशेष रूप से पालन करना चाहिए। (ठाणांग ५—२)

उत्थान क्रम

ससार से मुक्त होने की योग्यता उसी जीव मे होती है, जो भवसिद्धिक=भव्य हो, जिसका स्वभाव वैसा हो, जिसमे वैसी योग्यता हो। इस प्रकार की योग्यता जीव मे स्वभाव मे ही होती है। यह अनादि पारिणामिक भाव है (अनुयोगद्वार) किन्तु जीव की अनादिकाल से मिथ्यापरिणति चालू ही रही, जिसके कारण वह अपने स्वभाव का प्रकटीकरण नही कर सका। उसकी दशा काली—अन्धकारमयी ही रही—वह 'कृष्णपक्षी' ही बना रहा। अनादिकाल से वह कृष्णपक्षी रहा, किन्तु जब उत्थानकाल प्रारभ होता है, तो सर्वप्रथम वह कृष्णपक्षी मिटकर 'शुक्लपक्षी' होता है। इस प्रकार की अवस्था भी अनन्तकाल—अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी एव क्षेत्र मे देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन रहती है, अर्थात् मोक्ष जाने के इतने पहले से वह शुक्लपक्षी बन जाता है। कई जीव शुक्लपक्षी बनने के साथ सम्यग्दृष्टि हो जाते है और कई मिथ्यादृष्टि अवस्था मे ही रहते है। जो सम्यग्दृष्टि हो जाते है वे बाद मे सम्यक्त्व का वमन करके पुन मिथ्यादृष्टि होते ही है, क्योकि देशोन अर्ध पुद्गल परावर्त्तन तक उन्हे ससार मे रहना होता है और इतना समय सम्यक्त्व अवस्था मे नही रह सकते।

शुक्लपक्षी के लिए अर्ध पुद्गल परावर्त्तन बताया, उसी प्रकार सम्यक्त्व का अन्तर अथवा सादि सान्त मिथ्यात्व का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल यावत् देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन है। (जीवाभिगम समुच्चय जीवाधिकार) इसलिए कोई जीव शुक्लपक्षी होने के साथ ही सम्यक्त्व भी पा लेता है और फिर कालान्तर मे छोड देता है। जब चारित्र—यथाख्यात चारित्र का, व्यक्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर इतना हो सकता है तब सम्यक्त्व का हो इसमे तो असभव जैसी बात ही नही है।

शुक्लपक्षी होने के बाद जीव सम्यक्त्वी होता है, और सम्यक्त्वी के बाद परिमित ससारी होता है। कई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी उसे सुरक्षित नही रख सकते और मिथ्यात्व के झपट्टे में आकर खो देते है, वे अनन्त ससारी भी बन जाते है, किन्तु जो सम्यक्त्व को सुरक्षित रखते है, वे परिमित्त ससारी * बनजाते है, फिर उनका निस्तार शीघ्र हो जाता है। इसके बाद सुलभबोधि होता है। जिससे भावान्तर मे धर्म प्राप्ति सरलता से हो सके। इसके बाद आराधक होना आवश्यक है, जो आराधक हो चुका, वह १५ भव मे अधिक ससार मे नही रहता (भगवती ८—१०) और चरिमभव वर्ती का तो वह भव ही अन्तिम होता है। यदि वह देव हुआ तो फिर देवभव नही पाएगा और मनुष्य भव पाकर

* परिमित्त संसारी का अर्थ जीवाभिगम मूल पाठ से तो उत्कृष्ट देशोन अर्ध-पुद्गल-परावर्त्तन है, किन्तु यहां मध्यम काल स्वल्प संसार ही—लगभग १५ भव ही उपयुक्त लगता है।

मुक्त हो जायगा और मनुष्य हुआ तो उसी भव में मुक्त हो जायगा। (रायपसेनी सूत्र)

इस प्रकार जो भव्य जीव होते हैं वे पहले कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी होते हैं, फिर सम्यक्त्वी, परिमित समारी, सुलभबोधि, और आराधक होते हैं और अंत में चरम शरीरी होकर मुक्त हो जाते हैं।

जीव, मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान में पहुच कर सम्यग्दृष्टि होते हैं। कोई कोई जीव मिथ्यात्व छोड़ने के साथ ही सम्यक्त्व और अप्रमत्त सयत एक साथ बन जाते हैं, तो कोई सम्यक्त्व और देशविरत होने के बाद, अप्रमत्त गुणस्थान स्पर्श कर फिर प्रमत्त होते है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे बढकर, क्षपक श्रेणी प्राप्त कर, क्रमश अयोगी अवस्था पाकर मुक्त हो जाते है।

इस उत्थान क्रम से जीव, जिनेश्वर बनकर सिद्ध हो जाता है। मै भी इस पद को प्राप्त करू और सभी आत्माएँ परम पद को प्राप्त कर परम सुखी बनें।

सम्यग्दर्शन का महत्व

सम्यग्-ज्ञान से जीवादि पदार्थों और हेय, ज्ञेय तथा उपादेय का ज्ञान होता है, किन्तु उस ज्ञान के साथ श्रद्धा गुण नहीं हो, तो वह वास्तविक लाभप्रद नही होता। जाने हुए पर विश्वास होने से ही आचरण मे रुचि होती है। बिना श्रद्धा का ज्ञान, मिथ्या दृष्टि का होता है। जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'दीपक सम्यक्त्व' अथवा 'विषय प्रतिभास ज्ञान' कहते हैं। जैसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि का होता है वैसा ही–कभी उससे भी अधिक और प्रभाव जनक ज्ञान, मिथ्यादृष्टि को भी होता है, फिर भी वह सम्यग्दृष्टि नही माना जाता, क्योकि उसमें दर्शन=श्रद्धा गुण नहीं है। सम्यक्ज्ञान पर श्रद्धा होने से ही सम्यग्दृष्टि माना जाता है। श्री उत्तराध्ययन अ २८ गा ३५ में लिखा कि–

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे"।

अर्थात्–ज्ञान से आत्मा जीवादि भावो को जानता है और दर्शन से श्रद्धान् करता है। श्रद्धा का शुद्ध होना और उसे दृढीभूत करना ही दर्शनाराधना है। जिसमें सम्यग्दर्शन नही, उसकी सभी क्रियाएँ कर्म बन्धन रूप ही होती हैं। श्री सूयगडाग सूत्र अ. ८ मे कहा है कि–

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होई सव्वसो ॥२२॥

–जो व्यक्ति महान् भाग्यशाली और जगत् में प्रशंसनीय हैं, जिनकी वीरता की धाक जमी हुई

है, किन्तु वे धर्म के रहस्य को नही जानते है और सम्यग्दृष्टि से रहित है, तो उनका किया हुआ सभी पराक्रम—दान, तप आदि अशुद्ध है। कर्म बध का ही कारण है।

सम्यग्दर्शन वह आधार रूप भूमिका है कि जिसके ऊपर चारित्र रूपी महल खडा किया जा सकता है। जब तक दर्शन रूपी आधार दृढ नही हो जाय, तब तक पूर्वो का श्रुत भी मिथ्या ज्ञान रूप रहता है और अन्य क्रियाकलाप भी कष्ट रूप रहता है। पूर्वाचार्य ने 'भक्त परिज्ञा' मे कहा है कि—

"दंसण भट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरण पब्भट्ठो।
दंसणमणुपत्तस्स हु परिअडणं नत्थि संसारे ॥६५॥
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरण रहिआ, दंसणरहिया न सिज्झंति" ॥६६॥

अर्थात्—चारित्र भ्रष्ट आत्मा (सर्वथा) भ्रष्ट नही है, किन्तु दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव मे भ्रष्ट एव (सर्वथा) पतित है। जो दर्शन से भ्रष्ट नही है, वह जीव ससार में परिभ्रमण नही करता है, किन्तु चारित्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। वास्तविक पतित तो दर्शन भ्रष्ट जीव ही है, क्योकि केवल चारित्र भ्रष्ट तो दर्शन के सद्भाव मे पुन चारित्र प्राप्त करके सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है, किन्तु दर्शन भ्रष्ट का सिद्धि लाभ करना कदापि सभव नही है।

'सिज्झति चरण रहिया' का यह अर्थ भी है कि—जो भी सिद्ध होते है, वे चारित्र रहित होकर सिद्ध होते है। सिद्धात्माओ में यथाख्यात चारित्र भी नही होता, इसीलिए उन्हे 'नो सयमी नो असयमी' कहते है, किन्तु दर्शन रहित तो कोई भी सिद्ध नही होता। उनमें क्षायक सम्यक्त्व रहता ही है।

श्री आनन्दघनजी ने भी अनन्त जिन स्तवन मे कहा है कि—

"देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धा विना सर्व किरिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो" ॥

जिस प्रकार राख पर लीपना व्यर्थ है, उसी प्रकार बिना शुद्ध श्रद्धा के सभी प्रकार की क्रिया व्यर्थ रहती है।

इन सब उक्तियो का सार——धर्म का मूल सम्यग्दर्शन ही है। आगमकार भगवत ने भी फरमाया कि—

"नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा नहुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥ (उत्तरा० २८-३०)

—दर्शन के विना ज्ञान नही होता, और जिसमे ज्ञान नही, उसमे चारित्र गुण नही होता।

ऐसे गुण हीन पुरुष को मुक्ति नहीं होती और विना मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं होती। इसके पूर्व कहा कि-"**नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं**"-सम्यक्त्व के विना चारित्र नहीं होता।

प्रज्ञापना सूत्र के २२ वे पद मे लिखा कि-"**जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ**"।

अर्थात्-जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक क्रिया लगती है, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया अवश्य लगती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में की हुई क्रिया, सम्यग् चारित्र रूप नहीं होती। श्रीमद् भगवती सूत्र श० ७ उ० २ में भी लिखा कि 'जिसे जीव अजीव का ज्ञान नहीं उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान-खराब पच्चक्खाण है। अजैन मान्यता भी इससे मिलती जुलती है, जिसका वर्णन "सद्धर्ममंडन" की भूमिका मे देखना चाहिए।

"दृष्टि जैसी सृष्टि" की कहावत सर्वत्र तो नहीं, किन्तु यहां चरितार्थ होती है। जिसकी दृष्टि गलत, उसके कार्य भी गलत होते हैं। इसलिए दृष्टि सुधारने पर-महापुरुषो ने विशेष जोर दिया है। आगमो मे सम्यग्दर्शन का महत्त्व बताया ही है, किन्तु बाद के आचार्यों ने भी सम्यक्त्व का गुणगान बडी विशिष्ठता के साथ किया है। उसके थोडे से नमूने यहां दिये जाते हैं।

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहन्ते, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥१॥
सव्वाइं जिणेसर भासिआइं, वयणाइं नन्नहा हुंति।
इअ बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥२॥
अंतोमुहुत्तमित्तंपि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥३॥ (नवतत्त्व प्रकरण)

-जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। यदि क्षयोपशम की मन्दता से कोई यथार्थरूप से नहीं जानता, तो भी "भगवान का कथन सत्य है"-इस प्रकार भाव से श्रद्धान करता है, तो भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है (यही बात आचारांग श्रु० १ अ० ५ उ० ५ में लिखी है) ॥१॥

भगवान् जिनेश्वर के कहे हुए सभी वचन सत्य है, वे कभी भी असत्य नहीं होते-ऐसी निश्चल बुद्धि जिसमें है, उसकी सम्यक्त्व दृढ होती है। ॥२॥

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उसे कुछ न्यून अर्धपुद्गल परावर्त्तन से अधिक संसार परिभ्रमण नहीं होता। इतने काल में वह मोक्ष पा ही लेता है। ॥३॥

'सम्यक्त्वकौमुदी' में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए लिखा कि--

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बंधुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥

--ससार में ऐसा कोई रत्न नही जो सम्यक्त्व रत्न से बढकर मूल्यवान हो। सम्यक्त्व मित्र से बढकर, कोई मित्र नही हो सकता, न बधु ही हो सकता और सम्यक्त्व लाभ से बढकर ससार में अन्य कोई लाभ हो ही नही सकता।

श्लाघ्यं हि चरणज्ञान-वियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात विष दूषिते ॥

ज्ञान और चारित्र से रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन प्रशसा के योग्य है, किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित होने पर ज्ञान और चारित्र प्रशसित नही होते।

एक आचार्य ने सम्यक्त्व का महत्व बताते हुए लिखा कि--

असमसुखनिधानं, धाम संविग्नतायाः,
भवसुख विमुखत्वो,-द्दीपने सद्विवेकः।
नरनरकपशुत्वो-च्छेदहेतुर्नराणाम्,
शिवसुखतरु बीजं, शुद्ध सम्यक्त्व लाभः ॥

--शुद्ध सम्यक्त्व, अतुल सुख का निधान है। वैराग्य का धाम है। ससार के क्षण भगुर और नाशवान सुखो की असारता समझने के लिए सद्विवेक रूप है। भव्य जीवो के नरक, तिर्यंच और मनुष्य सबधी दुःखो का नाश करने वाला है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष सुख रूप महावृक्ष के बीज के समान है।

दिगम्बर आचार्य श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव मे कहा है कि--

सद्दर्शनं महारत्नं, विश्वलोकैक भूषणम्।
मुक्ति पर्यन्त कल्याण, दानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥

सम्यग् दर्शन सभी रत्नो में महान् रत्न है, समस्त लोक का भूषण है। आत्मा को मुक्ति प्राप्त होने तक कल्याण-मगल देने वाला चतुर दाता है।

चरणज्ञानयोर्बीजं, यम प्रशय जीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं, सद्भिःसद्दर्शनं मतम् ॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का बीज है। व्रत महाव्रत और उपशम के लिए, जीवन स्वरूप है। तप और स्वाध्याय का यह आश्रय दाता है। इस प्रकार जितने भी शम, दम, व्रत, तप आदि हो है, उन सब को यह सफल करने वाला है।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं, चरणज्ञानविच्युतम्।
न पुनः संयमज्ञाने, मिथ्यात्व विषदूषिते॥

ज्ञान और चारित्र के नही होने पर भी अकेला सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय होता है। इसके अभा में संयम और ज्ञान, मिथ्यात्व रूपी विष से दूषित होते है।

आराधनासार में लिखा है कि—

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना,प्रोक्तं जिनेन स्वयं।
सम्यक्त्वाद्भुत रत्नमेतदमलं.चाभ्यस्तमप्यादरात्॥
भंक्त्वासंभ्रमभं कुकर्मनिचयं शक्त्याच सम्यक्परं—
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते॥

जो मनुष्य तीन जगत के नाथ ऐसे जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित, सम्यक्त्व रूप अद्भु रत्न का आदर सहित अभ्यास करता है, वह निन्दित कर्मों को बल पूर्वक समूल नष्ट करके विलक्ष आनन्द प्रदान करने वाले पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

दर्शनपाहुड में लिखा कि—

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोउण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥

—जिनेश्वर भगवान ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि 'धर्म, दर्शन मूलक ही है। इसलिए सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे वंदना नही करनी चाहिए। अर्थात्—चारित्र तभी वंदनीय है जब कि सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

चारित्र पालने में असमर्थ जीवों को उपदेश करते हुए पूर्वाचार्य 'गच्छाचारपइन्ना' लिखते है कि—

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं॥
ओसन्नोऽविविहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ।
चरणकरण विसुद्धं, अववूहिंतो परूविंतो॥

—यदि तू भगवान के कथानुसार चारित्र नही पाल सकता, तो कमसेकम जैसा वीतराग भगवान् प्रतिपादन किया है—वैसा ही कथन तुझे करना चाहिए। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी दि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थ रूप से बलपूर्वक निरूपण करता है, तो वह अपने कर्मों को ाय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य में सुलभबोधी होगा।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपरपार है। सभी जैनाचार्यों ने एक मत से इस बात ो स्वीकार की है, किन्तु उदय के प्रभाव से कुछ लोग ऐसे भी है जो "तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन" ो नही मानकर, अपनी मति कल्पना से सिद्धात को दूषित करते है और अपनी समझ मे आवे उसको ा सत्य मानने को सम्यक्त्व कहते है—भलेही वे खुद भूल कर रहे हो। कुछ ऐसे भी है जो आगमो ा अर्थ अपनी इच्छानुसार—विपरीत—करके मिथ्या प्रचार करते हुए सम्यक्त्व को दूषित करते है। और पासको की श्रद्धा बिगाड कर उन्हे धर्म से विमुख बनाते है। ऐसे ही लोगो का परिचय देते हुए त्रकृताग १—१३—३ मे गणधर महाराज ने फरमाया है कि—

विसोहियं ते अणुकाहयं ते, जे आतभावेण वियागरेज्जा।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा॥

—जो निर्दोष वाणी को विपरीत कहते है, उसकी मनचाही व्याख्या करते है और वीत—ग के वचनों मे शका करके झूठ बोलते है, वे उत्तम गुणो से वंचित रहते है।

ऐसे लोगो से सावधान करते हुए विशेपावश्यक मे आचार्यवर ने बताया कि—

सव्वण्णुप्पामण्णा दोसा हु न संति जिणमए केई।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा॥१४६६॥

—सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु के द्वारा प्रवर्तित होने से, श्री जिनधर्म में किंचित् मात्र भी दोष ी है। यह धर्म सर्वथा शुद्ध, पूर्णरूप से सत्य और उपादेय है, किन्तु अनुपयोगी गुरुओ के कथन से थवा अयोग्य शिष्यो से जिनशासन मे दोष उत्पन्न होते है। यह सारा दोष उन दूषित व्यक्तियो का , जो अपने दोषो से जिनमत को दूषित करते है। इसलिए व्यक्तियो के दोष को देखकर धर्म को पत नही मानना चाहिए।

इस प्रकार दूषित श्रद्धा वालो से बचकर, सम्यग्श्रद्धान को दृढीभूत करने का ही प्रयत्न ना चाहिए। सम्यक्त्व को दृढीभूत करने के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते है कि—

मेरूव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठ—मलं तिमूढ उम्मुक्कं।
सम्मदंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा॥

—प्रवचन (जिनागम) के अभ्यास से आठ प्रकार के मल से रहित तीन प्रकार की मूढता से वचित और मेरु के समान निष्कम्प ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए आत्मार्थी जनो को नित्य ही जिन प्रवचन का श्रवण पठन करते ही रहना चाहिए।

आत्म बन्धुओ! समझो। यह सम्यग्दर्शन ऐसी चीज नही है जो सबकी अपनी मनमानी और घर जानी हो। थोडीसी विपरीतता के कारण, जमाली मिथ्यादृष्टि बन गया, तो अपन किस हिसाब मे है। पूर्वो का ज्ञान धराने वाले भी मिथ्यादृष्टि हो जाते है, तो आजकल के थोथे विद्वान–कुतर्की पडितो पर विश्वास करके अपने दर्शन गुण से क्यो भ्रष्ट होते हो? सम्यक्त्व, इन लौकिक पडितो या बडे बडे नेताओ की जेबो मे–स्वच्छन्द मस्तिष्क में, या वाक्पटुता में नही भरी है। वह है निर्ग्रंथ प्रवचन मे। "सद्धा परम दुल्लहा" (उत्तरा० ३–६) सम्यग् श्रद्धान की प्राप्ति परमदुर्लभ है। इस महान् रत्न को सम्हाल कर रक्खो। तुम्हारी बुद्धि पर डाका डालकर इस रत्न को लूटने वाले लुटेरे, साहुकारो के रूप मे कई पैदा हो गए है। उनकी मोहक और धर्म के लेबलवाली, मीठी शराब मत पीलेना। असल नकल की परीक्षा, निर्ग्रंथ प्रवचन अथवा ज्ञानी गुरु से करना। श्री आचाराग सूत्र १–५–६ में लिखा है कि 'पर प्रवाद तीन तरह से तपासना चाहिए– १ गुरु परपरा से २ सर्वज्ञ के उपदेश से ३ या फिर अपने जातिस्मरण ज्ञान से। अभी तीसरा साधन प्राय नही है। दो साधनो से ही परीक्षा करनी चाहिए, अन्यथा धोखा खा जाओगे और खो बैठोगे–इस दुर्लभ रत्न को।

धन्य है वे प्राणी, जो अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा करते हुए दृढ रहते है और दूसरो को भी दृढ बनाते है। उन्हे बारबार धन्यवाद है।

। जिणुत्त तत्ते रुइ लक्खणस्स, नमो नमो निम्मल दंसणस्स ।

सम्यक्त्व रत्न की दुर्लभता

ससार मे सभी वाते सुलभ है। धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब परिवार, राज्याधिकार, दैविकऋद्धि, तीर्थंकर भगवान् से साक्षात्कार, निर्ग्रंथ प्रवचन का श्रवण, एव द्रव्य सयम की प्राप्ति भी जीव को कभी हो सकती है। पूर्वो तक का श्रुत भी प्राप्त हो सकता है और अनेक प्रकार की आश्चर्य जनक लब्धिया भी मिल जाती है, किन्तु सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति महान् दुष्कर है। जो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि, चारित्र क्रिया का उत्तम रीति से पालन कर अहमेन्द्र बन जाते है, वे भी इस रत्न से वञ्चित होने के कारण वहाँ से नीचे गिरकर फिर चौरासी के चक्कर में भटकते रहते है। यदि उनकी आत्मा मे श्रद्धा का निवास होता, तो उनकी मुक्ति मे कोई सन्देह नही था।

यो तो मनुष्य-भव की प्राप्ति भी दुर्लभ है और आर्य क्षेत्र भी दुर्लभ है, किन्तु श्रद्धा तो 'परम दुर्लभ' है। भगवान ने फरमाया है कि **"सद्धा परम दुल्लहा"** (उत्तरा० ३-९)

इसलिए सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति और रक्षण मे पूर्ण रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, वह जीव, निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा। 'नवतत्त्व प्रकरण' मे कहा है कि-

> **"अंतो मुहुत्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।**
> **तेसिं अवड्डपुग्गल, परियट्टो चेव संसारो ॥**

अर्थात्-जिस जीव ने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया हो, उसका ससार भ्रमण अर्ध पुद्गल परावर्त्तन से विशेष नही होता। इसके पूर्व ही वह मुक्त हो जाता है।

इतना तो करो

परम तारक जिनेश्वर भगवान् फरमाते है कि हे जीव ! यदि तू धर्म का आचरण बराबर नही कर सकता है, तो कम से कम श्रद्धा और प्ररूपणा तो शुद्ध कर, जिससे तेरी आत्मा भविष्य में भी सुलभ बोधि बने। 'गच्छाचारपइन्ना' में लिखा है कि–

"जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागे हिं ॥
ओसन्नोऽवि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभ बोहीअ।
चरण करण विसुद्धं, उववूहिंतो परूविंतो ॥

अर्थात्–यदि तू भगवान् के कथनानुसार चारित्र का पालन नही कर सकता तो कम से कम प्ररूपणा तो वैसी ही कर–जैसी वीतराग भगवान् ने बतलाई है। कोई व्यक्ति शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्धमार्ग का यथार्थ रूप से बल पूर्वक प्रतिपादन करता है, तो वह अपने कर्मों को क्षय करता है। उसकी आत्मा विशुद्ध हो रही है। वह भविष्य मे अवश्य ही सुलभबोधि होगा।

आचारांग श्रु० १ अ० ६ उ० ४ में भी कहा है कि–**"नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरम' इक्खंति,"** अर्थात् कई साधु आचार से=सयम से पृथक होजाने पर भी आचार गोचर का यथार्थ प्रतिपादन करते है। व्यवहार सूत्र में बताया है कि–यदि सुसाधु नही मिले, तो चारित्र से शिथिल किन्तु बहुश्रुत (एव यथार्थ कहने वाले) साधु वेशी के समक्ष आलोचना करे। यदि इसका भी योग नहीं मिले,तो साधुता छोडे हुए बहुश्रुत श्रावक के समक्ष आलोचना करे। इनके समक्ष आलोचना भी तभी हो सकती है जबकि वे चारित्र युक्त नही होने पर भी, सम्यक्त्व युक्त रहे हो। सम्यक्त्व के अभाव में उनकी उपयोगिता नही है।

हा, तो कहने का तात्पर्य यह कि लाख लाख प्रयत्न करके भी सम्यक्त्व को स्थिर रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन कायम रहा, तो सम्यक्चारित्र अवश्य प्राप्त होगा और यदि सम्यग्दर्शन कायम नही रहा, तो फिर उसके अभाव में चारित्र का वस्तुत कोई मूल्य नही है। सम्यक्त्व शून्य चारित्र ससार का ही कारण बनता है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति और रक्षा का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

आस्तिकता

सम्यग्दृष्टि का मूल लक्षण ही श्रद्धा–आस्तिकता है। इसी पर धर्म का आधार है। यह आस्तिकता वास्तविक होती है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

आस्तिक्यवादी–१ आत्मा है, २ आत्मा अनादिकाल से है और अनन्तकाल–सदा ही रहेगा ३ आत्मा कर्म का कर्त्ता है, ४ आत्मा कर्म का भोक्ता भी है ५ मोक्ष है और ६ मोक्ष का उपाय–सम्यग्ज्ञानादि भी है। इस प्रकार मानने वाला।

आस्तिक प्रज्ञ–आस्तिक बुद्धिवाला, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष आदि को समझनेवाला।

आस्तिक दृष्टि–जिसकी आस्तिक बुद्धि, श्रद्धा से युक्त है।

सम्यग्वादी–तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा के साथ उसका वाद–अभिप्राय भी सम्यग् ही व्यक्त होता है।

नित्यवादी–द्रव्य तथा उसके गुण की ध्रुवता–नित्यता का हामी होता है।

परलोकवादी–स्वर्ग, नरक, मोक्ष और पूर्व जन्म, पुनर्जन्म को मानने वाला होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध–६)

आत्मवादी–आत्मा का अस्तित्त्व, उसके स्वभाव, उसकी शुद्ध एव अशुद्ध दशा को माननेवाला।

लोकवादी–आत्मा को एक ही नही मानकर अनेक मानने वाला अथवा जीव अजीवात्मक अथवा षट्द्रव्यात्मक लोक को मानने वाला। अधोलोक–नरक, भवनपत्यादि युक्त, तिर्यग् लोक–मनुष्य, तिर्यञ्च, व्यन्तर, ज्योतिषी आदि युक्त ऊर्ध्व लोक– वैमानिक तथा सिद्ध गति मय लोक का स्वीकार करने वाला।

कर्म वादी–ज्ञानावरणादि आठ कर्म, इनका आत्मा के साथ वन्ध, फल आदि को मानने वाला।

क्रियावादी–आत्मा के शुभाशुभ व्यापार, जिनसे कर्म वन्ध हो अथवा क्षय हो। कर्म वन्ध की कारण क्रिया अथवा कर्म क्षय करने की क्रिया को मानने वाला। (आचाराग १–१–१)

इस प्रकार आस्थावान प्राणी सम्यक्त्व का पात्र होता है। वह आस्रव, सवर और निर्जरा, मोक्ष, उत्तम आचार का उत्तम फल, दुराचार का दुःख दायक फल, तीर्थंकर, सिद्ध, अनगार, सम्यक्त्व, विरति आदि को यथातथ्य मानने वाला होता है। इस प्रकार सभी सम्यक् भावो की श्रद्धा करनेवाला ही सच्चा आस्तिक है और सच्चा आस्तिक ही जैन होता है।

षड् द्रव्य

यह ससार छ द्रव्य मय है। जिसमे गुण और उसकी पर्याय रहे, वह द्रव्य है। द्रव्य के आधार मे ही गुण रहते है और गुण की विभिन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। ये द्रव्य इस प्रकार है—

१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ जीवास्तिकाय ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल। इनमें से जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल—ये तीन द्रव्य अनन्त है, शेष तीन द्रव्य केवल एक एक ही है।

काल द्रव्य की सीमा मनुष्य क्षेत्र अथवा चर—ज्योतिषी विमानो तक ही है। धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय, असख्येय योजन प्रमाण लोक व्यापी है, तब आकाशास्तिकाय, लोक के अतिरिक्त अनन्त अलोक में भी है। लोक मे छ द्रव्य है, किन्तु अलोक में तो एक आकाश मात्र ही है। इस लोक के चारो ओर अलोक रहा हुआ है। अलोक, लोक मे अनन्त गुण बडा है। चारो ओर और ऊपर नीचे फैले हुए अलोक मे यह लोक, सिन्धु में बिन्दु के समान है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के जितने (असख्य) प्रदेश है, उतने ही एक जीव के आत्म प्रदेश है। (ठाणाग ४—३ तथा भगवती ८—१०)

जीवास्तिकाय का स्वरूप जीव तत्त्व में और शेष पाच द्रव्य का स्वरूप, अजीव तत्त्व में बताया गया है।

जीव अनन्त है और पुद्गल भी अनन्त है, किन्तु जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुण अधिक है। क्योकि प्रत्येक ससारी जीव के प्रत्येक प्रदेश पर, कर्म पुद्गल के अनन्त आवरण लगे हुए है, इसके सिवाय अबद्ध पुद्गल भिन्न है। पुद्गल मे भी काल अनन्त गुण है, क्योकि यह जीव और अजीव पर प्रति समय वर्त्तता है। अनन्तकाल बीत चुका और अनन्त बीतेगा। (प्रज्ञापना ३)

नौ तत्त्व

तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवान ने तत्त्वो का जैसा स्वरूप बताया, उसपर पूर्णरूप से श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है और यही जैनत्त्व का मूल आधार है। वे नौ तत्त्व है। उनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आश्रव ६ सवर ७ निर्जरा ८ बध और ९ मोक्ष।

(उत्तराध्ययन २८, स्थानाग ९)

इन नौ तत्त्वो का विस्तृत स्वरूप बताने के लिए स्वतन्त्र ग्रथ की आवश्यकता है। यहा सक्षेप में उनका स्वरूप बताया जाता है।

जीव तत्त्व

जीव–जो जीता है, जिसमे ज्ञान है, उपयोग है, सुख दु ख का अनुभव करता है, प्राण युक्त है। जो वीर्य (शक्ति) वाला है, प्रयत्न शील है–वह जीव कहलाता है। आत्म शक्ति से सभी जीव समान है, किन्तु ससार मे रहा हुआ जीव, विविध स्वरूपो से पहचाना जाता है। अतएव जीव के विविध भेद इस प्रकार है।

एक भेद–सभी जीव, चेतना एव उपयोग लक्षण युक्त है। सभी मे आत्मा का ज्ञान, दर्शनादि गुण विद्यमान रहता है, अतएव सग्रह नय की अपेक्षा जीव का एक भेद है।

दो भेद–सिद्ध और ससारी अथवा मुक्त और बद्ध।

तीन भेद–सिद्ध, त्रस और स्थावर।

चार भेद–स्त्री वेदी, पुरुषवेदी, नपुसक वेदी और अवेदी।

पाच भेद–नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध।

छ भेद–एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय चौरेन्द्रिय, पचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

सात भेद—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय और अकाय।

आठ भेद—नारक, तिर्यच, तिर्यचनी, मनुष्य, मनुष्यनी, देव, देवी और सिद्ध।

नौ भेद—नारक, तिर्यच, मनुष्य, और देव इन चार के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से ८ भेद और ९ सिद्ध।

दस भेद—पृथ्वीकाय से वनस्पति काय तक के पाच, ६ बेन्द्रिय ७ तेन्द्रिय ८ चौरेन्द्रिय ९ पचेन्द्रिय और १० सिद्ध।

ग्यारह भेद—एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दस भेद हुए और ग्यारहवे सिद्ध।

बारह भेद—पाच स्थावर के सूक्ष्म और बादर—ये दस भेद ग्यारहवे त्रस (ये बादर ही है) और सिद्ध।

तेरह भेद—छ काय के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये १२ भेद और सिद्ध।

चौदह भेद—१ नारक २ तिर्यच ३ तिर्यचनी ४ मनुष्य ५ मनुष्यनी ६ भवनपति ७ वाणव्यन्तर ८ ज्योतिषी ९ वैमानिक १०–१३ चारो निकाय की देवियाँ और १४ सिद्ध।

पन्द्रह भेद—१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २ बादर एकेन्द्रिय, ३ बेन्द्रिय ४ तेन्द्रिय ५ चौरेन्द्रिय ६ असज्ञी-पचेन्द्रिय ७ सज्ञीपचेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यो १४ हुए और १५ सिद्ध।

इस प्रकार समस्त जीवो के भेद किये गये है। सिद्ध भगवत को छोडकर ससारी जीवो के विशेष भेद किये जाने पर कुल ५६३ भेद होते है।

ससारी जीवों के ५६३ भेद

नारक के १४ भेद—

१ रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ बालुकाप्रभा ४ पकप्रभा ५ धूम प्रभा ६ तम प्रभा और ७ तमस्तम प्रभा, इन सात के पर्याप्त और अपर्याप्त यो १४ भेद हुए।

तिर्यच के ४८ भेद—

२२ पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चारों के प्रत्येक के—१ सूक्ष्म २ बादर ३ पर्याप्त और ४ अपर्याप्त, यो १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के—१ सूक्ष्म २ प्रत्येक और ३ साधारण, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यो ६ भेद हुए। ये एकेन्द्रिय जीवो के २२ भेद हुए।

६ बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, इन तीन विकलेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त यो ६ भेद हुए।

२० पचेन्द्रिय तिर्यंच के—१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरपरिसर्प ५ भुज परिसर्प, इन पांच के सन्नी और असन्नी यो १० भेद हुए और इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त कुल २० भेद हुए।

३०३ मनुष्य के—

१५ कर्मभूमिज मनुष्य के—५ भरत ५ ऐरावत और ५ महाविदेह के—कुल १५ भेद।

३० अकर्मभूमिज के—५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यक्वास ५ हेमवत और ५ हैरण्यवत, इन क्षेत्रो में उत्पन्न मनुष्यों के कुल ३० भेद हुए।

५६ छप्पन अन्तरद्वीपो में उत्पन्न मनुष्यो के ५६ भेद।

ये कुल भेद १०१ हुए, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से २०२ हुए। और १०१ भेद समुर्च्छिम मनुष्य के। इस प्रकार मनुष्य के कुल ३०३ भेद हुए।

१९८ देवों के भेद—

१० भवनपति देव—१ असुरकुमार २ नागकुमार ३ सुवर्णकुमार ४ विद्युत्कुमार ५ अग्निकुमार ६ उदधिकुमार ७ द्वीपकुमार ८ दिशाकुमार ९ पवनकुमार और १० स्तनित कुमार।

१५ परमाधार्मिक देव—१ अम्ब २ अम्बरीष ३ श्याम ४ शबल ५ रौद्र ६ अवरुद्र ७ काल ८ महाकाल ९ असिपत्र १० धनुष ११ कुम्भ १२ वालुका १३ वैतरणी १४ खरस्वर और १५ महाघोष।

२६ वाणव्यन्तर देव—१ पिशाच २ भूत ३ यक्ष ४ राक्षस ५ किन्नर ६ किंपुरुष ७ महोरग ८ गधर्व ९ आणपन्नीय १० पाणपन्नीय ११ इसिवाई १२ भूयवाई १३ कन्दे १४ महाकन्दे १५ कुम्हण्डे १६ पयगदेवे। ये सोलह और १० प्रकार के जम्भकदेव—१ अन्न जम्भृक २ पान जम्भृक ३ लयन जम्भृक ४ शयन जम्भृक ५ वस्त्र जम्भृक ६ फलजम्भृक ७ पुष्प जम्भृक ८ फलपुष्प जम्भृक ९ विद्या जम्भृक और १० अग्नि जम्भृक।

१० ज्योतिषी देव—१ चन्द्र २ सूर्य ३ ग्रह ४ नक्षत्र और ५ तारा, ये पाच चर विमान वाले (चलते फिरते) और पाच स्थिर विमान वाले— यो दस भेद हुए।

३ किल्विषी देव—१ तीन पल्योपम की स्थिति वाले (ये प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे रहते हैं) २ तीन सागर की स्थिति वाले (ये तीसरे और चौथे देव लोक के नीचे रहते हैं) ३ तेरह सागरोपम की स्थिति वाले (ये छठे देवलोक के नीचे रहते है।)

३५ वैमानिक देव—

१२—कल्पोत्पन्न—१ सौधर्म २ ईशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्म ६ लान्त
७ महाशुक्र ८ सहस्रार ९ आणत १० प्राणत ११ आरण और १२ अच्युत

१४ कल्पातीत—

९ नौ ग्रैवेयक—ग्रैवेयक के तीन त्रिक है । प्रत्येक त्रिक के नी
मध्य में और ऊपर—यो तीन तीन भेद से कुल ९ भेद हुए
इनकेनाम इस प्रकार है,—१ भद्र २ सुभद्र ३ सुजात ४ सुमन
५ सुदर्शन ६ प्रियदर्शन ७ आमोह ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशो
धर ।

५ अनुत्तर—१ विजय २ वैजयन्त ३ जयन्त ४ अपराजित औ
५ सर्वार्थसिद्ध ।

९ लोकान्ति—१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ वरुण ५ गर्दतोयक ६ तु
७ अव्याबाध ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट ।

ये कुल ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो भेदो से कुल १९८ भेद हुए
इस प्रकार नारक के १४, एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६, तिर्यंच पचेन्द्रिय के २०, मनु
के ३०३ और देव के १९८, यो कुल भेद ५६३ हुए ।

जीवो के भेदो का वर्णन प्रज्ञापना , जीवाभिगम, उत्तराध्ययन अ० ३६ आदि मे है ।

गुणस्थान

जीव, कर्म के सयोग से बन्धन में पडा हुआ है । इसीलिए उसकी दशा विचित्र एव वि भि
प्रकार को दिखाई देती है । जब पाप कर्मो का उत्कृष्ट उदय होता है, तब आत्मा की निज श
अत्यन्त दब जाती है । उसे अपनी दशा तथा शक्ति का भी भान नही होता । वह स्वयभू-सर्वसत्ता,
विकारी होते हुए भी अपने को नही पहिचान सकता और अपना स्वरूप परमय-पुद्गल रूप ह
समझता है । किन्तु जब उसपर से पाप का भार कुछ हलका होता है, तब वह अपने को पहिचानता
और निज गुणो को विकसित करके परमात्मदशा को प्राप्त करलेता है । आत्मा के इस क्रमिक विकास
को जैन दर्शन में "गुणस्थान' के रूप में बताया है । समवायांग १४ में इन्हे 'जीवस्थान' सज्ञा दी ग
है। इनका सक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है ।

१ मिथ्यात्व गुणस्थान-मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से, जीव की उल्टी दृष्टि होना। इस गुणस्थान मे रहे हुए जीवो की मान्यता-श्रद्धा यथार्थ नहीं होती। वे या तो किसी दर्शन को मानते ही नही, यदि मानते है, तो कुदर्शन-असत्य पक्ष के मानने वाले होते है। इस गुणस्थान मे अनन्त जीव, सदाकाल बने रहते है। अनन्त स्थावर और असंख्य विकलेन्द्रिय जीव, इसी गुणस्थान में रहते है। पचेन्द्रिय जीवो में से भी मिथ्यादृष्टि जीव ही सदैव असंख्य गुण होते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी बहुत लम्बी है। अनन्तकाल तक इसमें पड़े रहे, तो भी छुटकारा नहीं, विश्व में ऐसे अनन्त जीव है जो इस मिथ्यात्व गुणस्थान को कभी नही छोड सकते और सदा सर्वदा इसी में रहते है। मिथ्यात्व की उत्कृष्ट बन्ध स्थिति तो सित्तर कोडाकोडी सागरोपम की है, किन्तु प्रवाह के कारण यह चलती ही रहती है-(कूप जल की तरह चालू रहती है।)

२ सास्वादन गु०-उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने के बाद, जब जीव मिथ्यात्व मे आता है, तब सम्यक्त्व छूटने के बाद और मिथ्यात्व में पहुँचने के पूर्व, इस गुणस्थान को प्राप्त होता है। उसकी दशा ऐसी होती है कि जिसमें जीव में सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद-वमन की हुई खीर के स्वाद की तरह बना रहता है। इसका काल बहुत कम है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका।

३ मिश्र गुणस्थान-सादि मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व को छोड़कर, सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय अथवा सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त करते समय जीव मिश्र दशा युक्त होता है। इस स्थिति मे जीव की ऐसी दशा होती है कि जिससे वह किसी एक निश्चय पर नही आकर दुविधा में रहता है। वह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दो मे से एक को भी स्वीकार नही करके दोनो का कुछ अश अपने मे पाता है। जिस प्रकार शकर मिला हुआ दही खाने से, खट्टा और मीठा दोनो प्रकार का स्वाद मुँह मे रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का असर बना रहना-मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं है, तो वह शुद्धता की ओर बढकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो, तो मिथ्यात्व मे चला जाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-उपरोक्त दशा से आगे बढने पर-अर्थात्-अनन्तानुबन्धी कषाय चौक और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशमादि होने पर, जीव यथार्थ दृष्टि को प्राप्त करता है। उसमें स्व-पर तथा हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक जागृत होता है। वह तत्त्व के वास्तविक स्वरूप पर विश्वास करता है, किन्तु श्रद्धा के अनुसार पालन नही कर सकता। रुचि होते हुए भी चारित्र मोहनीयकर्म-अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से, वह विरति का पालन नही कर सकता है। सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट (अपतन अवस्था मे-क्षायक समकित की) सादिअपर्यवसित-अनन्त काल, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की छासठ सागरोपम से कुछ अधिक है। यह स्थिति सम्यक्त्व

की है। इस गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति तो ३३ सागरोपम से कुछ अधिक है। ऐसा कर्मग्रथ २ गा २ के अर्थ मे लिखा है। इसके बाद विरति आने पर आगे बढ सकता है। यह मान्यता ठीक लगती है।

५ **देशविरत गुणस्थान**—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव, सावद्य क्रियाओं अर्थात् असयमी जीवन का सर्वथा त्याग तो नही कर सकता, किन्तु देश से=कुछ अशो में त्याग करके श्रावक के व्रतो का पालन करता है। कोई एक व्रत का--या उसके अश का पालन करता है, तो कोई पूर्ण बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोडपूर्व की है।

६ **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**—जिन जीवो के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नही रहता, किन्तु सज्वलन कषाय चतुष्क का उदय होता है, वे सभी पाप प्रवृत्ति का त्याग कर देते है और साधु धर्म—पाच महाव्रत आदि का पालन करते है। इस गुणस्थान मे निद्रा, विषय, कषाय आदि का अवकाश रहता है। इसलिए इस गुणस्थान को 'प्रमत्त सयत' कहा है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व की है।

७ **अप्रमत्त संयत गुणस्थान**—इस गुणस्थान वाले जीव—निद्रा, विकथा, विषय, कषाय आदि प्रमाद का सेवन नही करते, किन्तु धर्मध्यान मे ही रहते है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

८ **निवृत्ति बादर गुणस्थान**—जिस अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन तीन चौक रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो चुकी, वह निवृत्ति बादर गुणस्थान का स्वामी है। क्षपक--श्रेणी मे वह इन कषायो को समूल नष्ट करना प्रारभ करता है। यहा उसकी एक धारा जम जाती है, या तो क्षपक या फिर उपशमक। क्षपकश्रेणी में वह कषायो को नष्ट करने लगता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

९ **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान**—यहाँ सज्वलन के क्रोधादि की पूर्ण निवृत्ति नही हुई, इसलिए इसे 'अनिवृत्ति—बादर—सम्पराय गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान मे रहा हुआ जीव, पुरुष हो, तो सत्ता की अपेक्षा पहले नपुसकवेद, फिर स्त्रीवेद, और बाद में × हास्यादि छ, इसके बाद पुरुषवेद तथा सज्वलन के क्रोध, मान और माया को नष्ट कर देता है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त है।

१० **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान**—यहा सज्वलन के लोभ के दलिको का सूक्ष्म रूप से उदय होता है। इसकी स्थिति ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की है।

× यदि वह स्त्री हुई, तो पहले नपुसक वेद, फिर पुरुष वेद, और उसके बाद हास्यादि ६, फिर स्त्री वेद को क्षय करेगा अर्थात् निज वेद बाद में क्षय होता है।

११ उपशान्त–कषाय वीतराग गुणस्थान–जिसने उपशम श्रेणी प्रारभ की हो,वह सभी कषायो को उपशान्त करके इस गुणस्थान मे आता है। इस गुणस्थान मे किसी भी कषाय=मोह का किञ्चित् भी उदय नही रहता, सर्वथा उपशम हो जाता है। ऐसी आत्मा, वीतराग दशा मे होती है। किन्तु यह स्थिति थोडी ही देर रहती है। अन्तर्मुहूर्त मे ही वह उस दशा से वापिस लौटती है। जिस प्रकार वह ऊपर चढी थी, उसी प्रकार नीचे उतरती है। होते होते कोई आत्मा मिथ्यात्व मे पहुँच जाती है। यदि जीव क्षायक समकिति हुआ हो,तो वह चौथे गुणस्थान से नीचे नही जाता। इस गुणस्थान से आगे बढने का तो कोई मार्ग ही नही है,केवल नीचे ही उतरना पडता है। जो क्षपकश्रेणी वाले जीव है,वे इस गुणस्थान का स्पर्श ही नही करते। वे दसवे से सीधे बारहवे गुणस्थान मे पहुँच जाते है। इसकी स्थिति भी ज० एक समय उ० अन्तर्मुहूर्त की है।

१२ क्षीणमोहवीतराग गुणस्थान–सभी कषायो को सर्वथा क्षय करके –कर्म सेना के महारथी मोहराज को नष्ट करके,आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त होती है। इसकी स्थिति मात्र अन्तर्मुहूर्त की ही है।

१३ सयोगी केवली गुणस्थान–मोहनीय कर्म के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त–राय कर्म को सर्वथा क्षय करके, आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त कर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनजाती है। यहा जो भी प्रवृत्ति होती है, वह कषाय–इच्छा से नही, किन्तु मन, वचन और काया के योग के कारण होती है। इसलिए इसे सयोगी केवली गुणस्थान कहा है। इसकी स्थिति ज० अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व की है।

१४ अयोगी केवली गुणस्थान–सयोगी केवली भगवान् के मन वचन और काया के योगो का व्यापार रुक कर अयोगी हो जाना, इस गुणस्थान मे प्रवेश करना है। जब केवलज्ञानी भगवान् के आयु-कर्म का क्षय होने का समय आता है, तब वे योगो का निरुधन करके इस गुणस्थान मे आते है और शैलेशीकरण करके, देह छोडकर सिद्धस्थान पर पहुँच जाते है। इस गुणस्थान की स्थिति केवल पाच लघु अक्षर(अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण जितनी ही है। इसके बाद देह छोडकर सिद्ध हो जाते है।

सभी जीव मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्वी बने। सम्यक्त्वी, देश विरत बने। देश विरत, सर्व विरत बने। सर्व विरत, अप्रमत्त बने। अप्रमत्त, अकषायी सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनकर सिद्धदशा को प्राप्त करे। हम भी इस दशा को प्राप्त करे–यही भावना है।

अजीव तत्त्व

जिस तत्त्व में जीव नहीं हो—जो जड़ स्वभाव वाला हो, वह अजीव कहलाता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—१ रूपी २ अरूपी।

१० अरूपी अजीव के दस भेद हैं, जैसे—

३ धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल के गति करने में सहायक होने वाला—अरूपी अजीव द्रव्य। इसके तीन भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय २ धर्मास्तिकाय के देश और ३ प्रदेश।

३ अधर्मास्तिकाय—स्थिर होने—ठहरने में सहायक होने वाला उदासीन द्रव्य, इसके भी १ अधर्मास्तिकाय स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश—ये तीन भेद हैं।

३ आकाशास्तिकाय—जीव और अजीव द्रव्य को अवकाश देने वाला द्रव्य। इसके भी १ स्कन्ध २ देश और ३ प्रदेश भेद हैं।

१ काल—वर्त्तना लक्षण वाला—भूत, भविष्यादि तथा समयादि रूप।

४ रूपी अजीव के चार भेद हैं—१ स्कन्ध २ स्कन्धदेश, ३ स्कन्ध प्रदेश और ४ परमाणु पुद्गल।

अजीव के ये १४ भेद हैं। इन्हीं के विस्तार से ५६० भेद इस प्रकार होते हैं—

अजीव के ५६० भेद

० अरूपी अजीव के भेद।

१० भेद तो ऊपर बताये हैं, शेष २० भेद इस प्रकार हैं।

५ धर्मास्तिकाय—१ द्रव्य से एक द्रव्य, २ क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में व्याप्त, ३ कालसे अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से चलन सहायक गुण।

५ अधर्मास्तिकाय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तो धर्मास्तिकाय के जैसे ही हैं, किन्तु गुण से स्थिति सहायक होना है।

५ आकाशास्तिकाय—१ द्रव्य से एक, २ क्षेत्र से लोक और अलोक में व्याप्त, ३ काल से अनादि अनन्त, ४ भाव से अरूपी, ५ गुण से अवगाहन गुण।

५ काल—१ द्रव्य से अनेक (समय आवलिकादि रूप) २ क्षेत्र से ढाई द्वीप प्रमाण (क्योंकि

चर चन्द्र सूर्य का प्रभाव वही तक है, जिससे मुहूर्त, दिन, वार आदि की गणना भी वहीं तक है) ३ कालसे अनादि अनन्त ४ भाव से अरूपी ५ गुण से पर्याय परि-- वर्त्तन।

इस प्रकार अरूपी अजीव के कुल ३० भेद हुए।

५३० रूपी अजीव के भेद—

१०० सस्थान--आकृति विशेष। ये पाँच प्रकार के होते है, जैसे--१ परिमडल (चूडी की तरह गोल) २ वृत्त (कुम्हार के चक्र जैसा) ३ त्र्यस्र (त्रिकोण) ४ चतुरस्र (चार कौने वाला) और ५ आयत (दड की तरह लम्बा) इन पाचो सस्थानो मे से प्रत्येक मे ५ वर्ण, २ गध, ५ रस, और ८ स्पर्श होते है। एक सस्थान मे ये २० भेद पाते है, तो पाचो सस्थान के १०० भेद हुए।

१०० वर्ण के--काला, नीला, लाल, पीला और सफेद ये पाच वर्ण होते है। प्रत्येक वर्ण मे २ गध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान—ये २० भेद होते है, इस प्रकार पाच वर्ण के १०० भेद हुए।

४६ गध के--१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध, इन दो भेदो मे से प्रत्येक मे ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान—यो २३ भेद होते है। दोनो प्रकार की गन्ध के कुल ४६ भेद हुए।

१०० रस के--१ तिक्त २ कटु ३ कपाय, ४ खट्टा और ५ मीठा--ये पाच प्रकार के रस है। प्रत्येक रस मे ५ वर्ण, २ गध, ८ स्पर्श और ५ सस्थान, ये २० भेद होते हैं। पाचो रस के कुल १०० भेद हुए।

१८४ स्पर्श--१ खर २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष--ये आठ प्रकार के स्पर्श होते है। प्रत्येक के ५ सस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध और ६ स्पर्श (एक स्वय व एक विरोधी स्पर्श को छोडकर) ये २३ भेद हुए। इस प्रकार आठ स्पर्श के २३×८=१८४ भेद हुए।

ये रूपी अजीव के ५३० भेद हुए। इस प्रकार रूपी और अरूपी अजीव के कुल ५६० भेद हुए।

पुण्य तत्त्व

पुण्य--जो आत्मा को पवित्र करे। जिससे सुख रूप फल की प्राप्ति हो, वह पुण्य कहलाता है इसके ९ भेद हैं।

१ **अन्न पुण्य**--अन्नदान करने से होने वाला शुभ परिणाम।

२ **पान पुण्य**--पानी अथवा पीने की वस्तु देने से शुभ प्रकृत्ति का बँधना।

३ **वस्त्र पुण्य**--कपड़ा देने से होने वाला शुभ बन्ध।

४ **लयन पुण्य**--स्थान देने से होने वाला शुभाश्रव।

५ **शयन पुण्य**--बिछाने के लिए साधन देने से होने वाला लाभ।

६ **मनः पुण्य**--गुणवानो को देखकर प्रसन्न होना अथवा दूसरो का हित चाहना।

७ **वचन पुण्य**--वाणी के द्वारा गुणवानो की प्रशसा करना, मीठे वचनो से दूसरो को सुख ... देना।

८ **कायपुण्य**--शरीर से दूसरो की सेवा भक्ति करना।

९ **नमस्कार पुण्य**--बडो को और योग्य पात्र को नमस्कार करने से होने वाला शुभबन्ध।

(ठाणाग ९)

उपरोक्त नौ प्रकार से पुण्य का सचय होता है। इस पुण्य बन्ध का फल, नीचे लिखे ४२ प्रक... से मिलता है।

१ सातावेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ मनुष्यायु ६ देवगति ७ देवानु... ८ देवायु ९ पञ्चेन्द्रिय जाति १० औदारिक शरीर ११ वैक्रिय शरीर १२ आहारक शरीर १३ तेज... शरीर १४ कार्मण शरीर १५ औदारिक अगोपाग १६ वैक्रिय अगोपाग १७ आहारक अगोपाग १८ व... ऋषभनाराच सहनन १९ समचतुरस्र सस्थान २० शुभ वर्ण २१ शुभ गन्ध २२ शुभ रस २३ शुभ ... २४ अगुरुलघु २५ परघात २६ श्वासोच्छ्वास २७ आतप २८ उद्योत २९ शुभविहायोगति ३० ... ३१ तीर्थंकर ३२ तिर्यचायु ३३ त्रसनाम ३४ बादर नाम ३५ पर्याप्त नाम ३६ प्रत्येक नाम ३७ स्थि... नाम ३८ शुभ नाम ३९ सुभग नाम ४० सुस्वर नाम ४१ आदेय नाम और ४२ यश कीर्ति नाम।

(प्रज्ञापना २३)

इस प्रकार नौ प्रकार से किये हुए पुण्य का ४२ प्रकार से शुभ फल प्राप्त होता है।

पाप तत्त्व

पुण्य से उल्टा पाप तत्त्व है। इससे आत्मा भारी एव मैली होती है और इससे अशुभ कर्म का वन्ध होकर दु ख रूप फल की प्राप्ति होती है। पाप के १८ प्रकार इस तरह है।

१ प्राणातिपात–प्राणो का अतिपात करना–आत्मा से द्रव्य प्राणो का जुदा करना अर्थात् हिसा करना। इसके तीन भेद है– १ परिताप=दु ख देना २ सक्लेश=क्लेश उत्पन्न करना और ३ विनाश=मार डालना।

२ मृषावाद–झूठ बोलना।

३ अदत्तादान–विना दी हुई वस्तु को लेना।

४ मैथुन–स्त्रि, पुरुष या नपुसक सबधी भोग।

५ परिग्रह–ममत्व एव आसक्ति पूर्वक धन आदि का रखना।

६ क्रोध–अप्रसन्न होना–तप्त हो जाना।

७ मान–अहकार करना

८ माया–कपटाई करना।

९ लोभ–द्रव्य आदि प्राप्त करने की इच्छा।

१० राग–प्रिय वस्तु पर आसक्ति होना।

११ द्वेष–अप्रिय वस्तु पर दुर्भाव होना।

१२ कलह–लडाई झगडा करके क्लेश करना।

१३ अभ्याख्यान–झूठा कलक लगाना।

१४ पैशुन्य–चुगली करना।

१५ परपरिवाद–दूसरो की निन्दा करना।

१६ रति अरति–अनुकूल विषयो में रुचि और प्रतिकूल विषयो मे अरुचि होना।

१७ मायामृषा–कुटिलता पूर्वक झूठ बोलना

१८ मिथ्यादर्शन शल्य–झूठे–असत्य मत के शल्य को हृदय मे स्थान देना।

(ठाणाग १ भगवती १–९)

उपरोक्त अठारह प्रकार से सेवन किये हुए पाप के अशुभ कर्मों का फल, नीचे लिखे ८२ प्रकार से भुगतना पडता है।

५ आत्मा के ज्ञान गुण का घात करने वाली ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतिया (१ मति ज्ञानावरणीय, २ श्रुत० ३ अवधि० ४ मन पर्यव० और ५ केवलज्ञानावरणीय)। ६-१४ दर्शनावरणीय कर्म की ६ प्रकृतियां (१ चक्षुदर्शनावरणीय २ अचक्षु० ३ अवधि० ४ केवलदर्शनावरणीय ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानगृद्धि) १५ असातावेदनीय।

२६ मोहनीय कर्म की-१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ ये चार अनन्तानुबन्धी, ५-८ ये ही चार अप्रत्याख्यान ९-१२ प्रत्याख्यानावरण १३-१६ सञ्ज्वलन, ये सोलह प्रकृतियां चार कषाय की हुई। १७-२५ नोकषाय के ९ भेद (१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ दुगुन्छा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुष वेद और ९ नपुंसक वेद) और २६ मिथ्यात्व मोहनीय। ये ४१ हुई।

नामकर्म की ३५ प्रकृतिया १-५ वज्रऋषभनाराच संहनन को छोडकर शेष पाच संहनन (१ ऋषभ-नाराच २ नाराच ३ अर्धनाराच, ४ कीलक और ५ सेवार्त) ६-१० समचतुरस्र को छोडकर पांच संस्थान (१ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ स्वाति ३ वामन ४ कुब्ज और ५ हुडक) ११-२० स्थावर दसक (१ स्थावरनाम २ सूक्ष्मनाम ३ साधारणनाम ४ अपर्याप्तनाम ५ अस्थिर ३ अशुभ ७ दुर्भग ८ दुस्वर ९ अनादेय और १० अयश कीर्तिनाम) २१-२३ नरक त्रिक (१ नरकगति २ नरकानुपूर्वी ३ नरकायु) २४ तिर्यञ्चगति २५ तिर्यञ्चानुपूर्वी, २६ एकेन्द्रिय- जाति २७ द्वीन्द्रिय जाति २८ त्रीन्द्रिय २९ चौरेन्द्रिय जाति ३० अशुभ वर्ण ३१ अशुभ गध ३२ अशुभ रस ३३ अशुभ स्पर्श ३४ उपघात नाम ३५ अशुभविहायोगति

गोत्रकर्म की १ नीचगोत्र अन्तराय कर्म की पाच प्रकृतियां (दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय)

ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ९ वेदनीय की १ मोहनीय की २६, नामकर्म की ३५ (नरकायुसहित) गोत्रकर्म की १ और अन्तराय कर्म की ५ इस प्रकार ८२ प्रकार से पाप का फल भोगना पड़ता है।

पुण्य तत्त्व

पुण्य--जो आत्मा को पवित्र करे। जिससे सुख रूप फल की प्राप्ति हो, वह पुण्य कहलाता है इसके ९ भेद हैं।

१ **अन्न पुण्य**--अन्नदान करने से होने वाला शुभ परिणाम।

२ **पान पुण्य**--पानी अथवा पीने की वस्तु देने से शुभ प्रकृत्ति का बँधना।

३ **वस्त्र पुण्य**--कपड़ा देने से होने वाला शुभ बन्ध।

४ **लयन पुण्य**--स्थान देने से होनें वाला शुभाश्रव।

५ **शयन पुण्य**--बिछाने के लिए साधन देने से होने वाला लाभ।

६ **मनः पुण्य**--गुणवानों को देखकर प्रसन्न होना अथवा दूसरों का हित चाहना।

७ **वचन पुण्य**--वाणी के द्वारा गुणवानों की प्रशंसा करना, मीठे वचनों से दूसरों को सुख संतो देना।

८ **कायपुण्य**--शरीर से दूसरों की सेवा भक्ति करना।

९ **नमस्कार पुण्य**--वड़ों को और योग्य पात्र को नमस्कार करने से होने वाला शुभवन्ध।

(ठाणांग ९)

उपरोक्त नौ प्रकार से पुण्य का संचय होता है। इस पुण्य वन्ध का फल, नीचे लिखे ४२ प्रका से मिलता है।

१ सातावेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ मनुष्यायु ६ देवगति ७ देवानुपूर्व ८ देवायु ९ पञ्चेन्द्रिय जाति १० औदारिक शरीर ११ वैक्रिय शरीर १२ आहारक शरीर १३ तेजः शरीर १४ कार्मण शरीर १५ औदारिक अंगोपांग १६ वैक्रिय अंगोपांग १७ आहारक अंगोपांग १८ वज्र ऋषभनाराच संहनन १९ समचतुरस्र संस्थान २० शुभ वर्ण २१ शुभ गन्ध २२ शुभ रस २३ शुभ स्पर्श २४ अगुरुलघु २५ पराघात २६ श्वासोच्छ्वास २७ आतप २८ उद्योत २९ शुभविहायोगति ३० निर्माण ३१ तीर्थंकर ३२ तिर्यंचायु ३३ त्रसनाम ३४ वादर नाम ३५ पर्याप्त नाम ३६ प्रत्येक नाम ३७ स्थिर नाम ३८ शुभ नाम ३९ सुभग नाम ४० सुस्वर नाम ४१ आदेय नाम और ४२ यशःकीर्ति नाम।

(प्रज्ञापना २३)

इस प्रकार नौ प्रकार से किये हुए पुण्य का ४२ प्रकार से शुभ फल प्राप्त होता है।

निर्जरा तत्त्व

आत्मा के साथ बँधे हुए कर्मों को नष्ट करने वाली भावना को निर्जरा कहते हैं। इसके अन-शनादि बारह भेद हैं। इनका वर्णन 'तप धर्म' में विस्तार से किया जायगा।

बन्ध तत्त्व

आत्मा से साथ कर्मदलिक का बन्ध जाना—सम्बन्ध हो जाना—बन्ध कहलाता है। जिस प्रकार दूध में पानी मिलजाता है, सोने के साथ मिट्टी रहती है, तिल मे तेल होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म पुद्गलो का बन्ध होता है। आत्मा के कषाय भाव और योग से आकर्षित होकर बँधने वाले मूल कर्म आठ प्रकार के होते हैं। यथा—

१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्त-राय कर्म।

उपरोक्त आठ प्रकार के कर्म की उत्तर प्रकृतिया इस प्रकार है।

१ ज्ञानावरणीय कर्म—आत्मा के ज्ञान गुण को दबाने वाला कर्म। इसकी पाच प्रकृतियाँ है।

१ मतिज्ञानावरणीय—मति विभ्रम होना, सोचने विचारने और स्मृति रखने की शक्ति का दबना

२ श्रुतज्ञानावरणीय—सुनने या पढने मे होने वाले ज्ञान का रुकना।

३ अवधिज्ञानावरणीय—निकट या दूर के रूपी पदार्थो को इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना ही प्रत्यक्ष देखने की शक्ति का अवरुद्ध होना।

४ मन:पर्यवज्ञानावरणीय—दूसरो के मनोगत भावो को जानने वाला ज्ञान नही होना।

५ केवलज्ञानावरणीय—सर्वज्ञता की प्राप्ति नही होना।

इस कर्म के बँधने के निम्न ६ कारण हैं।

१ ज्ञान और ज्ञानी की निन्दा करने से, २ ज्ञान का अथवा ज्ञानदाता का अपलाप करने से, ३ आशातना करने से, ४ ज्ञान देते लेते हुए के लिए बाधक बनने से, ५ ज्ञान या ज्ञानी पर द्वेष रखने

और ६ ज्ञानी के साथ झगड़ा करने से। इन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

इस कर्म का फल निम्न दस प्रकार से भुगतना पड़ता है।

५ मतिज्ञानादि पांच प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होना, ६ बहिरापन, ७ अन्धा होना, ८ सूंघने की शक्ति नहीं मिलना, ९ गूंगा होना और १० स्पर्श का अनुभव नहीं होना।

दूसरी प्रकार से इसका फल इस प्रकार है—श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का बेकार होना और इन पांचों इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का रुकना।

२ **दर्शनावरण**—वस्तु के प्रारंभिक अथवा सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन शक्ति को रोकने वाला कर्म—दर्शनावरण कर्म है। इस के नौ भेद इस प्रकार हैं,—

१ चक्षुदर्शनावरण—आंख अथवा आंख से देखने की शक्ति को दबने वाला।

२ अचक्षुदर्शनावरण—कान, नाक, जिव्हा और स्पर्श तथा मन से होने वाले दर्शन—सामान्य ज्ञान का बाधक।

३ अवधिदर्शनावरण— रूपी पदार्थों के इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही होने वाले दर्शन को रोकने वाला।

४ केवलदर्शनावरण— सर्वदर्शिता को अवरुद्ध करने वाला।

५ निद्रा—नींद आजाने से दर्शन में रुकावट होना।

६ निद्रानिद्रा—गाढ़ नींद आजाना।

७ प्रचला—बैठे हुए ऊंघने से।

८ प्रचलाप्रचला—रास्ते चलते हुए घोडे की तरह नींद लेने से

९ स्त्यानगृद्धि—अत्यन्त गाढ निद्रा, जिसमें दिन में सोचा हुआ काम निद्रावस्था में किया जाता है—एकदम बेहोश की तरह। इसमें शक्ति के अनुसार बडे साहस के काम भी किये जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव तो इसी निद्रा में होते हैं। इसका विशेष स्वरूप अन्य ग्रंथों से जानना चाहिए।

ज्ञानावरणीय की तरह इसका बन्ध भी छ प्रकार से होता है। इसमें दर्शन और दर्शनी की निन्दा करना। इस प्रकार ज्ञान के स्थान पर दर्शन का व्यवहार करना चाहिए।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

३ वेदनीय कर्म-जिसके निमित्त से सुख और दुख का वेदन-अनुभव हो,वह वेदनीय कर्म है इसके सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो भेद है।

सातावेदनीय-जो सुख पूर्वक वेदा जाय-जिससे सुख की प्राप्ति हो, इच्छानुकूल प्राप्ति हो सुखप्रद कर्म का उपार्जन निम्न लिखित शुभ क्रियाओ से होता है।

एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक के प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकम्पा करने, उ दुख नहीं देने, शोक नही पहुँचाने, और ताडना नही करने, नही रुलाने से, त्रास नही देने से और नहीं मारने से, सातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है। (भगवती ८-६)

साता वेदनीय कर्म का फल आठ प्रकार से मिलता है। जैसे -

१ मन को आनन्द देनेवाले मधुर एव कोमल शब्द-स्वजन परिजनो की ओर से प्रेम एव भ युक्त वचनो का सुनना, कर्ण प्रिय गान वादिन्त्रादि की प्राप्ति।

२ मोहक रूपो-दृश्यो की प्राप्ति-जितने भी दृश्य प्राप्त हो वे सुन्दर हो।

३ मनोहर गन्धो की प्राप्ति, ४ स्वादिष्ट रसो की प्राप्ति, ५ समयानुसार इच्छित स्पर्शों की प्राप्ति, ६ मन सुख-खुद का मन सुखकारी होना, ७ वचनसुख-खुद के वचन ऐसे होना कि जिससे सुनने वाले अनुकूल हो जायँ और ८ काय सुख-नीरोग तथा सुन्दर शरीर की प्राप्ति (प्रज्ञापना २३)

असातावेदनीय-जो दुख पूर्वक भोगाजाय, जिससे प्रतिकूल विषय और अवस्था की प्राप्ति हो वह असातावेदनीय है। इसका वन्ध, सातावेदनीय से उल्टी क्रिया-जीवो पर क्रूरता आदि से होता, और इसका फल भी अशुभ शब्दादि रूप में दुखदायक ही होता है।

वेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य १२ मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। यह सापरायिक वन्ध की अपेक्षा से है। उच्च चारित्रियो की अपेक्षा तो ईर्यापथिक वन्ध की स्थिति (जघन्य) दो समय की है।

४ मोहनीय कर्म-आत्मा को विवेक विकल बनानेवाला। जिस प्रकार शराव के नशे मे मनुष्य हिताहित का विवेक नही रखकर अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के वश होकर आत्मा, अपने स्वरूप को भी भूल जाता है और दुराचार करता है। इसके मुख्य भेद दो और उत्तर भेद २८ है।

१ दर्शनमोहनीय-आत्मा के सत्य विवेक-यथार्थ समझ का वाधक। मिथ्या विश्वास में लगाने वाला, मिथ्या तत्त्वों पर विश्वास करनें और सत्य सिद्धातो से विमुख रखनेवाला। अथवा हिताहित का विचार करनें की शक्ति को ही दवा देने वाला। इसकी तीन प्रकृत्ति है,-

१ मिथ्यात्वमोहनीय-सम्यक्त्व की विरोधी, यथार्थ श्रद्धान् नही होने देनेवाली। लोक में जितने

भी जीव है, उनमें से अनन्तवा भाग ही इस मिथ्यात्वमोहनीय (दर्शन मोहनीय) के प्रभाव से वचित है और जो वचित है, उनसे अनन्तगुण जीव इसके फन्दे मे फँसे हुए है। अनन्त जीव ऐसे भी है, जो इस दर्शनमोहनीय के फन्दे से न तो कभी निकले और न कभी निकलेगे ही। वे सदा सर्वदा इसी के अधिकार मे बने रहेगे। इसके विशेष भेद 'मिथ्यात्व' प्रकरण मे बताये गये है।

मिश्रमोहनीय—अधकचरापन—कुछ सम्यक् कुछ मिथ्या परिणति। न तो एकदम मिथ्यात्वी होना न सम्यक्त्वी ही। दोनो प्रकार का असर—ढिलमिल वृत्ति। यह स्थिति थोडी देर ही—अन्तर्मुहूर्त ही रहती है। इसके बाद या तो आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय मे चला जाता है या फिर सम्यक्त्वी हो जाता है। सादि मिथ्यात्वी का मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढते या चौथे गुणस्थान से नीचे उतरकर पहले मे जाते समय—मध्य मे यह स्थिति रहती है।

सम्यक्त्व मोहनीय—क्षायिक सम्यक्त्व को रोकने वाली। इसके उदय से तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धान् तो होती है। यह सम्यक्त्व मे बाधक नही है, किन्तु यह वह स्थिति है कि जिसमे मिथ्यात्व के दलिक सर्वथा नष्ट नही होकर स्वच्छ रूप में भी कायम रहते है और जिनके कारण सम्यक्त्व में अतिचार लगते है।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति है। इसमें से मिथ्यात्व मोहनीय का तो बन्ध होता है, किन्तु मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का बन्ध नही होता, क्योकि ये दोनो प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के दलिक शुद्ध शुद्धतर होने से—विशुद्धि की अवस्था स्वरूप मानी गई है। अतएव बन्ध तो केवल एक मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है। ×

२ चारित्र मोहनीय—इससे सदाचार—शुद्धाचार—उत्तम आचार मे रुकावट होती है। इसके मुख्य तीन भेद है,— १ कषाय मोहनीय २ नो—कषाय मोहनीय और ३ वेद मोहनीय। (प्रज्ञापना २३—२ में नो—कषाय और वेद को मिलाकर नो—कषाय के ९ भेद किये है)

कषाय मोहनीय—कष का अर्थ ससार होता है और 'आय' का अर्थ लाभ। जो ससार की आवक करे—ससार मे परिभ्रमण करावे, उसे कषाय कहते है। अथवा—जो आत्मा को कषैला—मलिन—विद्रूप करे, उसे कषाय कहते है। कषाय चार है—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चार कषायो की चार चौकडी होती है, जिससे सोलह भेद बनते है। जैसे—

१ अनन्तानुबन्धी चौक—इसमे चारो कषाय का ऐसा प्रभाव होता है कि जिससे आत्मा का अनन्त

× प्रज्ञापना २३-२ में मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का भी बन्ध होना लिखा है, किन्तु वह स्थिति की अपेक्षा से है।

ससार बढता रहता है। जबतक इसका उदय रहता है तबतक वह मिथ्यात्वी ही रहता है। यह उग्र-रूप में होता है, तब नरक गति का कारण है। इसके उग्रतम स्वरूप का स्थानाग ४ में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध–पर्वत की दरार के समान होता है, जो फटने के बाद फिर नही मिलती।

मान–पत्थर के स्तभ के समान होता है, जो टूट जाय पर झुके नही।

माया–बास की कठिन टेडी जड के समान होती है, जो कभी सीधी नही हो सकती।

लोभ–किरमची + रग के समान पक्का होता है, जो कभी नही छूटता।

२ अप्रत्याख्यान चौक–इस चौक के उदय वाले के सम्यक्त्व हो भी सकती है, किन्तु देश विरति प्राप्त नही होती। इसके विशेष रूप से उदय होने पर तिर्यंचगति का कारण होता है। इस चौक की दशा के लिए निम्न उदाहरण है,–

क्रोध–सूखे हुए तालाब मे पडी हुई दरार की तरह, जो वर्षा होने पर पुन मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध प्रयत्न करने पर शान्त हो सकता है।

मान–हड्डी की तरह, जो विशेष प्रयत्न से नमती है।

माया–मेंढ के टेढे सीग की तरह जो कठिनाई से सीधा होता है।

लोभ–कर्दमराग–हरा घास खाकर किया हुआ पशुओ का गोबर, कीचड में मिल जाय और वह वस्त्र के लगजाय, तो उसका रग छूटना कठिन होता है।

३ अप्रत्याख्यानावरण चौक–जिसके उदय से श्रावक के देश व्रतो में तो रुकावट नही होती, किन्तु सर्व त्यागी श्रमण धर्म की प्राप्ति नही हो सकती। यह मनुष्य गति तक ले जा सकता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

क्रोध–बालू में खीची हुई लकीर की तरह, जो हवा के चलने से पुन मिल जाती है। इस प्रकार का क्रोध थोडे प्रयत्न से ही शान्त हो जाता है।

मान–इस लकडी के समान है जो थोडे प्रयत्न से ही सीधी हो जाती है।

माया–चलते हुए बैल के मूत्र के समान, जो टेडा गिरते हुए भी थोडी देर मे सूख जाने से या वायु से उस पर धूल आजाने से मिट जाता है।

लोभ–दीपक के धूएँ से जमे हुए कोरे काजल की तरह, जिसकी कालिमा थोडे प्रयत्न से ही छूट जाती है।

+ कृमिरागरक्त का अर्थ ठाणांग ४-२ की टीका में–'रक्त पिलाकर पाले हुए कीड़े की लार के रंग के समान' लिखा है।

४ संज्वलन चौक—जिसके उदय से श्रमण निर्ग्रंथ मे भी किञ्चित् कषाय की परिणति हो जाती है। यह स्थिति साधु धर्म के लिए बाधक नही होती। इसमें रहते हुए प्रथम के चार चारित्र तक की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नही होती। इसमें रहे हुए जीव के देवगति के योग्य बन्ध होता है। इसका परिचय इस प्रकार है।

क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर के समान, जो खीचने के साथ ही मिल जाती है।

मान—बेत की लकडी के समान—जो सहज ही नम जाती है।

माया—बास की लकडी के छिलके के समान, शीघ्र सीधी होने वाली।

लोभ—हल्दी के रग की तरह सहज ही में मिट जाने वाला।

इस प्रकार चारो कषाय के चार चौक के १६ भेद हुए।

कषायो के उदय की स्थिति—अनन्तानुबन्धी की जीवन पर्यन्त, अप्रत्याख्यानी की एक वर्ष, प्रत्याख्यानी की चार महीनें और सज्वलन की पन्दह दिन की बताई जाती है, वह 'कर्मग्रंथ' भाग १ गा १८ के अनुसार है। यह स्थिति व्यवहार नय से बताई होगी। निश्चय से तो प्रत्येक कषाय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है—ऐसा प्रज्ञापना पद १८ में लिखा है।

सज्वलन कषाय की उत्कृष्ट स्थिति—परिवर्तित रूप मे देशोनक्रोडपूर्व की—सामायिक आदि चारित्र के समान है।

सज्वलन के क्रोध की बन्ध स्थिति जघन्य दो महीने की, मान की एक महीने की, माया की पन्द्रह दिन की और लोभ की अन्तर्मुहूर्त की, पन्नवणा पद २३ मे लिखी है।

नोकषाय मोहनीय—जिनका उदय कषाय के उदय के साथ होता है अथवा जो कषाय को उत्तेजित करने वाली है, उसे नोकषाय कहते हैं। इसके ६ भेद इस प्रकार है—

१ हास्य मोहनीय (हँसी लाने वाली) २ रति मो० (अनुराग होना) ३ अरति मो० (अप्रीति-कारक—अरुचि) ४ भय मो० ५ शोक मो० और ६ जुगुप्सा मोहनीय—घृणा।

वेद मोहनीय—भोगेच्छा। इसके तीन भेद है,—१ स्त्री वेद—पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा २ पुरुषवेद—स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा और ३ नपुसक वेद—स्त्री तथा पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा।

उपरोक्त तीन वेद को भी नोकषाय मोहनीय मे गिनकर, नोकषाय मोहनीय के कुल ९ भेद, स्थानाग ९ तथा समवायाग २८ में बताये है। इस प्रकार चारित्रमोहनीय के २५ भेद हुए। इनमे दर्शन मोहनीय के ३ भेद मिलाने से, मोहनीय कर्म के कुल २८ भेद हुए। इसकी स्थिति जघन्य अन्त-र्मुहूर्त और उत्कृष्ट ७० कोडाकोड़ी सागरोपम की है।

मोहनीय कर्म का बन्ध, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, तीव्र दर्शनमोहनीय और तीव्र च ि मोहनीय से होता है और इसके फल स्वरूप जीव सम्यक्त्व तथा चारित्र से वचित रहता है।

५ **आयु कर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव, किसी शरीर मे रहकर जीता रहता है और होने पर मर जाना है, उसे आयु कर्म कहते है। अथवा आयु कर्म वह है, जिसके उदय से जीव, ् गति से दूसरी गति में जाकर शरीर धारण करता है। यह कर्म कारागार के समान है, जहाँ न त अपनी इच्छा से रहा जाना है, न छुटकारा ही होता है। गति मे गमन–जन्म भी आयुकर्म के उदय े होता है और मरण, आयु के क्षय होने से होता है। गति की अपेक्षा इसके चार भेद है।

१ नरकायु २ तिर्यञ्चायु ३ मनुष्यायु और ४ देवायु।

चारो प्रकार का आयु वन्घ, निम्न कारणों से होता है।

नरकायु का वन्ध–१ महान् आरभ करने से। जिसमे वहुत से प्राणियो की हिंसा हो। हिंसा े तीव्र परिणाम हो।
२ महान् परिग्रह–असीम लोभ। अत्यन्त तृष्णा।
३ पञ्चेन्द्रिय वध–पाच इन्द्रिय वाले जीवो की हिंसा करना।
४ कुणिमाहार–मास भक्षण करना।

तिर्यञ्चायु वध–१ मायाचार–मनमे कुटिलता और मुह से मीठापन।
२ निकृतिवाला–दाम्भिक प्रवृत्ति से दूसरो को ठगना।
३ झूठ वोलना।
४ खोटे तोल माप करना।

मनुष्यायु वध–१ भद्र प्रकृति २ विनीत स्वभाव ३ करुणा भाव ४ अमत्सर–ईर्षा एव डाह नही करना।

देवायु के कारण–१ सराग सयम २ देश विरति ३ अकाम निर्जरा–पराधीन होकर कष्ट सहन करना, और ४ अज्ञान तप। (ठाणाग ४–४, उववाई)

आयुकर्म की स्थिति, देव और नारक की अपेक्षा, जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है, तथा मनुष्य और तिर्यञ्च की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

नाम कर्म–जिसके कारण जीव, भिन्न भिन्न नामो से पहिचाना जाता है, जिसके कारण उसकी आकृति आदि में भिन्नता होती है, जो कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार–चित्र कलाविद् की तरह जीव को वाहरी साज सजाता है–वह नाम कर्म कहलाता है। नाम कर्म के मूल ४२ भेद इस प्रकार है,–

चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ

१ गति नाम— नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्य गति और देवगति ।

२ जातिनाम— एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जाति ।

३ तनुनाम—औदारिक शरीर, वैक्रेय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, और कार्मण शरीर।

४ अगोपाग नाम—शरीर के मस्तक आदि अग और उगली आदि उपांग ।

(ये तैजस और कार्मण शरीर के नही होते, शेष तीन के ही होते है)

५ बन्धन नाम—पाँचो प्रकार के शरीर के पूर्व ग्रहण किये हुए पुद्गलो के साथ वर्त्तमान पुद्-गलो का बँधना ।

६ सघात नाम—औदारिकादि शरीर परिणत पुद्गलो को बन्धन के योग्य स्थान के निकट लाकर रखनेवाला, जिससे बन्धन को प्राप्त हो सके ।

७ सहनन नाम—इसके छ भेद इस प्रकार है,—

१ वज्र—ऋषभ—नाराच सहनन—वज्र=खीला, ऋषभ=पाटा, नाराच=वेष्टन, अर्थात्,—मर्कट बध से बँधी हुई दो हड्डियो के ऊपर वेष्टन होकर, खीले से मजबूत बना हुआ शरीर ।

२ ऋषभ—नाराच सहनन—इसमे वज्र=खीला नही होता, शेष प्रथम के अनुसार ।

३ नाराच सहनन—दो हड्डियो का केवल मर्कट बन्ध ही होता है ।

४ अर्ध नाराच—एक ओर मर्कट बन्ध और दूसरी ओर मेख हो ।

५ कीलिका—जिस शरीर की हड्डियाँ मेख से जुडी हुई हो ।

६ सेवार्त—बिना कील के योही जुडी हुई हड्डियाँ ।

८ सस्थान नाम—इसके भी ६ भेद है,—

१ सम चतुरस्र सस्थान (चोकोण आकृति वाला) अर्थात् सर्वांग सुन्दर हो ।

२ न्यग्रोध परिमण्डल—जिसमे नाभि के ऊपर के अग पूर्ण हो और नीचे के हीन हो ।

३ सादि सस्थान नीचे के अग पूर्ण हो किन्तु ऊपर के हीन हो ।

४ कुब्ज स०—जिसकी छाती, पीठ और पेट हीन हो ।

५ वामनस०—हाथ आदि अग हीन हो, जिसमें हाथ पैर छोटे हो और बीच का अग पूर्ण हो ।

६ हुण्ड सस्थान—जिसके सभी अवयव बेडौल हो ।

९ वर्ण नाम—१ काला २ नीला ३ लाल ४ पीला और ५ श्वेत। इन वर्णो वाला शरीर होना ।

१० गन्ध नाम—१ सुगन्ध और २ दुर्गंध वाला शरीर होना।

११ रसनाम—१ तिक्त २ कटु ३ कसैला ४ खट्टा और ५ मीठा, इन रसो वाला शरीर होना।
१२ स्पर्शनाम—१ खर २ कोमल ३ हल्का ४ भारी ५ शीत ६ उष्ण ७ स्निग्ध और ८ रुक्ष, स्पर्श होना।
१३ आनुपूर्वी नाम—एक भव से दूसरे भव मे ले जाने वाला कर्म। इसके चार भेद है—१ देवानुपूर्वी २ मनुष्यानुपूर्वी ३ तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी। (सरल—ऋजु गति से जाने वाले के यह कर्म नही होता।)
१४ विहायोगति—चाल, जो शुभ और अशुभ—यो दो प्रकार की होती है।

उपरोक्त चौदह पिण्ड प्रकृतियो की उत्तर प्रकृतियां ६५ है। जैसे—

गति	जाति	तनु	अगोपाग	बन्धन	सघातन	सहनन	सस्थान	वर्ण	गध	रस	स्पर्श
४	५	५	३	५	५	६	६	५	२	५	८

आनुपूर्वी	और विहायोगति ये कुल ६५ हुई।
४	२

प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ

१ पराघात नामकर्म—बलवानो पर भी विजय प्राप्त कराने वाला।
२ उच्छ्वास नाम—श्वासोच्छ्वास लब्धि युक्त होना।
३ आतप नाम—बिना उष्ण स्पर्श के भी उष्ण प्रकाशक शरीर होना। सूर्य मण्डल के बादर पृथ्वी काय के शरीर को ही यह कर्म होता है।
४ उद्योत नाम—शीतल प्रकाश फैलाने वाला। यह कर्म लब्धिधारी मुनि के वैक्रेय शरीर बनाने पर, देवो के उत्तर वैक्रेय शरीर और चन्द्र तथा तारा मण्डल के पृथ्वी कायिक जीवो के शरीर मे होता है। जुगनू, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधी के भी इस कर्म का उदय होता है।
५ अगुरुलघुनाम—जिससे शरीर न तो भारी हो और न हलका हो।
६ तीर्थकरनाम—तीर्थकर पद की प्राप्ति कराने वाला। इसके २० कारण अन्यत्र बताये है।
७ निर्माण नाम—अग और उपाग का अपने अपने स्थान पर व्यवस्थित होना।
८ उपघात नाम—अपने ही अवयवो से दुख पाना, जैसे—पटजीभ, चोरदात, छठी अगुली आदि।

त्रस दशक

१ त्रस नाम २ वादरनाम ३ पर्याप्त ४ प्रत्येक ५ स्थिर ६ शुभ ७ सुभग-सोभाग्य ८ सुस्वर ९ आदेय-जिसके वचन मान्य करने योग्य हों और १० यशःकीर्ति नाम कर्म।

स्थावर दशक

१ स्थावर नाम २ सूक्ष्म ३ अपर्याप्त ४ साधारण ५ अस्थिर ६ अशुभ ७ दुर्भग-दुर्भाग्य-जिससे उपकार करते हुए भी अप्रिय लगे, ८ दुःस्वर ९ अनादेय-जिसकी खरी वात भी कोई नहीं माने और १० यशःकीर्ति नाम कर्म।

इस प्रकार पिण्ड प्रकृति, प्रत्येक प्रकृति, त्रस दशक, स्थावर दसक, ये ४२ प्रकृतियां हुई। पृथक-
१४ ८ १० १०
पृथक गिनने पर ये ही प्रकृतियाँ ९३ होती है। जैसे-चौदह पिण्ड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ, प्रत्येक, त्रस दशक, स्थावर दशक।
६५ ८
१० १०

अन्य गणना के अनुसार १०३ प्रकृतियां होती है, वे इस प्रकार हैं-

उपरोक्त ९३ प्रकृतियों में से बन्धन नाम कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं, यदि बन्ध की निम्न लिखित १५ गिनी जाय तो १०३ भेद होंगे।

१ औदारिक, औदारिक वन्धन नाम २ औदारिक तैजस वन्धन नाम ३ औदारिक कार्मण वन्धन नाम, ४ वैक्रिय वैक्रिय बन्धन नाम ५ वैक्रिय तैजस ६ वैक्रिय कार्मण ७ आहारक, आहारक ८ आहारक तैजस, ९ आहारक कार्मण, १० औदरिक तैजस कार्मण वन्धन ११ वैक्रिय तैजस कार्मण १२ आहारक तैजस कार्मण १३ तैजस, तैजस १४ तैजस कार्मण और १५ कार्मण कार्मण वन्धन नाम। पुर्वोक्त ८८ में ये १५ जोड़ देने पर कुल १०३ भेद हुए।

अशुभ नाम कर्म का वन्ध, काया की वक्रता, भाषा की वक्रता व विसंवादन योग से होता है और अशुभ नाम, कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। शुभ नाम कर्म का वन्ध, इससे उल्टा-काया की सरलतादि कारणों से होता है।

॥ नाम कर्म का फल चौदह प्रकार का होता है-१ ईष्ट शव्द २ ईष्ट-रूप ३ गंध ४ रस गति ७ स्थिति ८ लावण्य, ९ यशःकीर्त्ति १० उत्थान-वल-वीर्य--पुरुषाकार पराक्रम

११ इष्ट स्वरता १२ कान्त स्वरता १३ प्रिय स्वरता और १४ मनोज्ञ स्वरता है। अशुभ नाम कर्म का फल इससे उलटा है।

७ गोत्र कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच या नीच माना जाय। यह कर्म कुंभकार के बनाये हुए घडे के समान है। एक ही प्रकार की मिट्टी से बना हुआ एक घडा, कलश के रूप में अक्षत आदि से पूजा जाता है और दूसरा मदिरादि अपवित्र वस्तु भरने के काम में आने से निन्द्य होता है। अथवा बिना अपवित्र वस्तु भरे ही उस प्रकार का होने से निन्द्य कहलाता है। जाति कुल आदि की अपेक्षा से ऊँच नीच होना, इसी कर्म का फल है। इसके १ उच्च गोत्र और २ नीच गोत्र–ऐसे दो भेद है।

उच्च गोत्र के उदय से जीव, धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी, ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन, रूप, बल आदि होते हुए भी नीचा माना जाता है। गोत्र कर्म बन्ध के निम्न आठ कारण है,–

१ जाति, २ कुल, ३ बल, ४ रूप, ५ तप, ६ श्रुत, ७ लाभ, और ८ ऐश्वर्य–इन आठ का मद-घमण्ड करनेवाले को नीच गोत्र की प्राप्ति के योग्य बन्ध होता है। और मद नही करने वाले के ऊँच गोत्र का बन्ध होता है।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

८ अन्तराय कर्म–जिसके उदय से जीव की दान लाभ, भोग आदि इच्छा तथा शक्ति में बाधा उत्पन्न होती है, उसे अन्तराय कर्म कहते है। यह कर्म राजा के कोषाध्यक्ष की तरह है। राजाज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष, बहाना बनाकर टाल देता है। इसी प्रकार जीव की इच्छा होने पर भी अन्तराय कर्म बाधक बन जाता है। इसके पाँच भेद है।

१ दानान्तराय–दान करने की वस्तु और योग्य पात्र होते हुए तथा दान का महत्त्व जानते हुए भी जिस कर्म के उदय से दान नही दिया जा सके।

२ लाभान्तराय–दाता उदार हो, उसके पास वस्तु भी हो, याचक भी योग्य हो, तो भी लाभ प्राप्ति नही हो सकना–लाभान्तराय कर्म का उदय है।

३ भोगान्तराय–भोग के साधन उपस्थित हो, भोग की इच्छा भी हो–त्याग भाव नही हो, फिर भी भोग से वंचित रखनेवाला कर्म।

४ उपभोगान्तराय–उपभोग मे बाधक होने वाला कर्म।

५ वीर्यान्तराय–नीरोग, युवक और बलवान होते हुए भी, एक छोटे से छोटा काम भी नहीं कर सकना, वीर्यान्तराय कर्म के उदय का परिणाम है। इसकी अवान्तर प्रकृतियाँ तीन इस प्रकार है,–

बाल वीर्यान्तिराय—इच्छा और सामर्थ्य होते हुए भी सासारिक कार्य नही कर सकना।
पण्डित वीर्यान्तिराय—सम्यग्दृष्टि, और मोक्ष की अभिलाषा रखते हुए भी, उसकी साधना *नही कर सके, ऐसा निर्ग्रंथ धर्म की साधना में बाधक होने वाला।*
बाल पण्डित वीर्यान्तिराय—देश विरति रूप श्रावक धर्म के पालन की इच्छा रखता हुआ भी जिसके उदय से पालन नही कर सके।

इस कर्म का बन्ध, दानादि पाच का बाधक होने—किसी को अन्तराय देने से होता है और उसका उपरोक्त फल होता है। इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्महूर्त, उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

उपरोक्त आठ कर्मों का बन्ध चार प्रकार से होता है। जैसे,--

१ **प्रकृति बन्ध**—स्वभाव की भिन्नता, जैसे कोई कर्म ज्ञान गुण को ढकता है, तो कोई दर्शन गुण को और कोई सुख को। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति का बन्ध होना।

२ **स्थिति बन्ध**—कर्म के आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा।

३ **अनुभाग बन्ध**—इसे 'रस बन्ध' भी कहते है। इसके अनुसार फल का अनुभव—न्यूनाधिक रूप से होता है।

४ **प्रदेश बन्ध**—कर्म के दलिको का न्यूनाधिक होना।

इस प्रकार चार प्रकार से बन्ध होता है। बन्ध होना अर्थात्—आत्मा के साथ कर्मों का—दूध और पानी की तरह अथवा मिट्टी और सोने की तरह मिलना है। यह बन्ध तत्त्व, आत्मा की पराधीन दशा बताता है। कर्म सिद्धात इसी तत्त्व मे रहा हुआ है। इसके लिए तो अनेक ग्रथ है। यहा सक्षेप मे इतना वर्णन किया गया है।

मोक्ष तत्त्व

मोक्ष—आत्मा का जड कर्मों के बन्ध से मुक्त होकर स्वतन्त्र रहना, परमात्मा दशा को प्राप्त कर लेना—मोक्ष तत्त्व है। श्री सिद्ध भगवान् जैसी दशा की प्राप्ति मोक्ष तत्त्व में होती है। इसके निम्न लिखित चार कारण है।

१ सम्यग्ज्ञान २ सम्यग् दर्शन ३ सम्यक् चारित्र और ४ सम्यक् तप। इन चारो का विशद वर्णन ही यह ग्रथ है।

मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी

१ चार गति मे से केवल मनुष्य गति ही मोक्ष के योग्य है।

२ त्रस काय ही मोक्ष के योग्य है। ३ पांच जाति में से केवल पचेन्द्रिय ही। ४ संज्ञी जीव ही। ५ भव सिद्धिक जीव ही। ६ क्षायिक सम्यक्त्वी ही। ७ अवेदी ही। ८ अकषायी ही। ९ यथाख्यात चारित्री ही। १० केवलज्ञानी ही। ११ केवल दर्शनी ही। १२ अनाहारक ही १३ अयोगी ही। १४ अलेशी ही मोक्ष के योग्य है।

सिद्ध के पन्द्रह भेद

सिद्ध भगवान् नीचे लिखे पन्द्रह भेदो से सिद्ध होते हैं।

१ तीर्थ सिद्ध–जिनेश्वर भगवत द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना और निर्ग्रंथ प्रवचन का प्रवर्त्तन होने के बाद जो सिद्ध हो–तीर्थ की विद्यमानता में सिद्ध हो–वे तीर्थ सिद्ध है।

२ अतीर्थ सिद्ध–तीर्थ स्थापना के पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद होने के बाद सिद्ध होते है, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाते है। मरुदेवी माता, तीर्थ स्थापना के पूर्व ही सिद्ध हो गये थे और भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् धर्मनाथ तक सात तीर्थंकरो के शासन मे कुछ कुछ समय के लिए तीर्थ विच्छेद हो गया था, उन तीर्थ विच्छेदो के समय (भग० २०–८) जो सिद्ध हुए–वे अतीर्थ सिद्ध है।

३ तीर्थंकर सिद्ध– तीर्थंकर पद प्राप्त कर सिद्ध होने वाले।

४ अतीर्थंकर सिद्ध–तीर्थंकर पद प्राप्त किये बिना ही सिद्ध होने वाले सामान्य केवली।

५ स्वयंबुद्ध सिद्ध–बिना किसी के उपदेश के अपने आप धर्म को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले। ये तीर्थंकर भी होते है और दूसरे भी। इस भेद में तीर्थंकर व्यतिरिक्त ही लेने चाहिए।

६ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– बिना किसी के उपदेश से, किसी बाह्य निमित्त को देखकर ससार त्यागकर मोक्ष प्राप्त करने वाले।

स्वयबुद्ध सिद्ध को किसी बाहरी निमित्त की आवश्यकता नही होती, किन्तु प्रत्येक बुद्ध किसी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर दीक्षा लेते है। जैसे नामिराजर्षि कगन से, समुद्रपालजी चोर से, इत्यादि। ये अकेले ही विचरते है।

७ बुद्ध बोधित सिद्ध--गुरु के उपदेश से बोध प्राप्त करके दीक्षित होकर सिद्ध होने वाले।

८ स्त्रीलिंग सिद्ध–स्त्री लिंग से सिद्ध होने वाले। ऐसी आत्मा स्त्री-शरीर एव वेश मे सिद्ध होती है, किन्तु स्त्री वेद मे नही, क्योकि जो सिद्ध होते है वे अवेदी होने के बाद ही होते है–किसी भी प्रकार के वेद के उदय में सिद्ध नही हो सकते।

९ पुरुष लिंग सिद्ध—पुरुषाकृति से सिद्ध होने वाले ।

१० नपुंमक लिंग सिद्ध—नपुमक शरीर से सिद्ध होने वाले ।

११ स्वलिंग सिद्ध—साधु के वेश—रजोहरण मुखवस्त्रिकादि युक्त सिद्ध होने वाले ।

१२ अन्य लिंग सिद्ध—परिव्राजकादि अन्य वेश मे रहते हुए सिद्ध होने वाले । इनके द्रव्यलिंग दूसरा रहता है, भावलिंग=श्रद्धादि तो अवश्य स्व ही होता है । भावलिंग अन्य होने पर कदापि सिद्ध नही हो सकते—वे सम्यक्त्वी भी नही हो सकते, तब सिद्ध तो हो ही कैसे सकते है ? द्रव्यलिंग भी अन्य रहता है वह समय की स्वल्पता के कारण । जिन अन्यलिंगी मिथ्यादृष्टियो को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही साधुना और क्षपक श्रेणी का आरोहण—क्रमश होकर केवलज्ञान हो जाय और मोक्ष प्राप्त करले, वे अन्यलिग सिद्ध होते है । उन्हे लिंग परिवर्तन की अनुकूलता और आवश्यकता नही रहती है । ऐसे पात्र 'असोच्चा केवली' भी कहलाते है और जब तक वे सलिंगी नही होते—व्यवहार धर्म मे नहीं आते, तब तक वे उपदेशदान या प्रव्रज्या दान भी नही करते । यदि कोई उनके पास शिष्य बनने के लिए आवे, तो वे कह देते है कि 'अमुक के पास दीक्षा ग्रहण करो' । (भगवती ९–३१) इसका कारण यह कि व्यवहार धर्म का प्रचलन, व्यवहार के अनुरूप ही होना चाहिए, जिससे मोक्षमार्ग उज्ज्वल रहे—निर्मल रहे एव प्रतिष्ठा के योग्य रहे । यदि इसका पालन नही हो और मिथ्यात्वियो के लिंग मे रहकर ही उपदेश और दीक्षा होती रहे, तो इससे व्यवहार धर्म का लोप होने के साथ ही मिथ्यात्व की अनुमोदना होती है । एक समझदार व्यक्ति, ऐसी कोई प्रवृत्ति नही करता कि जिससे उसके अनु-करण से बुराई फैले, तब केवलज्ञानी भगवन्त व्यवहार धर्म का लोप कैसे कर सकते है ? व्यवहार धर्म के निर्वाह के लिए ही तो भरतेश्वर ने गृहस्थावस्था मे केवलज्ञान होने के बाद सभी अलकारो का त्याग किया, केशलुचन और गृहत्याग कर दिया (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) यह व्यवहार धर्म के पालन का उत्तम उदाहरण है । अतएव इन सब अपेक्षाओ को छोडकर जो इस भेद को लेकर भ्रम फैलाते है, वे सुज्ञ नही है ।

१३ गृहस्थलिंग सिद्ध—मरुदेवी माता की तरह गृहस्थलिंग में रहते हुए सिद्ध होने वाले ।

अन्यलिग और गृहस्थलिंग—मोक्ष के लिए साधनभूत नही है, इसीलिए इन्हे मोक्ष के साधक ऐसे 'स्वलिंग' से भिन्न बतलाया । 'स्वलिंग' का अर्थ ही मोक्ष साधना का अपना अग है । इसकी उप-योगिता के कारण ही जिनेश्वर भगवतो ने आगमो में इसका विधान किया और लोगो की प्रतीत, सयम यात्रा तथा ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए स्वलिंग की आवश्यकता स्वीकार की है (उत्तरा २३–३२) । 'स्वलिंग', राजमार्ग—धोरीमार्ग है, तब अन्यलिंग और गृहस्थलिग आपवादिक—विकट और चलन नही आनेवाली उपेक्षणीय स्थिति है । अन्यलिंग विधवा के पुत्र की तरह है और गृहलिंग कुमारिका के

पुत्र की तरह है। स्वलिंग में एक समय मे १०८तक सिद्ध होसकते है, तब अधिक से अधिक अन्यलिंग में १० तथा गृहस्थलिंग में ४ ही सिद्ध हो सकते हैं। (उत्तरा० ३६) यही इसकी आपवादिक स्थिति का प्रमाण है।

१४ एक सिद्ध—एक समय में एक ही सिद्ध होने वाले।

१५ अनेक सिद्ध—एक समय में एक से अधिक सिद्ध होने वाले। (प्रज्ञापना-१)

उपरोक्त भेद सिद्ध होते समय की अवस्था को बतलाते हैं। इससे सिद्ध भगवतो के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता। सभी सिद्ध भगवन्त अपनी आत्म ऋद्धि से समान ही है। उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग आदि में किसी प्रकार का अन्तर नही है।

सिद्ध भगवन्त, ऊर्ध्व लोक में—लोकाग्र पर स्थित हैं। 'सिद्धशिला' नामकी एक पृथ्वी जो मनुष्य क्षेत्र के अनुसार पेंतालीस लाख योजन विस्तार वाली है, उसके ऊपर, उत्सेधागुल के नाप से देशोन एक योजन लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोश के छठे हिस्से मे (३३३⅓ धनुष्य परिमाण) लोकाग्र से सटकर सिद्ध भगवन्त रहे हुए है (भगवती १४-८) जिस जगह एक सिद्ध है, उसी जगह अनन्त सिद्ध है। सारा क्षेत्र सिद्धभगवन्तो से व्याप्त है। सभी सिद्ध भगवन्तो मे पारिणामिक एव क्षायिक भाव रहा हुआ है। शरीर एव ससार सम्बन्धी, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आदि समस्त दुःखो से रहित, अनन्त आत्मानन्द में सदा लीन रहते हैं।

यह मोक्ष तत्त्व अन्तिम है। मुमुक्षुओ के लिए आराध्य है। इसकी आराधना, सवर और निर्जरा तत्त्व के द्वारा होती है। जो आत्मार्थी, सवर और निर्जरा के साधन से मोक्ष की साधना करेंगे, वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करके आराधक से आराध्य बन जावेंगे।

इन नौ तत्त्वो मे हेय, ज्ञेय और उपादेय की गणना भिन्न प्रकार से है। नव तत्त्व के विस्तृत वर्णन मे अनेक दृष्टियो से इन पर विचार हुआ है। अभी हमारे मे इसका विभाग इस प्रकार चलता है,—

ज्ञेय—(जानने योग्य)—१ जीव २ अजीव और ३ बन्ध।

हेय—(त्यागने योग्य)—१ पुण्य २ पाप और ३ आश्रव।

उपादेय—(आदरने योग्य)—१ सवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष।

किन्तु पूर्वाचार्य ने इसका विभाग निम्न प्रकार से भी किया है,—

> "हेया बन्धासवपुन्नपावा, जीवाजीवा य हुंति विन्नेया।
> संवरनिज्जरमुक्खो, तिन्नि वि एओ उवावेया"।

इस गाथा के अनुसार **ज्ञेय**—१ जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही है और **हेय**—१ बन्ध २ आश्रव

३ पुण्य और ४ पाप है, तथा उपादेय-पूर्ववत्-१ सवर २ निर्जरा और ३ मोक्ष है। बन्ध को हेय कोटि मे मानना अधिक सगत लगता है, क्योकि निर्जरा द्वारा वन्ध को काटना, इसकी हेयता स्पष्ट बता रहा है।

पुण्य, मोक्ष साधना में हेय होते हुए भी प्रारभिक अवस्था मे, धर्म और मोक्ष मार्ग की अनु-कूलता कराने वाला होने से अपेक्षा पूर्वक उपादेय कोटि में माना जाता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य, धर्म-साधना मे उत्तरोत्तर सहायक होता है, किन्तु पुण्यानुबन्धी पुण्य की प्राप्ति सराग दशा के चलते, धर्म-साधना करते करते, अपने आप हो जाती है। इसके लिए खास पृथक् रूप से प्रयत्न करने की आव-श्यकता नही रहती। पुण्य को ही पाप-एकान्त पाप, मानना-मिथ्या श्रद्धान है।

उपरोक्त नव तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान करना, दर्शन धर्म है। यह दर्शन धर्म, नीव के पत्थर के समान है। इसी पर चारित्र धर्म का विशाल भवन खडा होता है और उसी पर मोक्ष का आनन्द दायक शिखर विराजमान होता है। मुक्तात्मा का चारित्र और तप तो यही छूट जाता है, परन्तु दर्शन और ज्ञान तो सदा सर्वदा-सादि अपर्यवसित बना ही रहता है। ऐसा क्षायिक दर्शन प्राप्त कर सभी आत्मा परमात्म पद को प्राप्त करे।

नमो नमो निम्मल दंसणस्स

मोक्ष मार्ग

द्वितीय खण्ड

×××
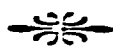
ज्ञान धर्म

ज्ञान आत्मा का निज गुण है, स्व पर प्रकाशक है। ज्ञानोपयोग, जड से जीव की भिन्नता का प्रधान लक्षण है। ज्ञान से रहित कोई जीव हो ही नही सकता। ज्ञान शून्य केवल जड ही हो सकता है। जिन जीवो की अत्यन्त हीनतम दशा है, जिन अनन्त जीवो का मिलकर एक शरीर बना है, जो हमारे चर्म चक्षु और दूरवीक्षण से भी दिखाई नहीं देते—ऐसे सूक्ष्म निगोद के जीवो में भी ज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म अश (अनन्तवाँ भाग) रहा हुआ है। जिस प्रकार जीव, स्वय अनादि अनन्त, अविनाशी एव शाश्वत है, उसी प्रकार उसका निजगुण-ज्ञानभी सदा उसमे उपस्थित रहता है। फिर भले ही वह सुज्ञान हो या कुज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान।

'ज्ञान आत्मा का निजगुण होते हुए भी आत्मा अज्ञानी क्यो कहलाती है? इसके सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेद क्यो बने? किसी मे कम और किसी मे अधिक और किसी महान् आत्मा मे सम्पूर्ण ज्ञान होता है इसका क्या कारण है"? इस शका के समाधान मे कहा जाता है कि यद्यपि ज्ञान आत्मा का निज गुण है तथापि जीव के साथ जड का ऐसा अनादि सयोग सबध जुडा हुआ है कि जिसके कारण ज्ञान ढका हुआ है और उसमे विपरीतता—मिथ्या परिणमन होता है। जिस प्रकार मैल के चढने से दर्पण की प्रतिबिंबक शक्ति ढक जाती है। और सुन्दर चेहरा भी स्याही अथवा काजल पुतजाने पर कुरूप दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा की ज्ञान शक्ति पर, ज्ञानावरणीय के आवरण (मैल) के थर के थर चढ जाने से एव मोह कालिमा से वह कुज्ञान के रूप मे परिणत होजाता है।

सोना अपने आपमे विशुद्ध है, मूल्यवान है, किन्तु अज्ञात काल से वह मिट्टी में ही दवा रहा, उसका असली रूप प्रकट ही नही हो सका। लाखो रुपयो की कीमतवाला हीरा, जवतक जमीन में मिट्टी और पत्थर के साथ पडा रहा, तवतक वह भी पत्थर ही के वरावर हीन दशा मे था। उस समय उसका कुछ भी मूल्य नही था, और वाल जीवो के हाथ में जाने पर भी वह खेलने तक ही काम मे आता रहा। कुम्हार के हाथ पडने पर गधे के गले में वाँधा गया। इस प्रकार बुरी सगति मे मूल्यवान हीरा भी हीन दशा मे भटकता रहा, किन्तु ज्यो ही उसकी कुसगति छूटी और वह जौहरी के सत्सग मे आया कि उसका खरा मूल्य प्राप्त हो गया। फिर वह नरेन्द्र आदि के सिर के ताज मे लगकर जग-मगाने लगा। कुसगति के कारणमिट्टी में दवा हुआ और गधे के गले मे बँधा हुआ हीरा, सुसगति के कारण नरेन्द्रादि के सिर पर शोभा पाने लगा। वस ऐसी ही दशा जीव के ज्ञान गुण की है। ज्ञाना-वरणीय के अनन्तानन्त पुद्गलो से आच्छादित ज्ञान एकदम दव जाता है। सामान्य जनता कल्पना भी नही कर सकती कि पत्थर पानी आदि स्थावर अथवा अण्डे आदि में भी ज्ञान है।

सुन्दर चेहरेवाले ने कुकर्म किया, और कुकर्म के कारण राज्य सत्ता के द्वारा उसका मुँह काला करवाया गया। वह कालापन उसका खुद का नहीं है। खुद तो सुन्दर है, गौर वर्ण युक्त सुरूप है। जव वह कालिमा छूट जायगी, तव उसका सुन्दर रूप निखर आयगा। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा, अपने आपमे अनन्त ज्ञान की सत्ता धराता हुआ भी दुष्कर्म=ज्ञान को आवरण करनेवाले खोटे कर्म के कारण, अज्ञानी वना हुआ है। यदि वह भव्य हो, उसका कुज्ञान अनादि होते हुए भी सान्त=अन्तवाला हो, तो आवरण नष्ट करके अपनी सत्ता मे रहे हुए अनन्तज्ञान को प्रकट कर सकेगा।

घर में लाखो की सम्पत्ति दवी पडी हो,किन्तु उसकी जानकारी नही हो, तो वह किस कामकी? वह निधि वर्त्तमान दरिद्रता को नही मिटा सकती। उस निधि के ऊपर से सदैव चलते फिरते रहने पर और उस पर अपना स्वामित्व होने पर भी वह अज्ञान के कारण काम मे नही आती। जव यह ज्ञान हो जाय कि 'मेरे घरमे अमुक स्थान पर लाखो की सम्पत्ति दवी पडी है,' तभी उसे प्राप्त कर सुखी वना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा की अनन्तज्ञान रूपी लक्ष्मी, आत्मा मे होने पर भी ज्ञानावरणीय के दारिद्रय कूडे कर्कट के नीचे दवी पडी है। जो अन्तर अन्धे और सूझतो मे है,वही कुज्ञान और सम्यग् ज्ञान मे है।

अज्ञान स्वय अधर्म है, क्योंकि वह आत्मा के निज स्वरूप का भान नही होने देता है और स्वभाव को नही जानने देकर विभाव में ही उलझाये रहता है। इसलिए अज्ञान को हटाकर सम्यग्ज्ञानी होना परमावश्यक है। सम्यग्ज्ञान श्रुत धर्म है और चारित्र धर्म का कारण है। ज्ञान धर्म के कारण ही आत्मा हेयोपादेय को जानता है और उस पर श्रद्धान् करके चारित्र धर्म का पालन करता है। जो हेयोपादेय को जानता

ही नहीं, वह दुष्कृत्य का त्याग और चारित्र का पालन कैसे कर सकता है? चारित्र धर्म की उत्पत्ति का कारण ज्ञान धर्म है। ज्ञान धर्म रूपी कारण की अनुपस्थिति में चारित्र धर्म रूपी कार्य नहीं हो सकता "नाणेण विना न हुंति चरणगुणा" (उत्तरा० २८) दर्शन सहचारी ज्ञान धर्म-वह मूल है कि जिस पर चारित्र धर्म रूपी कल्पवृक्ष लहलहाता है और मोक्ष रूपी महान् उत्तम अमृत-फल की प्राप्ति होती है।

मोक्ष का साधक अणगार अपने कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध होने के बाद अपनी साधना प्रारंभ करता है। वह शूरवीर योद्धा अपने कर्म शत्रुओं पर विजय पाने के लिए कमर कसकर तैयार होता है। उस की साधना के चार कारण हैं,-

"सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप। इनकी आराधना करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है-ऐसा जिनेश्वर भगवंतों ने कहा है" (उत्तराध्ययन अ २८)

ज्ञान के द्वारा जीव हिताहित को जानता है। लोकालोक के स्वरूप को समझता है और जड चैतन्य के भेद, संयोग सम्बन्धादि तथा मुक्ति को जानता है। दर्शन द्वारा वह श्रद्धान करता है। वह अपने ध्येय और हेय ज्ञेय उपादेय में दृढ निश्चयी हो जाता है। फिर वह चारित्र के द्वारा हेय को त्याग कर उपादेय को अंगीकार करता है और अपनी आत्मा को बुराइयों से बचालेता है तथा तप के द्वारा आत्मा का मैल हटाता है। यही मोक्ष मार्ग है।

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं, (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन पर्यव-ज्ञान और (५) केवलज्ञान।

मति ज्ञान

मतिज्ञान का दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान भी है। पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थों का ज्ञान हो, वह मतिज्ञान कहलाता है। यह मतिज्ञान दो प्रकार का होता है १ अश्रुत निश्रित और २ श्रुत निश्रित।

अश्रुत-बिना सुने अपनी बुद्धि द्वारा ज्ञान हो, वह अश्रुत निश्रित ज्ञान है। इसके चार भेद हैं

(१) **उत्पातिकी बुद्धि**-बिना देखे, जाने और सुने, पदार्थों को तत्काल ही यथार्थ रूप से ग्रहण करनेवाली बुद्धि।

(२) **वैनयिकी बुद्धि**-विनय से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि।

(३) **कर्मजा बुद्धि**-कार्य करते करते अभ्यास और चिंतन से होने वाली या कार्य के परिणाम को देखनेवाली बुद्धि।

(४) **पारिणामिकी बुद्धि**—अनुमान हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करनेवाली, परिपक्व अवस्था से उन्नत और मोक्ष रूपी फल देनेवाली बुद्धि ।

श्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद है ।

(१) **अवग्रह**—सामान्यज्ञान ।

(२) **ईहा**—विचार करना ।

(३) **अवाय**--निश्चय करना ।

(४) **धारणा**--याद रखना । इनके भी अवान्तर भेद नन्दीसूत्र मे विस्तार से बताये है । जो इन्द्रियो और मनसे सबधित है ।

श्रुत ज्ञान

श्रुत ज्ञान—शास्त्रो को सुनने और पढने से इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है । मति पूर्वक श्रुतज्ञान होता है । शब्द और अर्थ का विचार श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञान के निम्न चौदह भेद है,—

१ **अक्षर श्रुत**—जसका कभी नाश नही हो,उसे अक्षर कहते है । इस के तीन भेद है—१ सज्ञाक्षर—अक्षर की आकृति या रचना २ व्यञ्जनाक्षर—उच्चारण, और ३ लब्धि अक्षर—पाच इन्द्रिय और मन से होने वाला भाव श्रुत ।

२ **अनक्षर श्रुत**—उच्छ्वास, नि श्वास, थूकना, खासना, छीकना आदि सकेत से समझना ।

३ **संज्ञी श्रुत**--इसके तीन भेद है—१कालिकी उपदेश २ हेतु उपदेश और ३ दृष्टिवादोपदेश ।

१ कालिकी उपदेश से जिस जीव को ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिता और विमर्श होता है, वह सज्ञी श्रुत है ।

२ जिसमें बुद्धि पूर्वक कार्य करने की क्षमता हो, वह हेतु उपदेश की अपेक्षा सज्ञी है ।

३ सम्यग् दृष्टि के श्रुत का क्षयोपशम होता है, इसलिए वह दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा सज्ञी है।

४ **असंज्ञी श्रुत**—जिसे सज्ञी श्रुत नही है, ऐसे जीव ।

५ **सम्यग् श्रुत**—केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, तिलोक पूज्य अरिहत भगवान् प्रणीत तथा आचार्य के सर्वस्व समान द्वादशाग श्रुत । दश पूर्व के पूर्णज्ञाता से लगाकर चौदह पूर्व के पूर्णज्ञाता का श्रुत सम्यग् श्रुत है । इनसे कम ज्ञान वाले का श्रुत सम्यग् श्रुत, भी हो सकता है और मिथ्या श्रुत भी ।

६ मिथ्याश्रुत-इनका वर्णन आगे किया जायगा।

७ सादि श्रुत-जिनकी आदि हो। द्वादशांगी श्रुत पर्यायार्थिक नय से सादि है। द्रव्यसे-एक व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। क्षेत्र से पाँच भरत और पाच एरवत क्षेत्र में सादि है। काल से अवसर्पिणि उत्सर्पिणि कालमें और भाव से जिन प्ररूपित भाव उपदेश व कहे जाते है, तव आदि होती है। तथा भवसिद्धिक जीव के सम्यक् श्रुत की सादि होती है।

८ अनादि श्रुत-द्रव्यार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अनादि है। द्रव्य से वहुत से मनुष्यो की अपेक्षा, क्षेत्र से पाच महाविदेह, काल से नो-अवसर्पिणि नोउत्सर्पिणि काल तथा भाव से क्षायोपशमिक भाव से अनादि श्रुत है। अभवसिद्धिक जीव का मिथ्याश्रुत अनादि होता है।

९ सपर्यवसित-अतवाला श्रुत। पर्यायार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अतवाला है। द्रव्य से केवल-ज्ञान होने पर, या मिथ्यात्व दशा प्राप्त होने पर, व्यक्ति विशेष के श्रुतज्ञान का अत होता है। क्षेत्र से भरतैरवत में, काल से अवसर्पिणी उत्सर्पिणी में, और भाव से जिनोपदेश के पश्चात् व मिथ्यात्व का उदय अथवा क्षायिक ज्ञान प्राप्त होने पर श्रुतज्ञान का अत होता है।

१० अपर्यवसित-द्रव्यार्थिक नय से द्वादशांगी श्रुत अत रहित है। द्रव्य से वहुत से श्रुतज्ञानियो की अपेक्षा, क्षेत्र से पाच महाविदेह में, काल से नोअवसर्पिणि नोउत्सर्पिणि में और भाव से क्षायोप-शमिक भाव से, अन्त रहित है तथा अभव्यो का मिथ्याश्रुत अन्त रहित है।

११ गमिक श्रुत-दृष्टिवाद के आदि मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ उसी सूत्र का वारवार उच्चारण होता है।

१२ अगमिक श्रुत-आचारांगादि कालिक श्रुत।

१३ अंग प्रविष्ट-१आचारांग सूत्र २ सूयगडांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ विवाहप्रज्ञप्ति ६ ज्ञाताधर्मकथा ७ उपासकदशा ८ अतकृद्दशा ९ अनुत्तरोपपातिकदशा १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद।

१४ अंग बाह्य-इसके दो भेद है। १ आवश्यक और २ आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक-इसके छह भेद है। यथा-१सामायिक २ चोविसत्था ३ वदना ४ प्रतिक्रमण ५ कायुत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

आवश्यक व्यतिरिक्त-इसके कालिक और उत्कालिक ऐसे दो भेद है।

१ कालिक-जो दिन और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढे जायें। इसके अनेक भेद है। जैसे-१ उत्तराध्ययन २ दशाश्रुतस्कन्ध ३ कल्प-बृहद्कल्प ४ व्यवहार ५ निशीथ ६ महानिशीथ

७ ऋषिभाषित ८ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ९ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति १० चन्द्रप्रज्ञप्ति ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति १२ महतिविमानप्रविभक्ति १३ अगचूलिका १४ वर्गचूलिका १५ विवाहचूलिका १६ अरुणोपपात १७ वरुणोपपात १८ गरुडोपपात १९ धरणोपपात २० वेश्रमणोपपात २१ वेलन्धरोपपात २२ देवेन्द्रोपपात २३ उत्थान सूत्र २४ समुत्थान सूत्र २५ नागपरीज्ञा २६ निरयावलिका २७ कल्पिका २८ कल्पावतसिका २९ पुष्पिका ३० पुष्पचूलिका ३१ वृष्णिदशा ३२ आशीविष आदि ८४ हजार प्रकीर्णक भगवान् आदिनाथजी के शासन मे थे। मध्य के तीर्थंकरो के शासन मे सख्यात हजार थे और भगवान महावीर के १४ हजार प्रकीर्णक थे। वर्त्तमान समय मे हमारे दुर्भाग्य से बहुत थोडे और सक्षेप रूप मे रहे है। जिन के नाम नन्दीसूत्र में लिखे है, उनमे से भी कई अप्राप्य है, और कई मे अनिष्ट परिवर्तन हो गया है। इनमें से केवल १२ सूत्र स्थानकवासी समाज प्रामाणिक मानता है।

२ उत्कालिक-जो अस्वाध्याय काल छोडकर किसी भी समय पढे जा सके, वे उत्कालिक सूत्र है। ये भी अनेक प्रकार के है। यथा-१ दशवैकालिक २ कल्पाकल्प ३ चुल्लकल्प ४ महाकल्प ५ औपपातिक ६ रायप्रसेणी ७ जीवाभिगम ८ प्रज्ञापना ९ महाप्रज्ञापना १० प्रमादाप्रमाद ११ नन्दी १२ अनुयोगद्वार १३ देवेन्द्रस्तव १४ तन्दुलवेयालिय १५ चन्द्रविद्या १६ सूर्यप्रज्ञप्ति १७ पौरुषीमडल, १८ मडल प्रवेश १९ विद्याचारण विनिश्चय २० गणिविद्या २१ ध्यानविभक्ति २२ मरण विभक्ति २३ आत्मविशुद्धि २४ वीतरागश्रुत २५ सलेखनाश्रुत २६ विहारकल्प २७ चरणविधि २८ आतुर प्रत्याख्यान २९ महा प्रत्याख्यान आदि। इनमें से आठ सूत्रो को स्था० जैन समाज प्रामाणिक मानताहै।

श्रुतज्ञान, वैसे तो द्वादशागी पर्यन्त ही है। क्योकि दृष्टिवाद मे चौदह पूर्व का समावेश हो जाता है और दृष्टिवाद मे अधिक श्रुतज्ञान है ही नही, फिर भी वे शास्त्र, ग्रथ, पुस्तके और साहित्य भी श्रुतज्ञान मे ही समावेश हो जाते है, जो सम्यक् श्रुत के अनुकूल, पोषक और अविरुद्ध है। श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनो साथ ही रहते है। श्रुतपूर्वक मतिज्ञान नही होता, किन्तु मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। इस दृष्टि से मतिज्ञान को प्रथम स्थान मिला है। मति और श्रुत, ये दोनो ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इन्द्रियो और मनके द्वारा इनका ज्ञान होता है। परोपकार और देन लेन के काम मे श्रुतज्ञान ही आता है। मति, अवधि, मन पर्यव तथा केवलज्ञान किसी को दिया लिया नही जाता। तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान से, समस्त पदार्थों की सभी अवस्थाएँ, एक साथ, एक समय मे जानते है, किन्तु इससे किसी का उपकार नही होता। केवलज्ञान से जानी हुई बात वे अपने उपदेश में कहेगे, वह श्रोता के लिए श्रुतज्ञान ही है और उसीसे प्रतिबोध पाकर जीव मोक्षाभिमुख होते है।

यह सम्यक् श्रुत, मोक्षाभिलाषियो के लिए सर्वस्व के समान है। आगमकारो ने इसे **'गणि-**, अर्थात्-आचार्य की 'सर्वस्वनिधि' के समान बताया है। हमे इस निधि की रक्षा करनी चाहिए।

दुःख है कि इस अमूल्यनिधि की उपेक्षा करके आज कल कई सन्त और सतिये, मिथ्याश्रुत=जो पत्थर और मैले के समान त्यागने योग्य है, उसकी ओर आकर्षित हो रहे हैं। और कोई कोई मिथ्या ज्ञान से प्रभावित श्रमण, सम्यग्ज्ञान के प्रति अविश्वासी होकर विपरीत प्रचार करते हैं। श्रोताओं को उल्टा सीधा समझाकर श्रद्धा कम करते हैं। यह खेद की बात है।

श्रुतज्ञान के आलम्बन से मन को वश में किया जाकर अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है। जिसे हम स्वाध्याय नामक तप कहते हैं—वह श्रुतज्ञान से सबंधित है। वाचना, पृच्छादि पांचो भेद, श्रुतज्ञान से ही सबंधित हैं। धर्मध्यान तो श्रुतज्ञान से सबंधित है ही, किन्तु शुक्ल ध्यान के दो चरण भी श्रुतज्ञान सेसबंधित रहते हैं। श्रीउत्तराध्ययन अ० २९ प्रश्न ५९ के उत्तर में आगमकार फरमाते हैं कि—

"ज्ञान सम्पन्नता से सभी भावों का बोध होता है। जिस प्रकार धागे सहित सूई गुम नहीं होती, उसी प्रकार श्रुत ज्ञान सहित आत्मा चतुर्गति रूप संसार में लुप्त नहीं होती, किन्तु विनय, तप और चारित्र को प्राप्त करती है। ऐसा मनुष्य स्वसमय परसमय का विशारद होकर प्रामाणिक पुरुष हो जाता है। बहुश्रुत पुरुष की प्रशंसा में आगमकार महाराजा ने उत्तराध्ययन का सारा ग्यारहवा अध्ययन रच दिया है। ऐसे श्रुत ज्ञान की आराधना करना, सर्व प्रथम आवश्यक है।

श्रुतज्ञान (आगम) तीन प्रकार का होता है। सूत्र रूप, अर्थ रूप और सूत्रार्थ रूप। ज्ञान की आराधना को हमारे निर्ग्रंथ महर्षियों ने आचार रूप माना है, और इसे पांच आचार में सबसे पहला स्थान दिया है क्योंकि अनन्त भव भ्रमण रूप अज्ञान अन्धकार और मोह को दूर करने में ज्ञान की सर्व प्रथम आवश्यकता है। ज्ञान सर्व प्रकाशित है **"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए"** (उत्तरा०—३२—२) ज्ञान के द्वारा ही जीव, हेय और उपादेय को जानता है। जिसे—**'ज्ञ परिज्ञा'** कहते हैं। इसके बाद **'प्रत्याख्यान परिज्ञा'** होती है **"पढमंनाणं तओ दया"** (दशवै० ४—१०) ज्ञान को आचार रूप में मानना (ठा० ५—२) निर्ग्रंथ धर्म की अनेक विशेषताओं में की एक विशेषता है। ज्ञानाचार निम्न आठ प्रकार का होता है।

१ कालाचार—अस्वाध्याय काल को छोडकर, कालिक उत्कालिक के काल के अनुसार पढना।
२ विनयाचार—ज्ञान और ज्ञानदान देनेवाले गुरु का विनय करना।
३ बहुमानाचार—ज्ञान ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में आदर और भक्ति रखना।
४ उपधानाचार—जिस सूत्र के पढने का जो तप बतलाया गया है, उस तप को करते हुए पढना।
५ अनिन्हवाचार—ज्ञान और ज्ञान दाता के नामको नही छुपाना और उनसे विपरीतता नहीं करना।

६ व्यञ्जनाचार-सूत्राक्षरो का शुद्ध उच्चारण करना।
७ अर्थाचार-सूत्र का सत्य अर्थ करना।
८ तदुभयाचार-सूत्र और अर्थ को शुद्ध पढना और समझना।

ज्ञान के अतिचार

इस प्रकार ज्ञानाचार का पालन होता है। ज्ञानाचार को पालनेवाले को निम्न चौदह अतिचारो (दोषो) को टालना आवश्यक है।

१ सूत्र के पदो या अक्षरो को आगे पीछे और उलट पलट कर पढना।
२ सूत्र के भिन्न भिन्न स्थानो पर आये हुए समानार्थक पदो को एक साथ मिलाकर (बीच में के पदो को छोडकर) पढना।
३ इस प्रकार पढना कि जिससे अक्षर छूट जाय।
४ सूत्र पाठ मे अपनी ओर से अक्षर वढाकर पढना।
५ पद को छोडते हुए पढना।
६ ज्ञान और ज्ञानदाता का विनय नही करते हुए पढना।
७ योग हीन-मन, वचन और काया की चचलता-अस्थिरता एव अशुभ व्यापार मे लगाते हुए पढना।
८ भली प्रकार से उच्चारण नही करना।
९ शिष्य-पढनेवाले की शक्ति से अधिक ज्ञान पढाना।
१० मान प्रतिष्ठादि की प्राप्ति आदि बुरे भावो से पढना।
११ जिस सूत्र के पढने का जो काल नही हो, उस समय पढना।
१२ जिस सूत्र के लिए जो समय निश्चित है, उस समय स्वाध्याय नही करना।
१३ अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना।
१४ स्वाध्याय कालमे स्वाध्याय नही करना।

ये चौदह अतिचार है, जिससे ज्ञानाचार में दोष लगता है (आवश्यक सूत्र) सूयगडाग सूत्र (१-१४-१९) मे लिखा है कि 'सूत्र के अर्थ को छुपावे नही और अपसिद्धात का आश्रय लेकर सूत्र की व्याख्या नही करे'। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार के दोषो से वचता हुआ ज्ञानाचार का पालन

अस्वाध्याय

सूत्र पठन में निम्न ३४ अनध्याय (अस्वाध्याय) को भी टालना चाहिए (ठाणाग सूत्र)

आकाश संबंधी अस्वाध्याय–१ बडा तारा टूटने पर (एक प्रहर) २ दिशाएँ लालरग की हो तब तक ३ अकाल मे गाजना (२ प्रहर) ४ अकाल मे बिजली होना (एक प्रहर) ५ बिजली की कड-कडाहट हो तो (दो प्रहर) ६ बाल चन्द्र (शुक्लपक्ष की प्रतिपदा मे तृतीया तक छोटा चन्द्रमा रहे तब तक) ७ आकाश मे यक्षाकार हो ८ कुहरा या धूंअर छा जाने पर ९ तुषार पात हो तब, और १० धूलि से आकाश ढक जाय तब।

औदारिक शरीर संबंधी अस्वाध्याय–१ हड्डी २ मास ३ रक्त, ये तीनो तिर्यच पचेन्द्रिय की हो तो ६० हाथ के भीतर और मनुष्य के हो तो १०० हाथ के भीतर अस्वाध्याय के कारण है। इनका काल तीन प्रहर का है, परन्तु हत्या करने से मरे हो, तो एक दिन रात का अस्वाध्याय काल है ४ विष्ठा आदि दिखाई देते हो, या दुर्गन्ध आती हो, तो ५ स्मशान के निकट ६ चन्द्र ग्रहण ७ सूर्य ग्रहण (८, १२ या १६ प्रहर) ८ राजा, मन्त्री या ठाकुर के मरने पर ९ युद्ध होने पर (उसके निकट रहे हो तो) १० उपाश्रय मे या निकट, मनुष्य या पशु का शव पडा हो तो।

अस्वाध्याय जनक तिथियें–पांच पूर्णिमाएँ–१ आषाढी, २ भाद्रपदी, ३ आश्विनी, ४ कार्तिकी और ५ चैत्री पूर्णिमा, तथा इन पाचो पूर्णिमाओ के दूसरे दिन की कृष्ण प्रतिपदाएँ। ये दस दिन।

सन्धिकाल–१ सूर्योदय २ सूर्यास्त ३ मध्यान्ह और ४ मध्य रात्रि के समय, दो दो घडी तक।

नोट–इसमें जो काल का नियम बताया, उसमे आचार्यो मे मत भेद है। हमने पूज्य श्री हस्ती-मलजी महाराज सा के नन्दीसूत्र के परिशिष्ठ मे काल का प्रमाण दिया है।

उपरोक्त अस्वाध्यायो को टालकर भाव पूर्वक सूत्र स्वाध्याय करना चाहिए। इससे कर्मों की निर्जरा होती है और ज्ञान की पर्यायें निर्मल होती जाती है।

श्रमण जीवन में स्वाध्याय का बडा भारी महत्त्व है। जिनागमो में विधान है कि 'साधु को दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर में अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६–१२) और रात को भी प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करना चाहिए (उत्तराध्ययन २६–१८, ४४) स्वाध्याय के–वाचना, पृच्छा, पुनरावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये पाच भेद है (उत्तराध्ययन ३०–३४, स्थानाग, उववाई आदि)। वही वाचना, पृच्छा आदि स्वाध्याय में मानी जा सकती है जो श्रुत चारित्र धर्म के लिए अनुकूल और उपकारक हो। इसके सिवाय जितना भी वाचन, विचार, विवाद और कथन है, सब कर्म बन्धन के साधन है, मिथ्या श्रुत में गर्भित है। लौकिक ज्ञान देना, इसके लिए पाठशालादि खुलवाना, कला शिक्षण का प्रचार करना अथवा रोग निदान, औषधालयादि के विषय में प्रेरणा देना

तथा जड विज्ञान विषयक साहित्य पढना पढ़ाना ये सब मिथ्याज्ञान है। नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हें मिथ्याश्रुत कहा है। मिथ्याश्रुत का पठन, पाठन उपदेशादि सावद्य क्रिया है और श्रमण धर्म के विपरीत है।

हमारे पूर्वकाल के महर्षिगण, प्रव्रजित होने के साथ ही, सबसे पहले सामायिकादि ग्यारह अंग ही पढते थे, "सामाइयमाइयाइं एकारस्स-अंगाइं" विशेष पढनेवाले दृष्टिवाद भी पढ़ते थे। वर्त्तमान में यह प्रथा बहुत अंशों में छूट गई है और लौकिक ज्ञान की ओर झुकाव हो गया है। सबसे पहले स्व समय का ज्ञान होना चाहिये। स्व-समय=अपने श्रुत धर्म के ज्ञान में पारगत होने के बाद पर-समय को देखना हित कर हो सकता है। वैसे ज्ञानियो को मिथ्याश्रुत, सम्यक् रूप में परिणत होकर स्वपर उपकारक हो सकता है। अन्यथा लाभ के बनिस्बत हानि ही अधिक होती है-जो वर्त्तमान में प्रत्यक्ष हो रही है। पूर्वाचार्यों ने 'नमो नाणस्स' कहकर ज्ञान को नमस्कार किया है। वह सम्यग्ज्ञान को ही नमस्कार किया है, मिथ्याज्ञान को नही।

मिथ्या ज्ञान

मोक्ष की साधना करनेवाला, वैसे ज्ञान से दूर ही रहता है-जिसके द्वारा विषय विकार की वृद्धि हो, कुज्ञान और मिथ्यात्व का पोषण हो, व ससार परिभ्रमण तथा कर्मो का बन्धन बढे। जिस ज्ञान से मिथ्यात्व, बुरी भावना, अविरति कषाय और विषय वासना की वृद्धि हो, वह ज्ञान नही, किन्तु अज्ञान है। और अज्ञान ही अहितकर्त्ता-दुःख दायक है (आचारांग १-३-१) सम्यग्ज्ञान के आराधक को अज्ञान=मिथ्याज्ञान=पापश्रुत से बचना चाहिए। पापश्रुत के समवायांग २९ में भेद बतलाये है। वे इस प्रकार है।

१ भूमिकम्पादि निमित्त बतानेवाले शास्त्र २ उत्पात के लक्षण और फल बतानेवाले ग्रथ ३ स्वप्न शास्त्र ४ अन्तरिक्ष शास्त्र जिसमें आकाश के ग्रहादि का फल बताया गया हो। ५ शरीर और उसके अंगोपांग के शुभाशुभ लक्षणादि बतानेवाला ६ स्वर शास्त्र ७ शरीर पर के तिलमषादि का फल बताने वाले ८ लक्षण-स्त्री पुरुषों के लक्षण बताने वाले शास्त्र। इन आठो के सूत्र वृत्ति और वार्तिक, यों २४ भेद हुए। २५ विकथानुयोग-अर्थ और काम के उपायो के बतानेवाले, विषय वासना को जगाने वाले, स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राजकथादि साहित्य २६ विद्यासिद्धि का उपाय बतानेवाले २७ मन्त्र शास्त्र २८ वशीकरणादि योग बतानेवाले और २९ अन्य तीर्थिक प्रवर्तकानुयोग। ये पापश्रुत है।

उपरोक्त पापश्रुत के अतिरिक्त नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र में मिथ्याश्रुत के निम्न भेद बतलाये हैं

१ भारत २ रामायण ३ भीमासुर कथित ग्रंथ ४ कौटिल्य–अर्थशास्त्र ५ शकटभद्रिव ६ खोडमुख ७ कार्पासिक ८ नागसूक्ष्म ९ कनकसप्तति १० वैशेषिक ११ बुद्धवचन १२ त्रैराशि १३ कापिलीय–अंक शास्त्र १४ लौकायत १५ षष्ठितन्त्र १६ माठर १७ पुराण १८ व्याकरण १९ भागवत २० पातञ्जलि २१ पुष्यदैवत २२ लेख २३ गणित २४ शकुनरुत २५ नाटक अथवा ७२ कलाएँ और अंगोपांग सहित चार वेद। ये सब असम्यग् दृष्टि और छद्मस्थ द्वारा मति कल्पना से रचे हुए मिथ्याश्रुत हैं। इनका समावेश ऊपर बताये हुए पापश्रुत में भी हो सकता है। विकथानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवर्तकानुयोग में उपरोक्त भेदों को गर्भित किये जा सकते हैं। संसार व्यवहार चलाने, आजीविका में सहायक होने वाले और राज्यनीति आदि जितना भी ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान में शुमार नहीं है। सम्यग् ज्ञान वही है जिससे आत्मा का शुद्धिकरण हो, मिथ्यात्व का मैल दूर हो। जिस ज्ञान से त्याग, तप, क्षमा और अहिंसा की भावना जगे;–

"जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं" (उत्तराध्ययन ३–८)

अज्ञान–मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का होता है–१ मति २ श्रुति और ३ विभंग। इसीसे मिथ्याश्रुत की रचना होती है। यह ठीक है कि उपरोक्त मिथ्याश्रुत, सम्यग्दृष्टि को सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है, (श्री नन्दीसूत्र) किन्तु यह राजमार्ग नहीं है और इतने मात्र से वह श्रुत, सम्यक्श्रुत नहीं कहा जा सकता। उसे आगमकार महर्षि ने मूल में ही पापश्रुत एवं मिथ्याश्रुत कहा है। वास्तव में यह मिथ्याश्रुत ही है। ९९ प्रतिशत पर वह मिथ्या असर ही करता है। कोई एकाध सम्यग्दृष्टि, उसे पढ़कर सोचे कि 'अहो! कहाँ निर्ग्रंथ प्रवचन! जिसमें संवर निर्जरा द्वारा पाप कर्मों के नाश का ही उपदेश है **"पावाणंकम्माणं णिग्घायणट्ठाए"** और कहाँ ये राग द्वेष वर्धक, युद्धादि के प्रेरक, कनक-कामिनी और सांसारिक सुखों की कामना को जगाने वाले वचन! प्रकाश और अन्धकार जितना अन्तर'। इस प्रकार विचार करके प्राप्त सम्यक्त्व को दृढ़ीभूत कर सकता है, अथवा सम्यग्दृष्टि, उन मिथ्याश्रुत से सम्यक् श्रुत की विशेषता बताकर श्रोताओं की सम्यग् परिणति में वृद्धि कर सकता है। अथवा उन मिथ्याश्रुत के अनुकूल अंश या अर्थ की सहायता से उसके अनुयायियों को समझाकर पाप परिणति छुड़ाने का प्रयत्न कर सकता है। योग्य वैद्य, विष का उपयोग करके भी रोगी को आराम पहुँचा सकता है। विष का सम्यग् उपयोग, हितकर हो सकता है, किन्तु इससे विष स्वयं अमृत नहीं बन सकता। वह तो विष ही रहने का। साधारण जनता को उससे बचते बचाते रहना ही हितकर है। इसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने आपमें तो मिथ्या ही है, किन्तु किसी सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग् उपयोग करने पर उसे सम्यग् रूप से परिणत हो सकता है।

आचाराग श्रु १ अ ४ उ २ में "जे आसवा ते परिसवा जे परिसवा ते आसवा", लिखा है। इसका मतलब भी यही है। आस्रव अपने आपमे तो आस्रव ही है और सवर सवर ही है। न तो आस्रव सवर हो सकता है और न सवर ही आस्रव बन सकता है, किन्तु क्षयोपशम भाववाला पवित्र आत्मा यदि सयोग से आस्रव के स्थान पर भी चला जाय, तो वह वहा उस कर्मबंध के निमित्त को भी सवर का कारण बना सकता है और उदय भाववाला व्यक्ति सवर के निमित्त से भी कर्मों का आस्रव कर-लेता है। किन्तु आस्रव अपने आपमें तो आस्रव ही रहता है। उसी प्रकार मिथ्याश्रुत अपने आप मे तो मिथ्याश्रुतही रहता है। प्रत्येक हितैषी जन, अपने प्रिय को बुरी वस्तु से बचाने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार आगमकार भी भव्य प्राणियो को मिथ्याश्रुत से बचने का उपदेश करते है। जो मिथ्याश्रुत को पढकर पण्डित बनते है, उनमे अधिकाश सम्यग्ज्ञान से गिरे हुए ही मिलते है, क्योकि मिथ्याज्ञान के प्रभाव में वे आये हुए है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही भाषा का विशिष्ठ ज्ञान, स्वपर का उपकारक हो सकता है, अन्यथा उल्टा परिणाम होता है। बिना सम्यक्त्व के भाषा का विशिष्ठ ज्ञान और मिथ्याश्रुत, दोष वर्धक हो जाते है। कहा है कि-"जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्ज दोसाणुगया परज्झा" अर्थात् जो निर्ग्रंथ प्रवचन को छोडकर आडम्बरी वचन मे आकर्षित होते है और अन्य तीर्थियो के शास्त्रो की प्ररूपणा करते है, वे राग द्वेषसे युक्त है (उत्तरा० ४-१३) इसलिए मोक्षार्थि को मिथ्याज्ञान से दूर रहकर सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। और उसी श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिए और उसी श्रुत को पढना चाहिए जिससे अपनी व दूसरो की आत्मा की मुक्ति हो (उत्तरा० ११-३२)

अवधि ज्ञान

मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा है और अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान है (नन्दीसूत्र)। इनमे से एक मात्र केवलज्ञान ही सर्व प्रत्यक्ष है, शेष दोनों ज्ञान देश प्रत्यक्ष है। प्राप्त-क्रमानुसार यहा अवधिज्ञान का कुछ वर्णन नन्दीसूत्रानुसार किया जाता है।

अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है, एक तो भव प्रत्ययिक-जो जन्म से ही देव और नारक जीवो को होता है और दूसरा क्षायोपशमिक, यह मनुष्य और तिर्यञ्च पचेन्द्रियो को होता है। जिन मनुष्यों और पशु पक्षियादि तिर्यञ्च पचेन्द्रियो के, अवधिज्ञान को ढकनेवाले कर्मों का क्षयोपशम होता है उन्हे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो मुनिराज, ज्ञान दर्शन और चारित्र के गुणो से युक्त है, उन्हे ज्ञान और चारित्र गुण में रमण करते करते तदावरणिय कर्मों के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। यह छ प्रकार का होता है। यथा-

१ आनुगामिक-इसके भी दो भेद हैं। जैसे-

अन्तगत- (१) पुरतोअन्तगत, जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपकादि को आगे रखकर चलता है और उससे आगे आगे प्रकाश होता है, उसी प्रकार आगे के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला। (२) मार्ग तो अन्तगत-पीछे के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला। (३) पार्श्व तो अन्तगत-बगल के-आस पास के क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाला।

मध्यगत-जिस प्रकार कोई मनुष्य रोशनी को मस्तक पर रखकर चलता है और उससे चारों ओर प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार आगे, पीछे, और अगलबगल की ओर के पदार्थों को दिखाने वाला।

उपरोक्त दोनो भेदों में यह विशेषता है कि अतगत आनुगामिक अवधिज्ञान वाला एक ओर आगे, पीछे या आसपास के सख्यात अथवा असख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र की वस्तुओ को देखता है, किन्तु मध्यगत आनुगामिक भेदवाला-चारो ओर सख्यात या असख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र को देख लेता है। -

२ अनानुगामिक-जिस क्षेत्र में रहे हुए अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं रह कर देख सके, वहां से अन्यत्र जाने पर नही दिखाई देनेवाला।

३ वर्धमान-जो महात्मा, उत्तम और पवित्र विचारों में वर्त्तमान और वर्धमान चारित्र सम्पन्न हैं, परिणामो की विशुद्धि से जिनका चारित्र विशुद्धतर होकर आत्म विकास हो रहा है, उनके अवधिज्ञान की सीमा चारो ओर बढती जाती है। उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते है।

४ हायमान-अप्रशस्त-बुरे-विचारो में रहने के कारण, उत्पन्न अवधिज्ञान में हीनता होती है, वह हीयमान है।

५ प्रतिपाति-उत्पन्न होने के बाद चला जाने वाला-गिरजाने वाला।

६ अप्रतिपाति-जो अवधिज्ञान कभी नही जाता और केवलज्ञान प्राप्त करता है, वह अप्रतिपाति है। इस अवधिज्ञान वाला समस्त लोक को देखता है। उसकी शक्ति लोक से अधिक, ऐसे असख्य लोक प्रदेश को देखने की होती है। ऐसा अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यो को देखता है। वह भूत भविष्य के असख्य अवसर्पिणि उत्सर्पिणि काल के द्रव्यो को देख सकता है और अनन्त भावो को जानता है।

परम अवधिज्ञानी को तो अतर्मुहूर्त मे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है (भगवती श १८-८ टीका)

मनःपर्यव ज्ञान

मति श्रुति और सामान्य अवधिज्ञान तो देव,नारक,मनुष्य और तिर्यञ्च पचेन्द्रिय जीवों को भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु मन पर्यवज्ञान तो उन्ही मनुष्यो को उत्पन्न होता है—जो कर्मभूमज, गर्भज, पर्याप्त और सख्यात वर्ष की आयुवाले हों। फिर जो सम्यगदृष्टि युक्त सयती है,उन्ही सयतो मे से किसी को यह ज्ञान होता है। सतत साधनाशील—अप्रमत्त और विशिष्ट शक्ति सम्पन्न (ऋद्धि प्राप्त) मुनिवर ही इस ज्ञान को प्राप्त करते है। श्रावक और सामान्य साधु को यह ज्ञान नही होता है। इसके दो भेद है। यथा—

१ ऋजुमति—द्रव्य से अनन्त प्रदेशी, अनन्त स्कन्धो को जानता देखता है, क्षेत्र से जघन्य अगुल के असख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे—रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी प्रतर से नीचे के छोटे प्रतरो तक, ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपर के तल तक (दोनो मिलाकर १६०० योजन तक) तथा तिर्छे लोक मे मनुष्य क्षेत्र के भीतर—ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि ३० अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर द्वीपो मे रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मनोगत भावो को जानता देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण,भूत भविष्य काल को जानता देखता है। भाव से अनन्त भावो को और सभी भावो के अनन्तवे भाग को जानता देखता है।

२ विपुलमति—ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक प्रमाणो मे, अधिक स्पष्ट और अधिक विशुद्ध जानते देखते है। क्षेत्र से ढाई अगुल अधिक विस्तार से देखते है।

इस ज्ञान से मनुष्य क्षेत्र वर्ती सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मनमे सोचे हुए, भूत भविष्य के पल्योपम के असख्यातवे भाग भाव को प्रकट किया जा सकता है। यह केवल उन्ही विशिष्ठ मुनिराजो को होता है जिनकी चारित्र पर्याय विशुद्ध, विशुद्धतर हो। जो विशिष्ट शक्ति सम्पन्न हो।

ये चारो ज्ञान क्षायोपशमिक है। किसी किसी को चारो भी होते है। तीर्थकर भगवान् दीक्षा लेते है, तव तत्काल ही उन्हे मनपर्यवज्ञान होता है। जिन जीवो को तीन ज्ञान होते है, उन्हे या तो मति श्रुति और अवधि होता है,या फिर मति श्रुत और मन पर्यव होता है (भग० ८—२) जो क्षायोपशमिक ज्ञान वाले सम्यगदृष्टि है, उनमे मति श्रुत तो होते ही है।

केवलज्ञान

केवलज्ञान क्षायिक है। ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा नाश होने पर ही यह होता है। यह ज्ञान मोक्ष पाने वाले मनुष्यों को ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म के नष्ट होने पर होता है और सिद्ध अवस्था में सदाकाल रहता है। केवलज्ञानी द्रव्य से विश्व के समस्त द्रव्यों को, क्षेत्र से लोकालोक रूप समस्त क्षेत्र को, काल से सभी भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल और भाव से अनन्त पर्यायात्मक समस्त द्रव्यों के समस्त भावों को जानते हैं। यह ज्ञान अप्रतिपाति-सदा काल कायम रहने वाला और एक ही प्रकार का है। अनन्त केवलज्ञानियों के केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है।

तीर्थंकर भगवान् जो उपदेश देते हैं, वह केवलज्ञान से सब पदार्थों को जानकर उनमें से जो वर्णन करने योग्य है, उन्हीं का वर्णन करते हैं। वे भाव शेष जीवों के वचन योग से श्रुत रूप होता है।

सबसे थोड़ी पर्यायें मनःपर्यवज्ञान की हैं। इससे अनन्तगुण अधिक विभंगज्ञान की। विभंगज्ञान से अनन्त गुण अधिक पर्यायें अवधिज्ञान की है। अवधि से अनन्त गुण अधिक श्रुत अज्ञान की हैं। इससे श्रुतज्ञान की पर्यायें विशेषाधिक हैं। इससे मति अज्ञान की पयायें अनन्तगुण हैं और इससे विशेषाधिक पर्यायें मतिज्ञान की हैं। केवलज्ञान की पर्यायें तो सभी से अनन्तगुण अधिक है। (भ० श० ८-२)

केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट और साध्य दशा है, इसके द्वारा लोकालोक और हिता-हित को जानकर भव्य प्राणियों का बोध कराया जाता है। केवलज्ञानियों के बताये हुये मार्ग से अनन्त जीवों ने मोक्ष को प्राप्त किया है और फिर भी करेंगे। फिर भी हमारे लिए तो मति और श्रुतज्ञान ही अभी उपकारी है। जिन जीवों को अज्ञान नहीं होकर सम्यग् मति श्रुति ज्ञान होता है, वे ही तीर्थंकरों के वचनों की श्रद्धा करते हैं। आज हमारे सामने जो जिनागम है, वह भी श्रुतज्ञान रूप ही है। यदि हमने इसकी ठीक तरह से आराधना की, तो हमारे कर्म बन्धन अवश्य ही कटेंगे और हम ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करते करते, कभी केवलज्ञान प्राप्त करके साधक से सिद्ध बन सकेंगे। ऐसे परमोपकारी ज्ञान को हमारा बार बार नमस्कार है।

प्रमाण

स्व और पर को निश्चित रूप से जाननेवाला ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है। और श्रुतज्ञान द्वारा जानें हुए पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गोण करके किसी अभिप्राय विशेष से जाना जाता है, वह 'नय' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान रूप प्रमाण, अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है, तब वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को सापेक्ष जानने वाला ज्ञान 'नय' कहलाता है। प्रमाण के चार भेद हैं,–

१ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ आगम और ४ उपमान।

१ प्रत्यक्ष–जो स्पष्ट रूप से साक्षात्कार करावे, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष–जो कानो से सुनकर, आँखो से देखकर, नासिका से सूघकर, जबान से चखकर और हाथ आदि से स्पर्श कर जाना जाय–वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। क्योकि यह इन्द्रियो की सहायता से जाना जाता है।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष–जो इन्द्रियो की सहायता के विना ही प्रत्यक्ष हो सके वह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसके तीन भेद है–१ अवधिज्ञान, २ मन पर्यवज्ञान और ३ केवलज्ञान। इन तीन में से अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान तो देश प्रत्यक्ष है, क्योकि ये सम्पूर्ण द्रव्यो और पर्यायो को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। एक केवलज्ञान ही ऐसा है जो पूर्ण प्रत्यक्ष–सर्व प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष को व्यवहार प्रत्यक्ष भी कहते है। यह प्रत्यक्ष भी देश प्रत्यक्ष ही है, क्योकि इन्द्रियो के द्वारा भी वस्तु का एक देश–ऊपरी भाग ही जाना जाता है। हम अपनी आँखो से दवा की एक गोली देखते है, किन्तु वह किन चीजो की वनी है, उसमे क्या क्या गुण है–यह प्रत्यक्ष नही देख सकते। अतएव इन्द्रिय प्रत्यक्ष, वास्तविक प्रत्यक्ष नही है। वास्तविक प्रत्यक्ष तो नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है, जिसे निश्चय प्रत्यक्ष कहते है।

२ अनुमान प्रमाण–किसी साधन के द्वारा साध्य को जानना–अनुमान प्रमाण है। इसके तीन भेद है।

पूर्व अनुमान—पहले देखे हुए चिन्हों से पहिचानना, जैसे—किसी का पुत्र बाल्यावस्था विदेश गया हो और जवान होने पर वापिस घर आवे, तो उसकी माता, उसके चेहरे, वर्ण, तिल मस्सा पहले के समान देखकर पहिचान लेती है। तात्पर्य यह कि पूर्वकाल में देखे हुए किसी खास चिन्ह को देखकर अनुमान करना।

शेष अनुमान—इसके पांच भेद इस प्रकार है।

१ कार्य से—जैसे आवाज पर से पहिचानना कि यह मयूर बोल रहा है, पोपट या कोयल इस वृक्ष पर है, या बिना देखे ही आवाज पर से मनुष्य को पहिचान लेना।

२ कारण से—बादलो को देखकर वर्षा का, अनुमान करना। आटा देख कर रोटी बनाने का अनुमान करना आदि।

३ गुण से गुणी का अनुमान करना, जैसे—क्षार से नमक का, सुगन्ध से पुष्प अथवा इत्र का।

४ अवयव से—एक अवयव देखकर अवयवी का अनुमान कर लेना, जैसे सिंग देखकर जान लेना कि यह भैंस है या गाय है। सूंड से हाथी और कलगी से मुर्गे का अनुमान करना।

५ आश्रय से—धूम्र के आश्रय से अग्नि का अनुमान करना।

दृष्टि साम्य—इसके दो भेद है—१ सामान्य और २ विशेष।

सामान्य—एक वस्तु को देखकर वैसी ही दूसरी का अनुमान करना, जैसे एक रुपये को देखकर अन्य रुपयों का मारवाड के एक धोरी बैल को देखकर, उस देश मे वैसे अनेक बैल होने का अनुमान करना।

विशेष—विदेश जाने पर वहां हरियाली और गड्ढो में पानी भरा हुआ देखकर अच्छी वर्षा होने का अनुमान करना। यह भूत का अनुमान हुआ। फसले अच्छी और लोगो को समृद्ध देखकर वर्तमान सुखी अवस्था का अनुमान लगाना। शुभ लक्षण देखकर उज्ज्वल भविष्य का अनुमान करना आदि।

३ आगम प्रमाण—आप्त पुरुषों—निर्दोष और परम मान्य महर्षियों के वचनो को आगम कहते है। इसके तीन भेद है—१ सूत्रागम २ अर्थागम और ३ तदुभयागम। सूत्र, अर्थ और दोनो के विधान को स्वीकार करना आगम प्रमाण है। इनका वर्णन पहले हो चुका है।

४ उपमान प्रमाण—किसी प्रसिद्ध एव ज्ञात वस्तु की अप्रसिद्ध एवं अज्ञात वस्तु को उपमा देना। इसके चार भंग है।

१ सत् की सत् से उपमा देना—जैसे आगामी प्रथम तीर्थंकर, भगवान् महावीर के समान होंगे, या भगवान् की भुजा, अर्गला के समान है।

२ सत् की असत् से—जैसे 'नारको और देवो की आयु पल्योपम सागरोपम की है', यह बात सत्य है, किन्तु पल्योपम व सागरोपम का जो प्रमाण है वह असत्कल्पना है, क्योकि वैसा किसीने किया नही, करता नही और करेगा नही।

३ असत् की सत् से—जैसे जुवार को 'मोती के दाने जैसी', किसी बड़ी भारी नगरी को देवपुरी जैसी कहना। अथवा यह कल्पित वार्त्तालाप—पककर खिरा हुआ पत्ता नये पत्ते से कहता है कि, 'कभी हम भी तुम्हारे जैसे थे', या ठोकर खाई हुई हड्डी, ठोकर मारनेवाले को कहती है कि 'मै भी कभी तेरे जैसी थी'—यह असत् की सत् से उपमा है। जो अवस्था नष्ट होकर असत् हो चुकी, उसको विद्यमान सत् वस्तु से उपमा देना।

४ असत् की असत् से—जैसे यह कहना कि 'गधे के सीग कैसे होते है, तो कहे कि घोड़े के सींग जैसे', फिर पूछा कि 'घोडे के सीग कैसे ? तो उत्तर दिया कि 'गधे के सीग जैसे'। ये दोनो बाते झूठी है।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि चार प्रमाणो से वस्तु को जानकर सम्यग् उपयोग करना चाहिए।

(भगवती ५—४ अनुयोगद्वार)

निक्षेप

किसी भी वस्तु को समझने के लिए उसके नाम, आकृति, आधार और गुण अथवा विशेषता तो जाननी ही पडती है। यदि विशेष विस्तार में नही जा सके, तो कम मे कम ये चार बाते तो जाननी ही पडती है, जिन्हे चार निक्षेप कहते है। चार निक्षेप ये है।

१ नाम २ स्थापना ३ द्रव्य और ४ भाव

(१) नाम निक्षेप–जिस जीव, अजीव और जीवाजीव का जो नाम हो, उसे नाम निक्षेप कहते है। जैसे किसी जीव या अजीव का 'आवश्यक' ऐसा नाम दिया जाय, तो वह नाम निक्षेप है। नाम जाति–वाचक, व्यक्ति वाचक, गुण वाचक, आदि कई प्रकार के हो सकते है।

जाति वाचक–एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय आदि अथवा मनुष्य, गाय, भैस, घोडा आदि।

व्यक्ति वाचक–जिनदत्त, ऋषभदेव, महावीर, धनराज, सुखलाल आदि।

गुण वाचक–मुनि, तपस्वी, श्रावक, मन्त्री, आचार्य, आदि।

नाम के तीन भेद इस प्रकार है।

यथार्थ नाम–गुण के अनुसार नाम होना यथार्थ नाम है। जैसे–चेतना सहित को 'जीव', अचेतन को जड, धनवान को लक्ष्मीचन्द्र, असत्यवक्ता को झूठाभाई आदि।

अयथार्थ नाम–गुण शून्य नाम अयथार्थ होता है, जैसे दरीद्री को धनपाल, ग्वाले को इन्द्र, मजदूर को जगदीश, तृष्णावान को सतोषचन्द्र, आदि।

अर्थ शून्य–जिसके नाम का कोई अर्थ ही नही हो, जैसे–डित्थ, डवित्थ, खुन्नी आदि।

नाम निक्षेप का सम्बन्ध वस्तु के नाम से ही है, गुण अवगुण से नही, और यह आयु पर्यन्त अथवा वस्तु की उसी रूप में स्थिति रहे–वहा तक रहता है।

(२) स्थापना निक्षेप–किसी मूल वस्तु का, प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में आरोप करना–स्थापना निक्षेप है। यह आरोप विना मूर्ति और चित्र के भी हो सकता है। इसलिए स्थापना निक्षेप के दो भेद किये है,–१ सद्भाव स्थापना और २ असद्भाव स्थापना।

सद्भाव स्थापना-काष्ठ, पाषाण, धातु, मिट्टी, वस्त्र या कागज आदि की किसी असल वस्तु की मूर्ति बनाई जाय, मूल वस्तु की आकृति अंकित की जाय, अथवा कागज वस्त्र या काष्ठ-फलक पर चित्र उतारा जाय,तो वह सद्भाव (मूल की आकृति के अनुसार) स्थापना है। तोलने के माशा, तोला, सेर, मन आदि के अंक, लोह आदि के बाट पर अंकित हो,सिक्के पर 'एक रुपया' आदि अंकित हो, अथवा दस्तावेज, पर १, १०, १००, १०००, आदि अंकित होना और द्वीप समुद्रादि के नक्शे-ये सब सद्भाव स्थापना है।

असद्भाव स्थापना-बिना मूल की आकृति के यों ही किसी काष्ठखण्ड, पत्थर, ईंट, आदि किसी भी वस्तु में मूल वस्तु का आरोप करना, जैसे कि-बालक, लकडी को अपना 'घोडा' कहकर खुद अपने ही पैरों से दौडता है। लोग किसी पत्थर आदि को यों ही रखकर, उसे भैरवादि देव रूप मानते है,या अनपढ लोग, कंकर, अथवा धान्य के दाने रखकर, रुपयों का हिसाब लगाते हैं, उस समय कंकर या दानों में रुपयों की स्थापना करते है, अथवा शतरंज के खेल में, खेल की गोटों को राजा, वजीर, हाथी, घोडा आदि कहते है-यह सब असद्भाव स्थापना है।

स्थापना थोडे काल तक भी रहती है और स्थिति पर्यन्त भी रहती है।

(३) द्रव्य निक्षेप-गुण के उस आधार (पात्र) को द्रव्य कहते हैं कि जिसमें भविष्य में गुण उत्पन्न होने वाला हो,अथवा भूतकालमें उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका हो और खाली पात्र रहगया हो। उपयोग रहित क्रिया भी द्रव्य निक्षेप में मानी गई है। यह द्रव्य निक्षेप दो प्रकार का है। यथा-

आगमतः-बिना उपयोग के आगमोक्त क्रिया करना,अथवा आगमों का पठन,वाचन,पृच्छा, परावर्तना और धर्मकथन, बिना उपयोग करना-आगम से द्रव्य निक्षेप है। इसमें स्वाध्याय के चार भेद ही लिये है, 'अनुप्रेक्षा' नहीं ली गई है, क्योंकि अनुप्रेक्षा तो उपयोग-भाव पूर्वक ही होती है। जो व्यक्ति आवश्यक करता है, उसका उच्चारणादि शुद्ध एवं ज्ञानातिचार से रहित है, किन्तु उस आवश्यक में उसका उपयोग नहीं है, वह बिना भाव के उच्चारणादि कर रहा है, तो यह आगमत द्रव्य निक्षेप है।

नो आगमतः-जिसमें आगमोक्त क्रिया नहीं हो रही है, वह नोआगमत द्रव्य निक्षेप है। इसके तीन भेद है,-१ ज्ञशरीर २ भव्य शरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

१ ज्ञ शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप-आगम का ज्ञाता आत्मा के शरीर से निकलकर जानें पर वह मुर्दा शरीर-नोआगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। उसमें भूतकाल में आगमज्ञ आत्मा निवास करती थी, अब वह गत भाव होने से खाली पात्र रह गया है। घृत निकल जाने के बाद खाली रहे हुए घडे की तरह। तीर्थंकर भगवान् अथवा साधु मुनिराजों का निर्जीव शरीर भी इसी भेद में आता है।

भव्य शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप-भविष्य में आगम का ज्ञाता होनेवाला द्रव्य। जिसने सुश्रावक के घर में जन्म लिया है ऐसा बालक जो भविष्य में श्रावक धर्म का ज्ञाता होगा। जैसे कि किसीने घृत भरने के लिए घडा बनाया या खरीदा, वह भविष्य में उसमे घृत भरेगा, किन्तु अभी खाली है।

तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित करके, देव या नरक भव में जाकर वहा से माता के गर्भ मे आनेवाले और जन्म लेकर तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पूर्व की सभी अवस्था-द्रव्य तीर्थंकरत्व की ही है। इस भेद मे वास्तविक गुण उत्पन्न होने के पूर्व की अवस्था ग्रहण की गई है।

ज्ञ-भव्य-व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप-इसके तीन भेद हैं, १ लौकिक २ लोकोत्तर और ३ कुप्रावचनिक।

लौकिक-ससारी लोग, अपना नित्य-लौकिक कार्य करते है, जैसे-प्रात काल उठकर शौच जाना, हाथ मुँह धोना, स्नान करना, केश सँवारना, और वस्त्राभूषण पहनकर अपना अपना कार्य करते है, यह उनकी लौकिक नित्य क्रिया है। इसलिए यह उनका लौकिक द्रव्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि लोक सबधी जितनी भी क्रिया की जाय, वह लौकिक नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

लोकोत्तर--लोक से परे-परभव के उद्देश्य से क्रिया करनेवाले, श्रमण के गुण से रहित, जीवों की अनुकम्पा जिनमें नही है, जो स्वच्छन्द है, मदोन्मत्त तथा निरकुश होकर विचरते है, जिनमें शरीर और वस्त्रादि की सफाई की ही विशेष रुचि रहती है, जो जिनाज्ञा के विराधक है, ऐसे साधु आदि कहे जानेवाले और धार्मिकपन का-लोकोत्तर साधक का डौल करनेवाले की क्रिया, लोकोत्तर नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

कुप्रावचनिक-निर्ग्रंथ प्रवचन के अतिरिक्त दूसरे प्रवचन को माननेवाले, तदनुसार मृगछाला अथवा व्याघ्रचर्म धारन करनेवाले, गेरुए वस्त्र धारण करने वाले, शरीर पर भस्म लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र से रहित, गृहस्थधर्म के उपदेशक, गृहस्थ-धर्म के चिंतक आदि पाखण्डी लोग, प्रात काल होते ही इन्द्र, स्कन्ध, वैश्रमण आदि कुप्रावचनिक देवो की पूजा वन्दनादि करते है। इनकी इस प्रकार की सभी क्रिया 'कुप्रावचनिक-लोकोत्तर-नोआगम-द्रव्यावश्यक'-द्रव्य निक्षेप में है।

नाम, स्थापना और द्रव्य-ये तीनों निक्षेप अवस्तु है। क्योकि इनमें गुण=भाव=वास्तविकता की अपेक्षा नही होती।

(४) भाव निक्षेप-जो गुण युक्त हो, सार्थक हो, जिसमें अपने अर्थ की सगति यथार्थ रूप से होती हो-वह भाव निक्षेप है। इसके दो भेद है,-

आगमतः—जिसका आगम मे उपयोग लगा हुआ हो, अथवा जो आगमोक्त क्रिया उपयोग पूर्वक कर रहा हो। इस प्रकार भाव पूर्वक आगमो का पठन, स्वाध्याय कर रहा हो, अनुप्रेक्षा युक्त हो—वह आगमत भाव निक्षेप है।

नोआगम से—इसके तीन भेद है।

लौकिक—अजैन लोग, अपने मतानुसार प्रात काल भारत आदि और सायकाल रामायणादि का भाव पूर्वक वाचन अथवा श्रवण करते है, वह लौकिक नोआगम भाव निक्षेप है।

लोकोत्तर—निर्ग्रंथ साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका. आत्म कल्याण के लिए उपयोग पूर्वक और यथाकाल जो जो आराधना करते है, वह लोकोत्तर नोआगम भाव निक्षेप है। भाव पूर्वक उभयकाल किये हुए आवश्यक को लोकोत्तर नोआगम भावावश्यक कहते है।

कुप्रावचनिक—अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने इष्ट देव को भाव पूर्वक अर्ध्य देते है, प्रणाम करते है, हवन करते है और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते है। ये सव कुप्रावचनिक नोआगम भाव आवश्यक है। कुप्रवचन सम्बन्धी सभी क्रियाएँ जो भाव पूर्वक की जाती है, वे सव इस भेद मे आती है।

(अनुयोगद्वार)

ये चारो निक्षेप, वस्तु को समझने के लिए है। यह ज्ञान का विषय है। ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जानना और फिर हेय को त्याग कर उपादेय को स्वीकार करना, प्रत्येक आत्मार्थी का कर्त्तव्य है।

निक्षेपो की भी मर्यादा है। दूर रहे हुए मनुष्य को पुकारने अथवा पता लगाने के लिए नाम निक्षेप उपयोगी है। उसे ऊपर से पहिचानने के लिए स्थापना निक्षेप (आकृति) आवश्यक है। नाम निक्षेप देखने का विषय नही, किन्तु पूकारने या सुननें से सबध रखता है, तब आकृति—स्थापना, आँखो से देखने या दिखाने से सवध रखती है। ये दो निक्षेप मूल वस्तु मे खुद में भी होते है और इनका आरोप दूसरे मे भी किया जा सकता है। इनका भिन्न वस्तु मे निक्षेप हो सकता है, किन्तु द्रव्य तो द्रव्य की (उपयोग अथवा गुण रहित) क्रिया होने पर ही होता है। और भाव तो मूल वस्तु ही है।

पूर्ण रूप से उपयोगी भाव है। उससे द्रव्य कम उपयोगी है, और नाम स्थापना तो वहुत कम उपयोगी है। वस्तु का उतना ही उपयोग होना चाहिए जितने के वह योग्य हो। योग्यता से अधिक महत्व देना समझदारी नही है।

जिस प्रकार ससार पक्ष में, भाव रहित (असलियत से भिन्न) नाम, स्थापना, असली वस्तु की तरह स्वीकार नही की जाती, उसी प्रकार धर्म पक्ष मे भी भाव शून्य नामादि तीन निक्षेप, भाव की तरह वन्दनीय पूजनीय नही होते।

नय

श्रुतज्ञान, नय युक्त होता है। श्रुत के प्रमाण से विषय किये हुए पदार्थ का किसी अपेक्षा से कथन करना, दूसरी अपेक्षाओं का विरोध नही करते हुए, अपने दृष्टि के अनुसार, अभिप्राय व्यक्त करना —नयवाद है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्यता से जानने वाला ज्ञान, 'नय ज्ञान' कहलाता है। नय प्रमाण का एक अंग होता है।

'जितने वाक्य उतने ही नय'—इस प्रकार नय के अनेक भेद होते है। और ये अनेक नय सुनय और दुर्नय—ऐसे दो भेद में बट जाते है।

जो नय सम्यग्दृष्टि पूर्ण हो, जिसमें अभिप्रेत नय के अतिरिक्त दृष्टियो का विरोध नही होता हो, और जिसमें विषमता नही हो—वह सुनय कहलाता है। इसके विपरीत जो अभिप्रेत दृष्टि के अतिरिक्त सभी दृष्टियो का विरोध करता हो, जिसकी विचारधारा में विषमता हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि पूर्ण, एकान्तिक अभिप्राय को दुर्नय कहते है।

सुनय के सक्षेप में दो भेद है। १ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक— द्रव्य—सामान्य वस्तु को विषय करने वाले नय को—द्रव्यार्थिक नय कहते है इसके तीन भेद है—१ नैगम २ सग्रह ३ व्यवहार × ।

पर्यायार्थिक— पर्याय विशेष, द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्थाविशेष को—विषय करनेवा नय को पर्यायार्थिक नय कहते है। इसके चार भेद है—१ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ और ४ एवभूत।

उपरोक्त दोनो भेदो में सात नय माने गये है। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ **नैगम नय**—जिसके अनेक गम—अनेक विकल्प हो, जो अनेक भावो से वस्तु का निर्णय करता हो, वह नैगम नय है।

दो द्रव्यो, दो पर्यायो, और द्रव्य और पर्याय की प्रधानता तथा गौणता से विवक्षा करने वाला नैगम नय है। इसका क्षेत्र, अन्य नयो की अपेक्षा अधिक विशाल एव सर्व व्यापक है।

× इसमें मत भेद भी है। विशेषावश्यक में द्रव्यार्थिक नय में 'ऋजुसूत्र' सहित चार नय । हैं और पर्यायार्थिक नय में शब्दादि तीन नय माने हैं।

जिस देश मे जो शब्द, जिस अर्थ मे प्रचलित हो, वहा उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानना भी नैगम नय है।

निगम का अर्थ है 'सकल्प', जो सकल्प को विषय करता है, वह नैगम नय कहलाता है। यह सकल्प के अनुसार एक अश को ग्रहण करके वस्तु को पूर्ण मान लेता है।

जैसे एक स्थान पर कई व्यक्ति बैठे है। वहा कोई आकर पूछे कि "आप मे से वबई कौन जा रहा है," तो उनमें मे एक व्यक्ति कहता है कि "मै जा रहा हू," वास्तव मे वह बैठा है—जा नही रहा है, किन्तु जाने के सकल्प मात्र से जाने का कहा। यह नैगम नय की अपेक्षा से सत्य है।

यह नय, कार्य का एक अश उत्पन्न होने से ही वस्तु को पूर्ण मान लेता है। जैसे—

किसी कुभकार को घडा बनाने की इच्छा हुई। वह मिट्टी लेने जगल मे जाने लगा। पडौसी नें पूछा—'कहा जाते हो'? उसनें कहा—'घडा लेने जाता हूँ'। मिट्टी खोदते समय किसी ने पूछा—'क्या करते हो? कहा—'घडा लेता हू'। मिट्टी लेकर घर आने पर किसी ने पूछा, तो कहा—'घडा लाया हूँ'। इस प्रकार घडे के विचार-सकल्प तथा उस दिशा मे किञ्चित् प्रवृत्ति प्रारभ करने पर उस कार्य को सम्पूर्ण मान लेना, नैगम नय का अभिप्राय है।

नैगम नय के दो भेद है—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य मे पर्याय का ग्रहण नही होता। यह नही कहा जाता है कि घट किस रग का, किस आकृति का, कितना बडा, मिट्टी का, ताम्बे का, पीतल का या चाँदी आदि का। मात्र 'घट' कहा जाय—उसे सामान्य अश रूप नैगम कहते है। किन्तु जिसमें उसकी पर्याय—रग, आकृति तथा छोटे बडे आदि का जिक्र हो, उसे विशेष अश रूप नैगम कहते है।

इसके अतिरिक्त काल की अपेक्षा नैगम के तीन भेद होते है,—१ भूत नैगम, २ भविष्य नैगम और ३ वर्तमान नैगम।

भूतकाल में वर्तमान् काल का संकल्प करना—भूत नैगम नय है। जैसे दीवाली के दिन कहना कि 'आज भगवान् महावीर मोक्ष पधारे थे," जब कि उन्हे मोक्ष पधारे हजारो वर्ष बीत गये। इस वाक्य में आज का सकल्प, हजारो वर्ष पहले—भूत काल में किया गया है।

भावी नैगम—अरिहत को सिद्ध कहना, बछिया को गाय कहना, बछडे को बैल कहना, अधिकार रहित राजपुत्र (युवराज) को राजा कहना, अर्थात् भविष्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय में, भूत का सकल्प करना—भावी नैगम है।

वर्तमान नैगम—जैसे भोजन बनाना शुरु कर दिया हो, किन्तु उसके बन जानें के पूर्व ही कह देना कि 'आज तो भात बनाया है'।

२ संग्रहनय-यह नय विशेष (भेदो) को छोडकर सामान्य-द्रव्यत्व को ग्रहण करता है। ए- जाति मे आने वाली समस्त वस्तुओ मे एकता लाना इसका अभिप्राय है। यह एक शब्द मात्र से सभी अर्थों को ग्रहण करलेता है, जो इससे सम्बन्ध रखते है। जैसे किसी ने अपने सेवक को कहा कि-"जाओ दातुन लाओ," वह सेवक एक 'दातुन' शब्द से वे सभी वस्तुएँ-मजन, कूचो, जीभी, पानी का लोटा, टुवाल आदि ले आता है।

सग्रह नय के भी दो भेद है, एक पर-सग्रह और दूसरा अपर सग्रह। पर-सग्रह स... ग्राहक है। यह सत्ता मात्र को ग्रहण करता है। 'द्रव्य' शब्द से यह जीव अजीव का भेद नही करके सभी द्रव्यों को ग्रहण करता है। अपर सग्रह उसे कहा गया है कि जो अपने मे विषयभूत होने वाले द्रव्य विशेष को ही ग्रहण करके दूसरे द्रव्य को छोड़ देता है। जैसे-'जीव' शब्द से यह सभी जीवो को ग्रहण करके अजीव को छोड देता है। इसलिए इसे अपर-सामान्य सग्रह नय कहते है।

शब्द के समस्त अर्थो का विना किसी भेद के ग्रहण करना-सग्रह नय का अभिप्राय है।

३ व्यवहार नय-सग्रह किये हुए पदार्थों मे, लोक व्यवहार के लिए विधिपूर्वक भेद करना, जैसे द्रव्य के छ भेद, फिर प्रत्येक द्रव्य के अन्तर्भेद करना। पर्याय के सहभावी और क्रमभावी तथा जीव के ससारी और मुक्त, इस प्रकार भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। यह नय सामान्य की उपेक्षा करके विशेष को ग्रहण करता है।

यह नय निश्चय की उपेक्षा करता है और लोक व्यवहार को ग्रहण करता है। जैसे निश्चय से घट पटादि वस्तुओं में आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस पाये जाते है, किन्तु व्यवहार एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और एक स्पर्श का होता है, जैसे-कोयल काली है, फूल सुगन्धी है, मिश्री मीठी है मक्खन कोमल है। इस प्रकार एक एक वर्णादि को ग्रहण करके शेष को छोड देना, व्यवहार नय का विषय है।

यह नय प्राय उपचार मे ही प्रवृत्त होता है। इसके ज्ञेय विषय भी अनेक हैं, इसलिए इसे विस्तृतार्थ भी कहते है। लोक व्यवहार अधिकतर इसी से सबधित होता है। बोलचाल में जो यह कहा जाता है कि 'घडा चूता है, मार्ग चलता है, गाँव आ गया, चूल्हा जलता है'-ये सब ... शब्द है। वास्तव में चूता है पानी-घड़ा नही चूता, चलता है मनुष्य-मार्ग नही चलता, आता है मनु... -गाँव नही आता और जलती हैं लकड़ियाँ-चूल्हा नही जलता, किन्तु लोग जो इस प्रकार का उपचार करते है-यह व्यवहार नय के अनुसार है।

व्यवहार नय के भी सामान्यभेदक और विशेषभेदक-ऐसे दो भेद है। सामान्य संग्रह मे भेद करनेवाले नय को सामान्यभेदक कहते है, जैसे-द्रव्य के दो भेद-१ जीव द्रव्य और २ अजीव द्रव्य।

श्रीर विशेष सग्रह में भेद करनेवाले नय को विशेषभेदक कहते है, जैसे—जीव के दो भेद १ सिद्ध और २ ससारी।

जीव के ५६३, अजीव के ५६०, चौदह गुणस्थान, पाच चारित्र आदि विषय व्यवहार नय के अन्तर्गत होते है—निश्चय नय से नही।

४ ऋजुसूत्र नय—द्रव्य की पर्याय—वर्त्तमान पर्याय को ग्रहण करके भूत और भविष्य की उपेक्षा करने वाला यह नय है। वर्त्तमान में यदि आत्मा सुख का अनुभव करती है, तो यह नय उसे सुखी कहेगा और बाह्य रूप से अनेक प्रकार की अनुकूलता होने पर भी यदि आत्मा मे किसी प्रकार का खेद वर्त्तमान हो, तो यह नय उसे दुखी कहेगा।

एक सेठ सामायिक में बैठे थे। उस समय बाहर के किसी व्यक्ति ने आकर पुत्रवधु से पूछा—'सेठ कहाँ है'? उसने कहा—'चमार के यहाँ गये है। उसने वापस लौटकर कहा—'चमार के यहाँ तो नहीं है', तब उसने कहा—'पंसारी की दुकान पर गये है'। वह वहाँ से भी खाली लौटकर आया, तब उसे दुकान पर जाने का कहा। दुकान पर नही मिलने पर वह फिर घर आया। इतने मे सेठ ने सामायिक पारली थी। उन्होंने पुत्रवधु से पूछा—'तुझे मालुम था कि मै सामायिक कर रहा हूँ, फिर तेने उसे झूठा उत्तर क्यो दिया'? पुत्रवधू बुद्धिमती और मानस विज्ञान की ज्ञाता थी। उसने कहा 'पिताजी! आप ऊपर से तो सामायिक में थे, किन्तु उस समय आप विचारो से चमार की दुकान पर जूते खरीद रहे थे, इसलिए मैंने आपके विचारो के अनुसार ही आपकी उपस्थिति बताई। दूसरी बार वह आया, तब आप पँसारी की दुकान पर सोठ खरीदने के विचारो मे लगे हुए थे और तीसरी बार आपकी विचारणा में दुकान का कार्य चल रहा था। इसलिए मैंने आपके विचारो के अनुसार ही उपस्थिति बताई'। सेठ यह बात सुनकर समझ गये कि बहू ने व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान पर्यायग्राही ऋजुसूत्र नय के अनुसार उत्तर दिये, जो ठीक ही है।

इस नय के भी दो भेद है—१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय और २ स्थूल ऋजुसूत्र नय। सूक्ष्म ऋजुसूत्र एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता है, जैसे—'शब्द क्षणिक है'। जो अनेक समयो की वर्त्तमान पर्यायो को ग्रहण करे, वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है। जैसे—मनुष्य पर्याय सौ वर्ष से कुछ अधिक है'।

व्यवहार मे साधु का वेश धारण किये हुए होने पर भी यदि किसी का मन सासारिक विषयो में लगा हो, तो यह नय उस समय उसे साधु नही मानता। तात्पर्य यह कि यह नय व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान अभिप्राय अथवा वस्तु की पर्याय को ही ग्रहण करता है।

५ शब्द नय—यह नये शब्द प्रधान है। काल, कारक, लिंग, वचन, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दो में अर्थ भेद करनेंवाला है। जैसे—'सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा'। इन शब्दो मे

काल भेद से सुमेरु के तीन भेद बन गये। 'घडे को करता है', 'घडा किया जाता है',—इस प्रकार का.र भेद से घडे के भेद होते है। पुल्लिग आदि लिंग भेद, एक वचनादि वचन भेद और इस प्रकार अ शब्द भेद से अर्थ भेद व्यक्त करनेवाला शब्द नय है।

ऋजुसूत्र नय शब्द भेद की उपेक्षा करता है। वह कहता है कि 'शब्द भेद भले ही हो, ७ . वाच्य पदार्थ में भेद नही होता। इसलिए वह शब्द की उपेक्षा करता है, किन्तु शब्द नय काल दि भेद से अर्थ भेद मान कर तदनुसार ग्रहण करता है। यदि काल, लिंग, और वचनादि भेद नही हो, तो यह नय, भिन्न अर्थ होने पर भी शब्द के भेद नही करता, जैसे—'इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, इन तीनो शब्दो का वाचक—बिना काल, लिंग और वचनादि भेद के 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र' ही होता है। इसलिए यह नय एकार्थवाचक भिन्न शब्दो में भेद नही करता। यह नय शब्द प्रधान है।

६ समभिरूढ़ नय—यह शब्द नय से भी सूक्ष्म है। शब्द नय अनेक पर्यायवाची शब्दो का एक ही अर्थ मानता है और उनमे भेद नहीं करता है, तब समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्द के भेद से अर्थ भेद मानता है। इसके अभिप्राय से कोई भी दो शब्द, एक अर्थ के वाचक नही हो सकते। जैसे—इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची है, फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से 'ऐश्वर्यशाली' का बोध होता है और 'पुरन्दर' शब्द से 'पुरो अर्थात् नगरो का नाश करनेवाले' का ग्रहण होता है। दोनो शब्दों का आधार एक होते हुए भी अर्थ भिन्नता है ही। प्रत्येक शब्द का अर्थ, मूल में तो अपना पृथक् अर्थ ही रखता है, किन्तु कालान्तर में व्यक्ति या समूह द्वारा प्रयुक्त होते होते वह पर्यायवाची बन जाता है। यह नय शब्दो के मूल अर्थों को ग्रहण करता है—प्रचलित अर्थ को नही। इस प्रकार अर्थ भिन्नता को मुख्यता देकर समभिरूढ नय अपना अभिप्राय व्यक्त करता है।

७ एवंभूत नय—शब्दो की स्वप्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य माननेवाला नय 'एवभूत' नय है। यह नय, पूर्व के सभी नयो से अत्यन्त सूक्ष्म है।

समभिरूढ नय, शब्द के अनुसार अर्थ को ही स्वीकार करता है, तब एवभूत नय कहता है कि 'खाली अर्थ को स्वीकार कर लेने मे ही क्या होना है, जब इन्द्र एश्वर्य का भोग नही करके नगरो का नाश कर रहा हो, तब उसमें इन्द्रपना है ही कहा? उस समय उसमे इन्दन क्रिया नही होने से उसे इन्द्र मानना व्यर्थ ही है, और जिस समय वह एश्वर्य भोग कर रहा हो, उस समय उसे 'पुरन्दर' मानना व्यर्थ है'। यह नय खाली घडे को 'घट' नही मानता, किन्तु जब वह अपना कार्य कर रहा हो अर्थात् जल धारण कर रहा हो, तभी घट मानता है। इस नय मे उपयोग युक्त क्रिया ही प्रधान है। वह वस्तु की पूर्णता को ही ग्रहण करता है। यदि उसमे कुछ भी खामी हो—एक अश मे भी न्यूनता हो, तो वह वस्तु, इस नय के विषय से बाहर रहती है। (स्थानाग ७ अनुयोगद्वार)

नय के निश्चय और व्यवहार—ये दो भेद भी होते है । निश्चय नय वस्तु की शुद्ध दशा को बतलाता है और व्यवहार नय अशुद्ध—सयोगजन्य दशा का प्रतिपादन करता है । यद्यपि व्यवहार नय दूसरी वस्तुओ के निमित्त से वस्तु को दूसरे ही रूप मे बतलाता है, फिर भी वह असत्य नही है । जैसे कि हम व्यवहार में घृत से भरे हुए घडे को 'घी का घडा' कहते हैं, किन्तु वस्तुत घडा तो मिट्टी, तावा या पीतल का बना होता है। घी का नही । इसलिए निश्चय नय के अनुसार घी का घडा नही है । व्यवहार नय उसे घी का घडा कहता है, वह इसलिए असत्य नही है कि उस घडे का सवध घृत से है—उसमे घी भरा हुआ है या घी भरा जाता है । तात्पर्य यह कि निश्चय नय वस्तु के मूल स्वरूप को ही ग्रहण करता है—निमित्त को नही, और व्यवहार नय निमित्त अवस्था को ग्रहण करता है । अपनी अपनी दृष्टि से दोनो सत्य है । यदि एक दूसरे का विरोध करे, तो दोनो मिथ्या नय—कुनय वन जाते है । भाषा के भेद में सत्य और व्यवहार भाषा को सत्य रूप ही माना है और स्थानाग १० में व्यवहार को भी सत्य कहा है । व्यवहार नय मे पर दृष्टि मुख्य है' तव निश्चय नय मे स्वदृष्टि ही है। नैगमादि तीन नय निमित्तग्राही है। सवमे विशेष अशुद्ध दशा नैगमनय की है । तव ऋजुसूत्रादि चार नय निश्चय लक्षी हैं और एवभूत नय परम विशुद्ध दशा का ग्राहक है । व्यवहार नय गुड को मीठा कहता है, किंतु निश्चय नय उसमे पाँचो रस मानता है । व्यवहार नय की अपेक्षा भौंरा काला और पोपट हरा है, किन्तु निश्चय नय इनमें पाँचो वर्णमानता है । अपनी अपनी अपेक्षा से दोनो सत्य है ।

(भगवती १८—६)

व्यवहार भाष्य गा ४७ में बताया है कि 'आदि के तीन नय अशुद्ध और बाद के चार नय शुद्ध हैं । वैनयिक मिथ्यादृष्टि आदि के तीन नय अपनाते है । वास्तव मे किसी भी नय का एकान्त ग्रहण मिथ्यात्व युक्त होता है । जो एकान्त व्यवहार को पकडकर निश्चय का विरोध करते है, वे मिथ्यादृष्टि है, और उसी प्रकार वे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो एकान्त निश्चय को पकडकर व्यवहार का खण्डन करते है । निश्चय का लक्ष रखकर तदनुकूल व्यवहार के आश्रय से उन्नत होना और विशुद्ध दशा को प्राप्त करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है ।

सप्तभंगी

अनेकान्तवाद का पहला रूप सप्तनय है, तो दूसरा है सप्तभगी, जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। सप्तनय में वस्तु का वस्तु की अपनी अपेक्षा से स्वरूप समझना मुख्य है, तब सप्तभगी मे स्वपर-उभय अपेक्षा से वस्तु को समझा जाता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहे हुए हैं। सर्वज्ञो के ज्ञान में प्रत्येक वस्तु अपने में अनन्त धर्म रखती है। उसका परिचय भी भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से होता है। जैन दर्शन ने वस्तु स्वरूप समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टि से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझमे आ जाता है।

स्याद्वाद के मूल भग तो दो हैं-१ स्याद् अस्ति=कथचित् है, और २ स्यान्नास्ति=कथचित् नही है। अर्थात् अपेक्षा भेद से अस्तित्व नास्तित्व बताने वाले दो भग हैं, जैसे--'जीव कथचित् शाश्वत है और कथचित् अशाश्वत हैं'। (भगवती ७-२) तथा लोक, क्षेत्र की अपेक्षा अन्त सहित है और कालकी अपेक्षा अन्त रहित हैं', आदि। इसमें लोक की सान्तता, अनन्तता की अस्ति नास्ति स्वीकार की गई है। इन दो भेदो के अतिरिक्त तीसरा 'अवक्तव्य' भग भी मूल ही है, किन्तु यह उपरोक्त दोनो भगो की अपेक्षा रखता है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग यह बताता है कि--अस्ति नास्ति भी पूर्ण रूप से नही कही जा सकती है। वस्तु की कुछ ऐसी अवस्था भी होती है कि जिसका वर्णन कर सकना अशक्य होता है। आचारांग १-५ मे लिखा है कि 'मुक्तात्मा का स्वरूप बताने में शब्द की भी शक्ति नही है'। इन तीन भगो से दूसरे चार भग उत्पन्न हुए, जिससे यह सप्तभगी कहलाई। वे सात भग इस प्रकार है।

१ **स्याद् अस्ति**-कथचित् है।

२ **स्याद् नास्ति**-कथचित नही है।

३ **स्याद् अस्ति नास्ति**-कथचित् है और नही भी है।

४ **स्याद् अवक्तव्य**-कथचित् कहा नही जा सकता।

५ **स्याद् अस्ति अवक्तव्य**-कथचित् है, पर कहा नही जा सकता।

६ **स्याद् नास्ति अवक्तव्य**-कथचित् नही है, पर कहा नही जा सकता।

७ **स्याद् अस्तिनास्ति अवक्तव्य**-कथचित् है, नही है, फिर भी कहा नही जा सकता।

इन सात भगो को ही सप्तभंगी कहते है। प्रत्येक वस्तु पर सप्तभगी लागू हो सकती है। जैसे—

१ जीव की जीव के रूप में अस्ति है।

२ जीव में जड की अपेक्षा नास्ति है, क्योंकि वह जड नही है।

३ इन दोनों भगो के मिलने से तीसरा (मिश्रित) भग बना अर्थात् 'जीव जीव है, जड नहीं है'।

४ जीव है वह जड नही है, यह बात एक साथ नहीं कही जा सकती, क्योकि जिस समय अस्तित्व कहा जाता है, उस समय नास्तित्व नही कहा जाता है, और जिस समय नास्तित्व कहा जाता है उस समय अस्तित्व नहीं कहा जाता। एक ही वस्तु कही जाती है, और दूसरी रह जाती है। इसलिए 'अवक्तव्य' नाम का भेद हुआ।

५ जीव है, फिर भी कहा नहीं जा सकता। यह भंग बताता है कि जीव अनन्त धर्मों का भण्डार है। उन सभी धर्मों को बतानेवाले न तो पूरे शब्द है, और न कह सकने की शक्ति ही है। थोड़े कहे जाते है, परन्तु बहुत से रह जाते हैं। कितने ही गुण ऐसे है, जो अनुभव तो किए जाते है, किन्तु कहने में नहीं आते। जैसे 'घृत' के स्वाद का अनुभव तो होता है, किन्तु उसका स्वाद शब्द द्वारा बताया नही जाता, न मानसिक सुख दुख आदि का पूरा वर्णन ही किया जा सकता है। इसलिए अस्तित्व के अवक्तव्य को बताने वाला यह पाँचवा भेद है।

६ इसी प्रकार जीव की, जड़ की अपेक्षा नास्ति भी सम्पूर्ण रूप से नही कही जा सकती।

७ अस्ति नास्ति भी एक समय में एक साथ नही कही जा सकती।

अस्ति और नास्ति ये दो परस्पर विरोधी धर्म है। विरोधी धर्म, एक वस्तु में कैसे रह सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु ऊपर बताये माफिक अपेक्षा भेद से दोनो विरोधी धर्म, एक वस्तु में घटित हो सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु की 'स्व चतुष्टय' (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा अस्ति है और 'पर–चतुष्टय' की अपेक्षा नास्ति है। जैसे–१ द्रव्य से–जीव, जीवद्रव्य रूप से अस्तित्व रखता है, २ क्षेत्र से–वह असंख्यात प्रदेश वाला और असख्य आकाश प्रदेश में रहा है, ३ काल से–जीव भूतकाल में भी था, वर्त्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा और जीव का जीवत्व रूप है–परिणमन, पर्याय परिवर्त्तन, विविध पर्यायो की वर्त्तना, गति, जाति, आयु, स्थिति आदि का प्रारम्भ, मध्य और अन्तकाल, सिद्धो का 'प्रथम समय सिद्ध, अप्रथम समय सिद्ध, सादि सपर्यवसित, सादि अपर्यवसित आदि जीव की स्वकाल की अपेक्षा अस्ति है और ४ भाव से–जीव की अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य आनन्द अथवा औदयिकादि छ भाव से अस्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्व द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति है।

एक वस्तु में दूसरी अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार का अस्तित्व नास्तित्व रह सकता है। जैसे एक व्यक्ति पूर्व में भी है, पश्चिम में भी है, उत्तर में भी है और दक्षिण में भी है। जो उसके पीछे खड़ा है, उसकी अपेक्षा वह पूर्व में है, और जो आगे खड़ा है। उसकी अपेक्षा पश्चिम में है, दाहिनी ओर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा उत्तर में और बायीं ओर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा दक्षिण में है। पर्वत पर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा नीचे, कूएँ या खदान वाले की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा मे और समभूमि पर तिर्छी दिशा में माना जाता है। ये सभी अपेक्षाएँ भिन्न दृष्टियों से सही है।

एक व्यक्ति स्वय बेटा भी है, बाप भी है, काका, मामा, भानजा, भतीजा, भाई, ससुर, साला, जमाई, पति, बहनोई, फूफा आदि अनेक सम्बन्ध रखता है और सभी सम्बन्ध अपेक्षा भेद से सत्य है, अस्तियुक्त है। किंतु ये ही अपेक्षा भेद से नास्ति रूप बन जाते है, जैसे-वह अपने बाप की अपेक्षा बेटा है, किन्तु पुत्र की अपेक्षा नहीं। मामा की अपेक्षा भानजा है, काका की अपेक्षा नही। इस प्रकार अपेक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु अस्ति नास्ति युक्त सिद्ध होती है।

धर्मास्तिकाय अरूपी ही है,और चलन गुण युक्त ही है, वह रूपी और स्थिर गुण वाला नहीं है। इसमें अस्ति भी निश्चित है और नास्ति भी निश्चित है। दोनों दृष्टियाँ भिन्न होने से अनेकान्त है। और यही सम्यग् एकान्त भी है, क्योंकि धर्मास्तिकाय में अरूपी और चलन सहाय गुण का निश्चित रूप से स्थापन और रूप तथा स्थिरत्व गुण का निषेध कर रहा है, जो सत्य ही है।

जीव ज्ञान गुण युक्त है। जड़ में न तो ज्ञान है, न वह आत्मा ही है। जीव कभी भी जीवत्व का त्याग कर सम्पूर्ण जड रूप नहीं बन सकता, और जड़ कभी जीव नही बन सकता। मोक्ष अक्षय अनन्त सुखों का भण्डार है वहाँ दुःख का लेश भी नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, सत्य निर्णय देने वाला, सम्यग् एकान्त से युक्त है। हाँ, इसमे मिथ्या एकान्त को स्थान नही है।

वास्तव में वस्तु को सही रूप में विभिन्न दृष्टियों से समझाने के लिए अनेकान्त एक उत्तमोत्तम सिद्धात है। इसे संशयवाद कहना भूल है,और इसका दुरुपयोग करना मिथ्यात्व है। आजकल अनेकान्त का दुरुपयोग करके भ्रम फैलाया जा रहा है। यह मिथ्या प्रयत्न है।

अनेकान्तवाद वस्तु को विविध अपेक्षाओं से जानने के लिए उपयोगी है, किन्तु आचरण में अनेक दृष्टिया नहीं रहती। वहा तो एक लक्ष्य, एक पथ, एक साधना, एक आराध्य और एकाग्रता ही कार्य साधक बनेगी। यदि सयम पालन में एक लक्ष नहीं रहा और आचरण में अनेकान्तता अपनाई, तो लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अनेकान्त के नाम पर मिथ्यात्व, अविरति असाधुता और ध्येय की विपरीतता नही चलाई जा सकती। हेय, हेय है उपादेय, उपादेय है। अनेकान्त के नाम पर हेय को उपादेय बनानेवाले के विचार स्वीकार करने के योग्य नहीं है। एक की आराधना ही सफलता प्राप्त

करवाती है। गुणस्थानो को चढकर और श्रेणि का आरोहण कर, वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी तथा सिद्ध दशा वे ही प्राप्त कर सकते है-जो अपने ध्येय में दृढ-निश्चल-कट्टर रहकर प्रगति करते है।

अनेकान्त के नाम पर "सर्व धर्म समभाव" का प्रचार करनेवाले स्वय भ्रम में है। वास्तव मे मोक्षार्थियो के लिए-सम्यग्दृष्टियो के लिए जिनेश्वर भगवत का मार्ग ही उपादेय है। इसी मार्ग से शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो सकती है, अन्य मार्गो से नही। इसमें भी सम्यग् अनेकान्त रहा हुआ है। जैसे-जिनमार्ग में-धर्म की अस्ति, अधर्म की नास्ति, उत्थान की अस्ति, पतन की नास्ति, इत्यादि। ...ार सम्यग् रूप से अनेकान्त का उपयोग कर जीवन को उन्नत बनाना चाहिए।

अन्नाण संमोह तमोहरस्स, नमो नमो नाण दिवायरस्स

नमो नमो नाण दिवायरस्स

मोक्ष मार्ग

तृतीय खण्ड

★☆★

अगार धर्म

ज्ञानधर्म और दर्शनधर्म युगपत् होते है। जहाँ ज्ञान धर्म है, वहा दर्शन धर्म भी होता है और जहा दर्शनधर्म है वहाँ ज्ञानधर्म भी होता है। प्ररूपणात्मक ज्ञान तो कभी मिथ्यादृष्टि में भी हो सकता है। उसके द्वारा वह सामान्य लोगो को सम्यक्त्वी दिखाई देता है और वह दूसरो मे सम्यक्त्व जगा भी सकता है। इस कारण वह दीपक-प्रकाशक सम्यक्त्वी माना जाता है। किन्तु वह प्रकाश केवल दूसरों को प्रभावित करनेवाला ही होता है, खुद तो उससे शून्य ही है। 'दीपक तले अन्धेरा'-इस उक्ति के अनुसार खुद में अन्धकार रहता है। हमारे जैसे छद्मस्थो की दृष्टि में ऐसा प्रचारक, सम्यक्त्वी लग सकता है, किन्तु सर्वज्ञो के ज्ञान मे तो वह मिथ्यात्वी ही होता है। उसे दर्शन धर्म का आराधक नही माना जाता और जो दर्शनधर्म का आराधक नही है, वह ज्ञानधर्म का भी आराधक नही है। श्रद्धा के अभाव में उसका ज्ञान मात्र "विषय-प्रतिभास" ज्ञान ही माना जाता है। जिससे वह विषय का प्रतिपादन कर सके। इस प्रकार का विषय प्रतिभास ज्ञानवाला वस्तुत मिथ्यादृष्टि ही है। जब तक उस ज्ञान के साथ श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नही होती, तब तक वह "आत्म परिणत" ज्ञान नही होता, और जब तक आत्म परिणत ज्ञान नही होता, तब तक दर्शन श्रावक भी नही हो सकता।

मार्गानुसारी के ३५ गुण

सैद्धातिक दृष्टि से अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोहनीय कर्म का उदय साधारण भी होता है और जोदार भी। जिसके कारण वह किसी प्रकार का त्याग नही कर सकता और मिथ्यात्व के सिवाय उसकी सभी वृतियाँ खुली रहती है।

साधारण तया पूर्वाचार्यों ने सम्यक्त्व प्राप्ति की सुलभता उन मनुष्यो मे मानी है कि जिनका गृहस्थ जीवन अनिन्दनीय हो। इस प्रकार की दशा को 'मार्गानुसारिता' के नाम से बताया गया है। मार्गानुसारी के ३५ गुण इस प्रकार बताये गये है।

१ न्याय सम्पन्न विभव—जिसकी आजीविका के साधन न्याय के अनुकूल तथा सचाई से युक्त हो।

२ शिष्टाचार प्रशसक—जिसका आचरण उत्तम लोग करते है, उस आचार की प्रशसा करना। जैसे—लोकापवाद से डरना, दुखियो की सेवा करना। तात्पर्य यह है कि बुरे कर्मों और खोटे रीति रिवाजो की प्रशसा करने वाला नही होकर उत्तम आचार की प्रशसा करनेवाला हो।

३ समान कुल शीलवाले अन्य गोत्रीय के साथ विवाह सबध करनेवाला। जिनके आचार विचार और सस्कार ही भिन्न हो, उसके साथ वैवाहिक सबध जोडने से आगे चलकर क्लेशमय जीवन बन जाता है और उत्तम सस्कार—खानदानी बिगडकर पतन होने की सभावना रहती है।

४ पाप भीरु—पाप जनक कार्यों से डर कर अलग रहने रहनेवाला।

५ प्रसिद्ध देशाचार का पालक—खान, पान, वेश भूषा, भाषा आदि का पालन, अपने देश के उत्तम व्यक्तियो द्वारा मान्य हो वैसा ही करना।

६ अवर्णवाद त्याग—पर निन्दा का त्यागी हो।

७ घर की व्यवस्था—रहने के लिए घर ऐसा हो कि जिसमें चोरो अथवा दुराचारियो का प्रवेश सुगम नही हो सके। क्योकि इससे शाति भग होने की सभावना है। पडोस भी भले और उत्तम लोगो का ही होना—घर सबधी सुरक्षा और आत्मिक सुरक्षा का कारण होता है। नीचजनो के मध्य में रहने से, और कुछ नही तो साथ खेलने आदि से बाल बच्चो के सस्कार बिगडना अधिक सभव हो जाता है।

८ सत्सग—भले और सदाचारियो की सगति करे और दुराचारियों से दूर रहे। सत्पुरुषो की सगति से सम्यक्त्व का प्राप्त होना सरल हो जाता है।

९ माता पिता की सेवा करे—यह सबसे पहला सदाचार है।

१० उपद्रव युक्त स्थान का त्याग करे। जहाँ विग्रह, बलवा अथवा महामारी, दुष्काल आदि की

सभावना हो, जिस स्थान पर युद्ध होने के लक्षण हो, वहाँ से हटकर निरापद स्थान पर चला जाय, जिससे शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत हो सके।

११ घृणित—निन्दनीय कृत्य नही करे।

१२ आय के अनुसार व्यय करे, अर्थात् आमदनी से अधिक खर्च नही करे। अधिक खर्च करने वाले कर्जदार होकर दुखी हो जाते है। इसलिए आमदनी से अधिक खर्च नही करे।

१३ अपना वेश, देश, काल और अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार रखे।

१४ बुद्धिमान होवे। बुद्धि के नीचे लिखे आठ गुण धारण करे।

१ शुश्रूषा—शास्त्र सुनने की इच्छा।
२ श्रवण—शास्त्र सुने।
३ ग्रहण—अर्थ को समझे।
४ धारण—स्मृति में रक्खे।
५ ऊह—तर्क करे।
६ अपोह—युक्ति से दूषित ठहरनेवाली बात को त्याग दे।
७ अर्थविज्ञान—ऊह और अपोह द्वारा ज्ञान के विषय मे हुए मोह अथवा सन्देह को दूर करे।
८ तत्त्वज्ञान—निश्चयात्मक ज्ञान करे।

उपरोक्त गुणो से विकसित बुद्धिवाला अकार्य से वंचित रहकर सदाचार मे लगता है।

१५ प्रतिदिन धर्म श्रवण करे क्योंकि धर्म श्रवण से ही उस पर श्रद्धा होकर सम्यक्त्व प्राप्त होती है।

१६ अजीर्ण होने पर भोजन नही करे, क्योकि इससे बीमारी बढती है और बीमार व्यक्ति का धर्म में रुचि रखना सत्सगति आदि करना कठिन हो जाता है।

१७ यथा समय भोजन करे। समय चूकाकर भोजन करने से भी मन्दाग्नि आदि रोग हो जाते है। भूख से अधिक भोजन भी नही करे, क्योंकि यह अजीर्ण का कारण होता है।

१८ अबाधित त्रिवर्ग साधन—अर्थ और काम की इस प्रकार साधना नही करे, जिससे कि धर्म बाधित हो। एकान्त काम साधना से, तन धन और धर्म नष्ट होकर दुखी जीवन बिताना पड़ता है। एकान्त अर्थ साधना करने से, धर्म का नाश होता है और काम का भी और अर्थ तथा काम को त्याग-कर एकान्त धर्म साधना करना सर्वोत्तम होते हुए भी अनगार भगवंतो के अथवा ब्रह्मचारी श्रावक के

योग्य है, यह स्थिति मार्गानुसारी से ऊपर की है । यदि तीन मे मे एक का त्याग करना पड तो काम को त्याग दे और धर्म तथा अर्थ के सेवन मे कमी करे। यदि दो का त्याग करना पडे, तो काम और अर्थ का त्याग करदे और धर्म का सेवन करे, क्योकि वास्तविक धन तो धर्म ही है।

१९ माव् और दीन अनाथो को दान दे । अभय सुपात्र और अनुकम्पा दान करना ग्रहस्थ का धर्म है ।

२० दुराग्रह मे रहित होना । अपना खोटा आग्रह चला कर दूसरो को अपमानित करने का प्रयत्न करना—दुराचार है । इसलिए खोटी वातो का आग्रह नही रखना चाहिए ।

२१ गुण पक्षपात—गुणवानो, सदाचारियो, धर्मीजनो और सज्जनो तथा अहिंसा, सत्यादि सद्गुणो का पक्ष करनेवाला हो ।

२२ निषिद्ध देशादि मे नही जावे । जहा जाने से अपने सदाचार की सुरक्षा नही होती हो, जिस दग मे जाने मे अपनी शान्ति और सदाचार का भग हो, वहा नहीं जाना ।

२३ अपनी शक्ति को तोलकर कार्य मे प्रवृत्ति करे । यदि शक्ति मे वाहर और सामर्थ्य से अधिक कार्य करना प्रारभ कर दिया और सफलता नही मिली, तो अशान्ति का कारण खडा हो जाना है ।

२४ वृत्तस्थ ज्ञानवृद्धो की पूजा—दुराचार का त्याग करके मदाचार का पालन करने वाले, 'वृत्तस्थ' कहलाते है । ऐसे महात्माओ ज्ञानियो और अनुभवियो की सेवा भक्ति और विनय करना चाहिए ।

२५ पोष्य पोषक—माता, पिता, पत्नी, पुत्रादि और आश्रितजनो का पोषण करना, उन्हे आवश्यक वस्तुएँ देना ।

२६ दीर्घदर्शी—दूरदर्शिता पूर्वक भावी हानि लाभ का विचार करके कार्य करना ।

२७ विशेषज्ञ अपना ज्ञान वढाकर कार्य, अकार्य, एव हेय उपादेय के विषय में अनुभव बढाना चाहिए ।

२८ कृतज्ञ—अपने पर किये हुए उपकारो को मदा याद रखकर उनका आभार मानते रहना चाहिए ।

२९ लोकवल्लभ—विनय, सेवा, सहायतादि से लोक प्रिय होना चाहिए ।

३० लज्जाशील—लज्जावान होना चाहिए । जिसमें लज्जा गुण होता है, वह अनेक प्रकार की बुराई से बच कर धर्म के सम्मुख हो सकता है ।

३१ मदय — दुखी प्राणियो के दु ख देख कर हृदय का कोमल होना और उनके दु ख दूर करने का यथा शक्ति प्रयत्न करना ।

३२ सौम्य -सदैव शान्त स्वभाव और प्रसन्न रहे। क्रूरता को अपने पास भी नही आने दे।
३३ परोपकार कर्मठ-दूसरो की भलाई करने मे सदैव तत्पर रहे।
३४ क्रोध, लोभ, मद, मान,काम और हर्ष-इन छ अन्तरग शत्रुओ का यथा सभव त्याग करे
३५ इन्द्रिय जय -इन्द्रियो पर यथा शक्ति अकुश रखे। (योगशास्त्र प्रकाश १)

उपरोक्त ३५ गुण मार्गानुसारी के कहे गये है। ये प्राय सुखी गृहस्थ के लिए आवश्यक है इनमे बहुत से गुण तो ऐसे है जो सम्यक्त्व के लिए भूमिका तैयार करनेवाले हैं और कुछ स [म्यक्त्वी] अवस्था के। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि जिनमे ये अथवा इनमे से अमुक गुण विद्यमान नही [हो] वह सम्यक्त्व के योग्य हो हो नही सकता। क्योकि थोडी देर पहले जो क्रूर, हत्यारा और महानपात की था, वह भी अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यग्दृष्टि हो गया। जो महान क्रूर कर्म करके और परम कृष्ण लेश्या के उदय मे सातवी नरक मे गया, वह भी उत्पत्तिके अन्तर्मुहूर्त बाद-पर्याप्त होने के बाद-सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु मनुष्यो को अपनी परिणति सुधारकर उत्थान करना हो, तो उसे उपरोक्त गुणो को अपने हृदय में टटोलकर देखना चाहिए कि मुझमें दर्शन श्रावक बनने की योग्यता रूप मार्गानुसारी के गुण है या नही ? यदि नहीं हो, तो प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और हो तो उनमें सम्यक्त्व रत्न को दृढता पूर्वक धारण करना चाहिए।

दर्शन श्रावक

दर्शन श्रावक भी वही हो सकता है कि जिसको निर्ग्रंथ प्रवचन मे पूर्ण श्रद्धा हो। वह हृदय मे मानता हो कि-

'निर्ग्रंथ प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, प्रतिपूर्ण है, न्याय युक्त है, शुद्ध है, शल्य को दूर करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है और समस्त दुखो का अन्त करके परम सुख का प्राप्त करने का मार्ग है। इस निर्ग्रंथ प्रवचन मे रहा हुआ जीव, आत्मा से परमात्मा बन जाता है। मैं इस धर्म की श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ"। (भगवती ९-३३, आवश्यक तथा उववाई)

"जिनेश्वर भगवान् ने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। उसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है"।
(आचाराग १-५-५ तथा भगवती १-३)

"अरिहत भगवान् ही मेरे आराध्य देव है। निर्ग्रंथ श्रमण मेरे गुरु है, और जिनेश्वर भगवत का उपदेश किया हुआ तत्त्व ही मेरे लिए धर्म है। मेरा इन पर दृढ विश्वास है"। (आवश्यक सूत्र)

वह मानता है कि-

"आत्मा के लिए अरिहंत, सिद्ध, निर्ग्रंथ साधु और धर्म ही मंगल रूप हैं। संसार के उत्तमोत्तम विशिष्ट पदों में, ये चार पद ही सर्वोत्तम हैं। संसार के सातों भयों से भयभीत बने हुए जीवों के लिए शान्ति एवं निर्भयता प्राप्त करने रूप आश्रय स्थान-ये अरिहंतादि चार ही हैं। इनका शरण ही जीवों को परम शान्ति प्रदान कर सकता है"। (आवश्यक सूत्र)

सम्यक्त्वी की षड्द्रव्य, नौतत्त्व, और ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्षमार्ग में पूर्ण श्रद्धा होती है।
(उत्तराध्ययन २८)

अविरत सम्यग्दृष्टि-दर्शन श्रावक का गुणस्थान तो चौथा होता है, किन्तु इसमें परिणती भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कोई जघन्य दर्शन आराधनावाले होते हैं, तो कोई मध्यम और कोई उत्कृष्ट। प्रत्येक भेद में भी तरतमता लिए हुए जीव होते हैं। सम्यक्त्व रूपी रत्न, अपने आप में है तो एक ही प्रकार का (क्षायिक सम्यक्त्व) किन्तु पात्र भेद से अथवा अवस्था भेद से, इसके तीन भेद किये हैं,- १ उपशम, २ क्षयोपशम और ३ क्षायिक। पूर्व के दो भेद, पात्र की कुछ मलीन अवस्था के कारण हुए हैं। जिस व्यक्ति का मिथ्यात्व, अन्तर्मुहूर्त के लिए एक दम दब गया हो-वह उपशम सम्यक्त्ववाला होता है और जिसका मेल प्रदेशोदय में ही रहकर रसोदय दब गया हो, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वामी होता है। उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी जीव, परिणति में समान ही होते हैं। उदयावस्था किसी में कोई तरतमता नहीं होती, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीवों की परिणति प्रत्येक की भिन्न प्रकार की होती है। क्षायिक सम्यक्त्वी, तो दर्शन के उत्कृष्ट आराधक ही होते हैं, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट-ऐसे तीन भेद हैं।

श्री भगवतीसूत्र ८-१० में लिखा है कि उत्कृष्ट दर्शन आराधना वाला या तो उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, यदि उस भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करे, तो दो भव करके तीसरे भव में तो अवश्य मुक्ति पा सकता है। मध्यम आराधना वाले जीव, उस भव में तो सिद्ध नहीं होते, किन्तु तीसरे भव, में सिद्ध हो जाते हैं और जघन्य आराधनावाले यदि जल्दी सिद्ध हों तो तीसरे मनुष्य भव में अर्थात् पाँचवे भव में, अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव करके सिद्ध हो सकते हैं।

दर्शनश्रावक के किसी प्रकार की विरति नहीं होती, किन्तु यह दर्शन गुण, चारित्र गुण को प्राप्त करवाकर उन्नत कर देता है। दर्शनश्रावक का सबसे प्रथम और महत्व पूर्ण कर्त्तव्य यह होता है कि वह अपने दर्शन रत्न को सुरक्षित रखकर मिथ्यात्व से बचाता रहे। यदि दर्शन गुण सुरक्षित रहा, तो दुर्गति का कारण नहीं रह कर अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुक्ति दिला ही देगा। यदि सम्यक्त्व रत्न को गँवा दिया, तो इसका पुन प्राप्त करना मुश्किल हो जायगा। भाग्य प्रबल हो, तो पुन अन्तर्मुहूर्त में ही प्राप्त हो सकता है और दुर्भाग्य में वृद्धि होती रहे, तो अनन्त भव भ्रमण रूप अर्ध पुद्गल परावर्तन तक जन्म मरणादि के महान् दुखों को भुगतना पडता है।

दर्शन सम्यक्त्व की उत्कृष्ट आराधना करनेवाले दर्शन श्रावक, बिना देश चारित्र के ही अपूर्व स्थिति को प्राप्त करके तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर सकते है। श्री कृष्णवासुदेव और मगधेश्वर महाराज श्रेणिक, दर्शन श्रावक ही थे। किन्तु जिनेश्वर भगवन्त और निर्ग्रंथ प्रवचन पर अटूट श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अविरत अवस्था मे ही तीर्थंकर नाम कर्म का बँध कर लिया था।

चारित्र मोहनीय कर्म के प्रगाढ उदय से जीव, विरति को आत्मा के लिए उपकारक मानते हुए भी अपने जीवन मे उतार नही सकता। वह त्याग भावना रखते हुए भी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरत रहता है, फिर भी दर्शन विशुद्धि इतनी जोरदार हो जाती है कि जिसके द्वारा अरिहत, सिद्ध, निर्ग्रथ प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी की सेवा, भक्ति, बहुमान, हित कामनादि से तथा विशुद्ध श्रद्धान्, श्रुत भक्ति और प्रवचन प्रभावना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करके तीसरे भव मे तीर्थंकर भगवान् हो जाता है (ज्ञाता ८)

चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों का है, किन्तु सभी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, 'दर्शन श्रावक' नही कहे जाते, क्योंकि श्रावक तो वही माना जाता है जो निर्ग्रंथ–प्रवचन को सुने। निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने का सौभाग्य, कर्म भूमि के कुछ मनुष्यो, कुछ तिर्यंचो और कुछ देवो को ही मिलता है। नारकों को तो ऐसा योग मिलता ही नही, अधिकाश तिर्यञ्चो और देवो को भी नही मिलता। इसलिए वे अविरत सम्यग्दृष्टि तो कहे जा सकते है, किन्तु दर्शन–श्रावक नही कहे जाते।

आस्तिकवादी

श्रावक आस्तिकवादी होता है। वह जीव, जीव की शाश्वतता, जीव की कर्म बद्धता, जीव को भोक्ता मुक्ति और मुक्ति के उपाय को मानता है। वह आस्तिकज्ञान वाला है और आस्तिक दृष्टि युक्त होता है।

वह सम्यग्वादी–तत्त्वों का यथार्थ निरूपण करनेवाला होता है।

वह नित्यवादी–आत्मा को शाश्वत, ध्रुव तथा मुक्ति को शाश्वत सुखदायक मानने वाला होता है।

वह सत्परलोकवादी–परलोक का सत्य स्वरूप कहनेवाला होता है।

वह जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, वेदना, निर्जरा–इन सबका अस्तित्व और परिणाम को मानने और कहनेवाला होता है।

वह पाप और पुण्य को तथा पाप का नरक रूप बुरा फल और पुण्य का स्वर्ग रूपी शुभ फल मानता है। वह सवर और निर्जरा की क्रिया से मुक्ति मानता है। अतएव वह क्रियावादी है। वह इस लोक, परलोक और अलोक को भी मानता है।

वह माता पिता और उनके साथ अपना कर्त्तव्य भी मानता है। वह अरिहत, चक्रवर्ती, वलदेव और वासुदेव को भी मानता है।

वह समस्त अस्ति भावो का अस्तित्व स्वीकार करता है और सभी प्रकार के नास्ति भाव की नास्ति मानता है।

इस प्रकार सम्यक् श्रद्धान्वाला श्रावक, सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जिसकी उपरोक्त विषयो मे पूर्ण आस्था नही है—वह जैनी नही है। (उववाई, दशा श्रु ६)

सुश्रावक कभी जीवादि तत्त्वो से और अरिहत भगवान्, उनकी परम वीतरागता, सर्वज्ञसर्वदर्शीता से इन्कार नही कर सकता। साधुओ को आगमानुसार निरवद्य आचरण, श्रावको की विरति, सामायिक, पौषध आदि करणी और दीक्षा की उपादेयता के विषय मे विपरीत भाव नही करता। इस प्रकार हेय को हेय और उपादेय को उपादेय मानने और कहनेवाला श्रावक—आस्तिकवादी है, क्रियावादी है। सम्यग्ज्ञान सम्पन्न है और सम्यग्दृष्टि वाला है।

विरति की अपेक्षा श्रावक के भेद

जिस प्रकार साधुओ मे दीक्षा पर्याय की अपेक्षा तथा क्रिया कर्म और आराधना की अपेक्षा भेद होते है, उसी प्रकार श्रमणोपासको के भी चार भेद है। ये भेद इस प्रकार है।

१ कोई श्रावक पर्याय से वडे है, किन्तु गुणो मे नही है। वे महान् क्रिया, महान् कर्म, और अति प्रमाद युक्त होकर धर्म की साधना वरावर नही करते हुए धर्म के आराधक नही होते।

२ कोई व्रत पर्याय मे वडे है और गुणो से भी बडे होते है। वे अल्प कर्म, अल्प प्रमाद तथा भावना युक्त होकर आराधक होते है।

३ कोई व्रत पर्याय मे छोटे से है किन्तु है महान् क्रिया, महान् कर्म, और अति प्रमाद युक्त। वे धर्म साधना बरावर नही करते हुए धर्म के अनाराधक होते है।

४ कोई व्रत पर्याय में छोटे होते हुए भी गुणो मे वडे होते है, उनको अल्पक्रिया, अल्पकर्म, अल्प प्रमाद तथा प्रत्याख्यानादि अधिक होते है। वे भगवान् की आज्ञा के आराधक होते है। (स्थानाग ४—३)

श्रमणोपासको को भगवान् की आज्ञा के आराधक होने का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

अभिगम

तीर्थंकर देव अथवा धर्माचार्य की सेवा में धार्मिक नियम के अनुसार ही जाना चाहिए। जिस प्रकार राजसभा आदि में उसके नियम के अनुसार जाना ही सभ्यता है, उसी प्रकार धर्म स्थान पर भी धार्मिक नियमो का पूर्ण रीति से पालन करते हुए जाना धार्मिकता का प्रथम कर्त्तव्य है। उन नियमों को आगमो में 'अभिगम' कहा है और अभिगम पाच प्रकार का इस प्रकार है।

(१) सचित्त द्रव्य- पुष्प, ताम्बूल आदि का त्याग करना, साथ नहीं ले जाना ±।

(२) अचित द्रव्य-वस्त्र आभूषण का त्याग नहीं करे-इन्हें व्यवस्थित रक्खे।

(३) एक वस्त्रवाले दुपट्टे का उत्तरासग करे।

(४) धर्माचार्य अथवा मुनिराज को देखते ही दोनो हाथ जोडकर विनय बतावे।

(५) मन को एकाग्र करे। (भगवती २-५)

ये पाँच अभिगम है। इनका पालन अवश्य करे। यह धर्मस्थान सम्बन्धी मर्यादा है। इससे मुनिराज अथवा महासतीजी के प्रति अत्यन्त आदर व्यक्त होता है। श्रमण निर्ग्रंथ, उपासक श्रावको के लिए अत्यन्त आदरणीय होते है। उनका बहुमान करना श्रावको का प्रथम कर्त्तव्य है।

पर्युपासना

मर्यादानुसार धर्मस्थान में प्रवेशकर गुरुदेव को तीन वार आदान प्रदक्षिणा करके वन्दना करनी चाहिए। इस के बाद नीचे लिखी तीन प्रकार की पर्युपासना करनी चाहिए।

१ कायिक पर्युपासना-मस्तक, दो हाथ और दोनो पाँव झुकाकर नमस्कार करना और विनम्र होकर दोनों हाथ जोडकर पर्युपासना करना।

२ वाचिक पर्युपासना-ज्यों ज्यो भगवान् उपदेश करे, त्यों त्यों उनकी वाणी का बहुमान करते हुए कहना कि भगवन्! आप फरमाते है वह सत्य है, यथार्थ है, नि संदेह सत्य है। इसमे रत्तिभर भी अन्तर नहीं है। मैं आपके उपदेश को चाहता हूँ, रुचि करता हूँ। आपके वचनो पर मुझे पूर्ण विश्वास है। इस प्रकार अनुकूल शब्दो से पर्युपासना करना।

± मान प्रदर्शक आयुध (शस्त्र) छत्र, चामरादि तथा उपानह (पाँवपोशआदि) का भी त्याग करे (भगवती ९-३३ तथा उववाई ३२)

३ मानसिक पर्युपासना—हृदय मे महान् सवेग लाना—गुरुदेव तथा धर्म के प्रति अत्यन्त प्रीति लाकर धर्म के तीव्र प्रेम में सराबोर हो जाना—मानसिक पर्युपासना है (उववाई)

इस प्रकार उपर्युक्त तीन प्रकार की भक्ति पूर्वक सेवा करने वाले श्रमणोपासक अशुभ कर्मों की निर्जरा और महान् पुण्यो का उपार्जन कर सुखी होते है (उत्तरा. २६)

शुद्धचारित्र पालने वाले श्रमण निर्ग्रथो की पर्युपासना से—१ धर्म सुनने को मिलता है, २ धर्म सुनने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ३ ज्ञान प्राप्ति से विज्ञान— हेय ज्ञेय और उपादेय का विवेक जागृत होना है, ४ विज्ञान से प्रत्याख्यान—हेय का त्याग होता है, ५ प्रत्याख्यान से सयम, ६ सयम से आश्रव की रोक—संवर की प्राप्ति होती है, ७ संवर से तप की, ८ तप से पूर्व के कर्मों की निर्जरा, ९ निर्जरा से अक्रिया=योगो का निरोध और १० अत में निर्वाण होकर मोक्ष के सुख प्राप्त हो जाते है ।

(ठाणाग ३—३, भग० २—५)

उपरोक्त फल, तथारूप के (वास्तविक) श्रमण निर्ग्रथ को पर्युपासना का है । जैसेतैसे वेश-धारी और दुर्गुणी के दुर्गुणो को जानते हुए भी अज्ञान वश अथवा दब्बूपन से वन्दनादि करना, दुर्गुणो को आदर देना है ।

देशविरत श्रावक

अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक चौथे गुणस्थान का अधिकारी है, क्योकि उसके अप्रत्याख्यान कषाय की चौकड़ी का उदय है । इसलिए उसकी परिणति विरति के योग्य नही रहती । उसके त्याग का सर्वथा अभाव रहता है । वह अपनी इच्छा पर अंकुश नही रख सकता । इसलिए ऐसी परिणतिवाले को अविरत सम्यग्दृष्टि कहा गया है । किन्तु जिस आत्मा में इस प्रकार के अप्रत्याख्यान कषाय का क्षयोपशम हो गया है, उसमे विरति के परिणाम जागृत होते है । विरति के परिणाम होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से वह सर्वविरत नही हो सकता, किन्तु देश विरत ही होता है । वह चाहता तो है कि 'सर्व विरत—निर्ग्रंथ बन जाय,' किन्तु चारित्रावरणीय मोहकर्म का क्षयोपशम उतना नही होने के कारण उसकी वासना उसमें कमजोरी चालू रखती है । उसका पुरुषार्थ उग्र नही होने देती । मोहनीय कर्म के उदय से उसकी आत्मा में कुछ कमजोरी बनी रहती है । वह अपनी इस कमजोरी को छुपाता नही, किन्तु स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हुआ कहता है कि—

"प्रभो ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ । मुझे जिन वचनो पर पूर्ण रूप से रुचि है । किन्तु स्पर्शना करने में पूर्ण रूप से समर्थ नही हूँ । श्री चरणो मे अनेक राजा महाराजा और श्रेष्ठी

आदि प्रव्रजित होकर सर्व चारित्री बन जाते हैं, किन्तु मैं उतना शक्तिशाली नहीं हूँ। मेरी शक्ति का विकास उतना नहीं हुआ कि मैं सर्वस्व त्यागकर निर्ग्रंथ बन जाऊँ। इसलिए मैं देशविरत होता हूँ और आंशिक संयम को स्वीकार करता हूँ"।

देश विरत श्रावकों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं;-किन्तु सभी देश विरत श्रावक इन बारह व्रतों के पालक होते ही हैं-ऐसी बात नहीं है। कोई किसी एक व्रत या उसके, अंश का पालक होता है, तो कोई सभी व्रतों का और उससे भी आगे बढ़कर 'उपासक प्रतिमाओं का पालक भी होता है। इस प्रकार परिणति के अनुसार त्याग में भेद होते हुए भी सबका गुणस्थान तो एक पांचवां ही होता है। कोई पांचवें के जघन्य स्थान पर होता है, तो कोई उत्कृष्ट स्थान पर। इसे अगार धर्म कहते हैं।

अनगार भगवंतो के पांच महाव्रत होते हैं, तो अगारी-श्रावकों के पांच अणुव्रत होते हैं। महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होने के कारण श्रावकों के व्रतों को 'अणुव्रत' कहते हैं। इनका क्रमश: विवेचन किया जाता है।

स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत

श्रावक के प्रथम अणुव्रत का नाम 'स्थूल प्राणातिपात विरमण' है। स्थूल=बड़े, साधु तो एकेन्द्रिय स्थावर जैसे छोटे जीवों की भी हिंसा नहीं करते, किन्तु गृहस्थ इनकी हिंसा से पूर्ण विरत नहीं हो सकता। इसलिए वह स्थूल-बड़े-त्रस जीवों के विषय में ही विरत होता है।

प्राणातिपात=प्राणों को धारण करने के कारण जीव को प्राणी कहते हैं। जीवों के कुल दस प्राण होते हैं। यथा-

१ श्रोतेन्द्रिय बल प्राण, २ चक्षुइन्द्रिय, ३ घ्राणेन्द्रिय, ४ रसेन्द्रिय, ५ स्पर्शेन्द्रिय ६ मन बल प्राण, ७ वचन, ८ काया, ९ श्वासोच्छ्वास, और १० आयुष्य बल प्राण।

इन दस प्राणों में से एकेन्द्रिय के-१ स्पर्श २ काय ३ श्वासोच्छ्वास और ४ आयु-ये चार प्राण होते हैं। बेइन्द्रिय के-५ रसेन्द्रिय और ६ वचन बढ़कर छह, तेइन्द्रिय के घ्राणेन्द्रिय बढ़कर ७, चौरेन्द्रिय के चक्षुइन्द्रिय बढ़कर ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोतेन्द्रिय बढ़कर ९, और संज्ञी पंचेन्द्रिय के मन बढ़कर १० प्राण होते हैं। प्राणियों के इन प्राणों का नाश करना-प्राणातिपात है।

विरमण-विरत होना, स्थूल प्राणातिपात का त्याग करना। दूसरे शब्दों में इस व्रत का नाम 'स्थूल हिंसा त्याग व्रत' अथवा 'श्रावकों का अहिंसा व्रत' कहते हैं।

हिंसा दो प्रकार की होती है—१ सकल्पजन्य और २ आरभजन्य

संकल्पजा—सकल्प पूर्वक, अर्थात् इच्छा युक्त—प्रतिज्ञा पूर्वक, रक्त के लिए, मास के लिए, अथवा हड्डी, चमडी, दवाई, केश, रोम, नख, दात के लिए, या फिर मनोरजन के लिए शिकार खेलकर, इत्यादि अनेक प्रकार से सकल्पी हिंसा की जाती है।

आरंभजा—मकान बनाते, भूमि खोदते, झाडते बुहारते, भोजन पकाते अग्नि प्रज्वलित करते, वस्त्र धोते, और व्यापारादि आरभ के अनेक प्रकार, में स्थावर के साथ त्रस जीव की घात हो जाना—आरंभजा हिंसा है। यहाँ त्रस जीवो को मारने का सकल्प तो नही है, किन्तु उनकी हिंसा हो जाती है।

श्रावक त्रस जीवो की सकल्पजा हिंसा का त्याग करता है, किन्तु इसमें वह छूट रखता है कि अपने तथा अपने, सम्वन्धियो के शरीर में पीडा करनेवाले कृमी, नारु आदि का दवाई आदि मे विनाश होता हो और अपराधी को दण्ड देने की आवश्यकता हो, तो इसकी छूट रखकर इसके अतिरिक्त जान बूझकर सकल्पी हिंसा का त्याग करता है। वह गृहस्थ है। घरवार, कुटुम्व परिवार और धन सम्पत्ति से उसका स्नेह बन्धन छुटा नही है। वह ससार मे सर्वथा विरक्त नही है। इसलिए प्रत्याख्यानावरण मोह के उदय से वह अपरावी को दण्ड देता है और अपनी अपने सम्वन्धियो की, अपनी सपत्ति की और अपने उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए वह विवश होकर आक्रमक या चोर जार आदि को दण्ड देने को तत्पर होता है, उसके विरुद्ध शास्त्र का उपयोग करता है। वह त्रस हिंसा का त्याग भी सर्वथा नही कर सकता।

जिसने प्राणातिपात विरमण व्रत स्वीकार किया है, वह प्राणियो को मारे, पीटे, अगभंग करे, भूखा प्यासा रक्खे, समय पर भोजन नही दे या कम दे, सामर्थ्य से अधिक काम ले, तो उसका व्रत निर्मल नही रहता है। अत व्रत को निर्दोष रखने के लिए पाच अतिचारोको टालना चाहिए।

१ वन्ध—यदि किसी मनुष्य अथवा पशु को अपराव के कारण या सुधारने के लिए दण्ड देना पडे, तो उस समय उसे क्रूरता पूर्वक गाढ वन्धनो से नही वाँधना कि जिससे वह अपने हाथ पाँव ही नही हिला सके। उसका श्वास लेना कठिन हो जाय। अगो मे रक्त का सचालन रुक जाय और जीवन समाप्त होने की स्थिति वन जाय। इतना क्रूर वनने से अहिंसक भावना नष्ट हो जाती है। इसलिए दण्ड देने के लिए दृढ वन्धनो से नही वाँधना चाहिए। यह पहला 'वन्ध नामक' अतिचार है।

अपनें मौज शौक के लिए तोता, मैना आदि पक्षी को वन्दी वनाना, किसी मनुष्य पर अनुचित एव अन्याय पूर्वक दवाव डालकर उसे वन्दी वनाना, उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना आदि भी इस अतिचार में आ सकते हैं।

२ वध-वध दो प्रकार से होता है। एक तो अकारण और दूसरा सकारण। बिना कारण या अपने मनोरंजन अथवा बडप्पन प्रदर्शित करने के लिए किसी को मारना पीटना तो निषिद्ध ही है, किन्तु सकारण किसी को मारना पडे-दण्ड देना पडे, तो इस प्रकार का प्रहार नही हो कि जिससे उसकी हड्डी पसली टूट जाय, गहरे घाव लग जाय, और अग भग हो जाय। निर्दयता पूर्वक किया हुआ प्रहार, तत्काल नही तो कालान्तर में भी प्राण घातक हो सकता है। अतएव कठोर प्रहार नही करना चाहिए। किसी को वध करने की सलाह या आदेश देना, मर्मान्तिक आक्षेप करना भी इसमें आता है।

३ **छविच्छेद**-हाथ पाँव आदि अगो का छेदन करना-छविच्छेद नामका तीसरा अतिचार है। निष्कारण अग का छेदन तो निषिद्ध ही है। सकारण मे रोगी अग की चिरफाड, अतिचार नही है, क्योंकि वह दण्ड नही किन्तु रोगी के जीवन की रक्षा के लिए है। दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थ वश पशुओ की नासिका का छेदन कर 'नाथ' डालना, सींग पूछ आदि काटना, कान चीरना, और उन्हे खशी (नपुसक) बनाना, ये सब कार्य क्रूरता के है। अहिंसक भावना को नष्ट करनेवाले है। मनुष्यो के नाक, कान या हाथ आदि काट देना, अन्तपुर की रक्षा के लिए नपुसक कर देना, ये कार्य अहिंसा 'अणुव्रत को सुरक्षित नही रहने देते। इसलिए ऐसे कार्य नही करना चाहिए।

४ **अतिभार**-गाडी, घोडा, बैल आदि पर उसकी सामर्थ्य से अधिक भार लादना, तागे या बग्घी मे अधिक सवारियें बैठना, मजदूरो या हमालो से ज्यादा बोझ उठवाना, अर्थात् किसी भी मनुष्य अथवा पशु से उसकी शक्ति से अधिक काम लेना भी निर्दयता है। इस प्रकार की निर्दयता श्रावक को नही करनी चाहिए।

५ **भक्त पान विच्छेद**-आश्रित मनुष्य अथवा पशुओ को भूखे प्यासे रखना, उन्हे समय पर भोजनादि नही देना-इस प्रकार का दड भी क्रूरता से ही होता है। रोग के कारण लघन कराना हित बुद्धि है, इसलिए यह तो निषिद्ध नही है, किन्तु दण्ड देने के लिए अथवा स्वार्थ बुद्धि से भूखों मारना, अथवा आजीविका के साधन नष्ट कर देना अतिचार है।

उपरोक्त पाच अतिचारो से श्रावक को सदैव बचते रहना चाहिए। ये पाँच अतिचार तो प्रसिद्ध ही है। इनके अन्तर्गत अन्य अनेक बाते आ जाती है। इन सब का तात्पर्य यही है कि जिस अहिंसक भावना से अहिंसा अणुव्रत स्वीकार किया गया, वह कायम रहनी चाहिए। स्वार्थ अथवा क्रूरता के कारण अहिंसकता मे मलिनता नही आनी चाहिए।

स्थूल मृषावाद विमरण व्रत

दूसरे अणुव्रत से वडे झूठ का त्याग होता है। मृषावाद तो हिंसा की तरह सर्वथा त्याज्य है, किन्तु गृहस्थ को ससार में रहते हुए छोटे झूठ का त्याग करना कठिन है, इसलिए इस अणुव्रत में और वडे झूठ का त्याग वताया गया है।

आवश्यक चूर्णि में स्थूल असत्य के चार प्रकार बताये है। जैसे कि—

१ भूत निन्हव—सत्य वस्तु का निषेध करना, आत्मा, स्वर्ग, नरक, आदि का अपलाप करना।

२ अभूतोद्भावन—असत्य को सत्य बताना, जो नही हो उसकी स्थापना करना।

३ अर्थान्तर—एक भाव को दूसरे भाव के रूप में बताना, अर्थ पलटना, पुण्य को पाप, पाप को पुण्य आदि कहना।

४ गर्हा—इसके तीन भेद हैं—(१) सावद्य—व्यापार—वर्तिनी भाषा, जैसे कि 'खेती करो, घोडे बैल आदि को नपुसक बनाओ' आदि (२) अप्रिया—काने को काना आदि कटु भाषा। (३) आक्रोश-रूपा—आघात जनक, तिरस्कार युक्त अथवा कलक लगानेवाली या दुख दायक भाषा।

शास्त्रकारो ने वडे झूठ के पाच प्रकार बतलाये है। यथा—

१ कन्यालीक—कन्या × अथवा वर के सम्बन्ध मे झूठ बोलकर सम्बन्ध जोडना या झूठे दोष मढ-कर होते हुए सम्वन्ध में बाधक बनना। यही बात वर के विषय मे भी है। झूठी प्रशसा करके सम्वन्ध जुडा देने पर उनका जीवन क्लेशित हो जाता है और झूठे आल लगाने से अन्तराय लगती है। इस प्रकार का झूठ अनर्थ का कारण बन जाता है। इसलिए ऐसे झूठ से बचना चाहिए। मनुष्य के आपस मे जुडे हुए सम्बन्ध अथवा जुडनेवाले मधुर सम्बन्धो मे द्वेष वश झठा अडगा डालकर बाधक बनने का त्याग करना—इस नियम का भाव है।

२ गवालीक—गाय, बैल, भैस आदि पशुओ के विषय में झूठ बोलना। बिना दूध की गाय, भैंस को दुधारु और गाडी या हल में चलने में अयोग्य बैल को अच्छा बतलाकर बेचना भी बडा झूठ है। इससे खरीद करनेवाले को वडा क्लेश होता है और वह उन पशुओ पर निर्दय वन जाता है। कोई कोई कसाई को भी वेच देते है। अतएव पशुओ के सम्बन्ध में हानि कर झूठ भी नही बोलना चाहिए।

× कन्यालीक में सभी द्विपद—मनुष्य, गवालीक में सभी चौपद और भूमालिक में सभी अपदों का ग्रहण होता है (सम्बोध प्रकरण)

३ भूम्यलीक—भूमि सबधी झूठ बोलना। दूसरो की भूमि को अपनी बतलाना या दूसरो की भूमि को अपने किसी रागी की भूमि बतलाना। यही बात घर, खेत बाग, बगीचे आदि के विषय में है। भूमि सबधी झूठ बोलने में यह अर्थ भी है कि 'क्षार युक्त भूमि अथवा खराब भूमि को अच्छी बनाकर किसी के गले मढ. देना, इससे लेने वाला दुखी हो जाय। इस प्रकार का झूठ भी त्याज्य है। यहा भूमि से उत्पन्न धान्यादि और धातु आदि का भी समावेश हो सकता है।

४ न्यासापहार—किसी की धरोहर रखकर बदलजाना और झूठ बोलना। स्वार्थान्धता के कारण यह झूठ बोला जाता है और इसका परिणाम भी भयकर होता है। अतएव ऐसा झूठ भी त्याज्य है।

५ कूटसाक्षी—झूठी गवाही देकर किसी निरपराध को फँसाना, किसी का अहित कर देना। यह भी बडा झूठ है।

बडे झूठ के ये पाँच प्रकार—पूर्वाचार्यो ने बतलाये है। ऐसे झूठ कि जिनसे किसी प्राणी का विशेष अहित हो, वे सभी बडे झूठ में आ जाते है, और ऐसे झूठ के श्रावक के त्याग होते है। किसी का भी अहित नही हो, किन्तु किसी प्राणी की प्राण रक्षा होती हो, तो ऐसा झूठ बोलने में श्रावक लाचारी समझता है। इस व्रत के पाँच अतिचार भगवान् ने बतलाये है, जो इस प्रकार है।

१ सहसाभ्याख्यान—किसी पर बिना विचारे कलक लगाकर झूठे दोष मढ़ना।

२ रहस्याभ्याख्यान—किसी के मर्म—गुप्त भेद को प्रकट करना।

३ स्वदारमन्त्र भेद—अपनी पत्नी की गुप्त बातों को प्रकट करना।

४ मृषोपदेश—असत्य सिद्धातो का उपदेश करना, विषय वर्धक प्रयोग बताना, झूठ बोलकर ठगने को प्रेरित करना और ऐसी बाते बताना कि जिससे दूसरे लोग महान् आरम्भ परिग्रह तथा विषय कषाय में प्रेरित हो।

५ कूटलेख करण—झूठे दस्तावेज बनाना, जाली लेख बनाना, नकली बहियाँ तय्यार करना, लिखे हुए को मिटाकर नये जाली अक बना देना। नकली हस्ताक्षर बनाना और नकली मुहर आदि लगाना ये सब त्याज्य है।

तात्पर्य यह कि उन सब झूठों को त्याग देना चाहिए, जिससे असत्य त्याग व्रत मलिन होता हो। और दूसरो के लिए अहितकर प्रमाणि होता हो।

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत

वैसे तो बिना दिया हुआ एक तिनका लेना भी अदत्तादान है, किन्तु इस प्रकार का सर्वथा अदत्त त्याग तो महाव्रतो के पालक अनगार ही कर सकते है। श्रावक तो स्थूल अदत्तादान का ही त्याग कर सकते है।

जिस वस्तु का स्वामी दूसरा हो, जो कही सुरक्षित स्थान पर रखी हो, या कही रास्ते मे गिरी हुई पडी हो,या कोई कही भूल गया हो, ऐसी बडी वस्तु कि जिसके बिना आज्ञा के उठाने का न्याय से अधिकार नही हो, जिसका लेना लोक विरुद्ध तथा न्याय के प्रतिकूल हो, ऐसी वस्तु को लेना स्थूल अदत्तादान है। ऐसी वस्तु लेते समय लेनेवाले के भाव भी बुरे हो जाते है। इस प्रकार का बडा अदत्ता-दान पूर्वाचार्यों ने पाँच प्रकार का बताया है।

१ दीवाल अथवा भित्ति में खात देकर माल चुराना।
२ गाठ तोडकर, खोलकर अथवा जेब काटकर चोरी करना।
३ दूसरी कूची लगाकर ताला खोलकर, या ताला तोडकर माल निकालना।
४ पथिको को लूटना।
५ दूसरो की गिरी या भूली हुई वस्तु को अपनी बतलाकर लेना।

इस प्रकार की बडी चोरियाँ न्याय नीति के भी विरुद्ध है। ऐसे अदत्त लेनेवाले की आत्मा भी वहुत सक्लेश मय होती है। इसलिए श्रावक को तो इस प्रकार के सभी अदत्तादान का त्याग ही करना चाहिए।

इस अदत्त त्याग व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ स्तेनाहृता—चोरी की वस्तु खरीदना, या वैसे ही लेकर रखना। चोरी की वस्तु बहुमूल्य हो तो भी अल्पमूल्य में ली जाती है। इसी स्वार्थ के कारण चोरी की वस्तु खरीदी जाती है। चुराई हुई वस्तु—जानते हुए भी खरीदना, चोरी को प्रोत्साहन देना है। इसलिए अदत्त त्याग व्रती श्रावक,चोरी की वस्तु नही खरीदे। इससे उसका गार्हस्थ्य जीवन भी नीतिमय एव सुख पूर्वक चलता है और वह राज दण्ड से भी वच जाता है।

२ स्तेन प्रयोग—चोर को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, उसे सहायता देना और चोरी मे उपयोग आनेवाले साधन देना—दूसरा अतिचार है।

३ विरुद्ध राज्यातिक्रम—शत्रु राज्यो,देशो—जिनके राज्यो मे आना जाना तथा व्यापार करना, राज्य की ओर से वन्द कर दिया गया है। उस राजाज्ञा का अतिक्रम कर शत्रु देशो मे जाना आना या से व्यापारादि करना।

राज्य की ओर से जिन बुराइयों का निषेध कर दिया है, उन्हें अपनाना भी इस अतिचार का अर्थ होता है।

४ **कूटतुला कूटमान**-तोल और नाप के साधन खोटे रखना, जिससे लेते समय अधिक तोल में और नाप में लिया जा सके, और देते समय कम तोल नाप का उपयोग किया जा सके। इस प्रकार की ठगाई श्रावक को नहीं करनी चाहिए।

५ **तत्प्रतिरूपक व्यवहार**-अच्छी वस्तु में वैसी ही बुरी वस्तु मिला देना। सौदा करते समय अच्छी चीज दिखाना, किन्तु देते समय उसी प्रकार की हल्की-कम मूल्य की वस्तु देना अथवा असली बताकर वैसी ही नकली वस्तु देना। यह विश्वासघात भी है। इस दोष से भी दूर ही रहना चाहिए।

तीसरे व्रत को शुद्धता पूर्वक पालने के लिए उन सभी दोषों से बचना चाहिए कि जिनमें अदत्त त्याग के भाव दूषित नहीं हो।

अदत्त त्याग व्रत के जो नियम और अतिचार बताये हैं, वे तो मोटे हैं। उस हद तक तो किसी को नहीं जाना चाहिए, किन्तु धर्म को विचार कर अधिकाधिक ईमानदारी से व्यवहार करना चाहिए। किसी की पीठ ताक कर (छुपाकर) तो एक पाई भी नहीं लेनी चाहिए। साधारण नीतिमान् भी ऐसा करता है तब श्रावक को तो अधिक निःस्वार्थ वृत्ति अपनानी चाहिए।

स्वदार-संतोष व्रत

श्रावक का चौथा अणुव्रत स्थूल मैथुन त्याग विषयक है। यदि श्रावक समर्थ है, तो वह मैथुन का त्रिकरण त्रियोग से भी त्याग कर सकता है, किन्तु इतनी योग्यता नहीं हो, तो 'स्वदार संतोषव्रत' ग्रहण करता है और अपनी कामेच्छा को अपनी विवाहिता स्त्री तक सीमित रखकर शेष स्थूल मैथून का त्याग कर देता है।

स्वदार=जिसके साथ नियम पूर्वक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ हो, वह स्वदार कहलाती है। उसके सिवाय शेष स्त्रियों तथा तिर्यंच स्त्रियों में त्याग होता है।

यदि यह व्रत कुमार और कुमारिका लें, तो उनके लिए विवाह काल तक मैथुन सेवन के सर्वथा त्याग किये जाते हैं और जिन्हें गृहस्थवास में रहते हुए जीवन पर्यन्त विवाह नहीं करना हो-ऐसे आजीवन ब्रह्मचारी, विधुर या विधवा को भी जीवन पर्यन्त मैथुन के त्याग होते हैं, फिर उसमें 'स्वदार संतोष' अथवा 'स्व पति संतोष' मर्यादा रखने की आवश्यकता नहीं रहती। करण योग, योग्यतानुसार रखे जा सकते हैं।

'स्वदार संतोष व्रत' में दो विकल्प होते है। एक तो वर्तमान विवाहित पत्नी के अतिरिक्त मैथुन सेवन का त्याग और दूसरा जिनके साथ विवाह हो, उसके अतिरिक्त मैथुन के त्याग। इसमें वर्त्तमान और भविष्य में शादी हो, तो उसके लिए भी अवकाश रहता है। दूसरा विकल्प पहले की अपेक्षा नीची कोटि का है।

आवश्यक चूर्णि में व्रतधारण करनेवालों की अपेक्षा से 'स्वदार संतोष' व्रत के साथ 'परदार त्याग' व्रत को भी स्वीकार किया है। इस त्यागवाले के 'पर' अर्थात् दूसरे पति की पत्नी, के साथ गमन करने का त्याग है—स्वतन्त्र नारी का त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्याग महत्त्व हीन—जघन्य कोटि के होते है।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ इत्वरिका परिगृहीता गमन—नियम पूर्वक विवाह हो जाने पर भी यदि पत्नी, छोटी उम्र की हो, भोगकाल को प्राप्त नहीं हुई हो, तो उसके साथ गमन करना, अपने व्रत को दूषित करना है।×

२ अपरिगृहीता गमन—योग्य वय होने पर भी यदि केवल वाग्दान=सगाई ही की हो और नियमानुसार लग्न नहीं हुए हों, तो ऐसी अपरिगृहिता से गमन करना, अपने व्रत को मलिन करना है।

३ अनंगक्रीड़ा—काम सेवन के स्थान अंग के अतिरिक्त अन्य अंग से क्रीड़ा करना। यह काम की प्रबलता से होता है। त्याग के दिनों में स्वस्त्री के साथ या पर स्त्री के साथ मैथुन सेवन का त्याग होता है। इससे बचने के लिए अनंग क्रीडा करे, तो यह अतिचार लगता है। हस्त मैथुन आदि का इसमें समावेश होता है।

४ पर विवाह करण—अपना और अपनी संतान तथा आश्रित संबंधी के अतिरिक्त दूसरों के विवाह करवाना चौथा अतिचार है। मैथुन में प्रवृत करने की भावना, व्रत को दूषित करती है।

५ काम भोग तीव्राभिलाष—काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना। स्व—पत्नी के साथ भी भोग में अति आसक्त होकर वाजीकरणादि के द्वारा काम क्रीड़ा में विशेष रूप से प्रवृत्ति करना भी व्रत को दूषित करना है।

काम भोग की प्रवृत्ति पाप रूप है और सर्वथा त्याज्य है, किन्तु वेदोदय को सहन करके विफल

× कुछ ग्रंथों में इस अतिचार का अर्थ यों किया है कि—"स्वामित्व हीन—स्वाधीन स्त्री को द्रव्यादि से वशीभूत करके, कुछ काल के लिए अपनी बनाकर उससे गमन करे," तो यह अतिचार है, किंतु यह अर्थ व्रत की भावना के उतना अनुकूल नहीं, जितना पहले दिया हुआ अर्थ है।

दूसरे अतिचार का अर्थ भी कुछ ग्रंथों में 'वेश्या, अनाथा, विधवा, कन्या आदि से गमन करना लिखा है।

करनें की शक्ति नही हो, तो वासना को सीमित करने के उद्देश्य से और अनीति से बचने के लिए वैवाहिक सम्बन्ध किया जाता है। इनमे भी वासना को घटाने का लक्ष रहे, तो व्रत निर्मल रहता है।

इच्छा परिमाण व्रत

परिग्रह की लालसा को मर्यादित करना पाँचवा अणुव्रत 'इच्छा परिमाण व्रत' है। बाह्य परिग्रह नव प्रकार है। जैसे–

१ क्षेत्र–खेत, बाग, बगीचे आदि। २ मकान आदि ३ चांदी ४ सोना ५ धन (जो गिनती, तोल, नाप, और परख कर जाना जा सके) ६ धान्य (सभी प्रकार के धान्य, बीज, तिलहनादि) ७ द्विपद (दास दासी) ८ चतुष्पाद (गाय, बैल, भैंस घोडे आदि) ९ कुप्य (तांबा, पीतल, कांसा आदि धातु के पात्र तथा अन्य वस्तुएँ)। इनमे वाहन, बिस्तर, फर्निचर आदि का भी समावेश हो जाता है। साधारण तया जितनी भी पौद्गलिक ग्रहण योग्य वस्तुएँ है, वे सभी इस व्रत के विषय है। इन सबका परिमाण करके–परिग्रह की मर्यादा करके विशेष की इच्छा का त्याग कर देना ही इस व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत के भी पांच अतिचार इस प्रकार है।

१ क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम–अपनी व्रत मर्यादा का ध्यान नही रखकर अनुपयोग से क्षेत्र वस्तु मर्यादा का उल्लघन करना। (यदि जानबूझकर उल्लघन करे, तो वह अनाचार हो जाता है) अथवा बढी हुई जमीन को पूर्व के खेत या घरमे मिलाकर खेत तथा घर की सख्या उतनी ही रहने से (यद्यपि लम्बाई चौडाई बढा दी गई) देश भग रूप अतिचार है।

२ हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम–चाँदी, सोना और इनसें बने हुए गहने इसी प्रकार हीरा, पन्ना मोती आदि और इनके आभूषणो के परिमाण का अतिक्रम करना।

३ धन धान्य प्रमाणातिक्रम–धन और धान्य के परिमाण का उल्लघन करना।

४ द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम–दास दासी और पशुओ के परिमाण का उल्लघन करना।

५ कुप्य प्रमाणातिक्रम–धातुओ के बर्तन, बिछौने, ओढने, पलग, आसन, कम्बलादि के परिमाण का अतिक्रमण करना।

यह व्रत लोभ सज्ञा को घटाकर सीमित करने के लिए है। यदि इस उद्देश्य को भुलाकर सग्रह बढाने की भावना से व्रत मे रास्ते निकाल कर सग्रह बढाया जाय, तो उसमे व्रत की भावना सुरक्षित नही रहती। अनुपयोग से मर्यादा से अधिक वस्तु आजाय, वहा तक ही अतिचार है, यदि जान

बूझ कर अधिक रखा जाय तो वह अतिक्रम (इच्छा मात्र) नही रह कर अनाचार होकर व्रत भग हो जाता है ।

कई वन्धु मर्यादा से अधिक परिग्रह प्राप्त होने पर उसे पुत्र, पत्नी आदि के नाम पर अथवा भावी खर्च के लिए अलग रख छोड कर, अपने व्रत को सुरक्षित मानते है, किंतु यह चाल व्रत की निर्दोषता के अनुकूल नही है ।

व्रत लेते समय जितना परिग्रह हो, उसमे से कम करना, विरति का उत्तम प्रकार है । जितना है उतना ही रखकर आगे के लिए त्याग करना मध्यम प्रकार है और जितना है, उससे अधिक मर्यादा वनाना जघन्य प्रकार है । फिर रखी हुई अधिक मर्यादा से द्रव्य वढजाय और उसे रखने के लिए नये वहाने वनाये जाय, तो यह व्रत की निर्मलता के अनुकूल तो नही है ।

(ठाणाग ५—२, उपासकदशा १, आवश्यक आदि)

श्रावक के तीन गुणव्रत

श्रावक के पाच अणुव्रत 'देश मूल गुण प्रत्याख्यान' है और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत और अतिम सलेखना 'देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान' है (भग० ७—२) छठे से लगाकर आठवे व्रत को गुण—व्रत माना है । ये गुणव्रत, अणुव्रतो में विशेष गुण उत्पन्न करते है । जैसे कि छठे दिशा परिमाण व्रत मे मर्यादित भूमि के वाहर हिंसादि पाचो प्रकार के पाप का सेवन रुक जाता है, सातवे में उपभोग परि—भोग की रखी हुई मर्यादा से वाहर रही हुई वस्तुओ का त्याग होता है और आठवे में इनमें भी अनर्थ दड का त्याग होता है । इसलिए इनकी गुणव्रत सज्ञा यथार्थ है ।

कई जीव अपने क्षयोपशमानुसार एकमूल गुण को स्वीकार करते हैं और कई दो, तीन, चार और पाँचो को । कई केवल मूल गुणो को ही स्वीकार करते है और कई बिना मूल गुणो के किसी उत्तर गुण का पालन करते है । विना मूल गुण के भी उत्तर गुण के प्रत्याख्यान हो सकते है । और ऐसे उत्तर गुण प्रत्याख्यानीजीव मूल गुण प्रत्याख्यानी से असख्य गुण अधिक होते है (भग० ७—२)

दिशा परिमाण व्रत +

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व और अधो—इन छहो दिशा में जाने आने की मर्यादा करके उनसे आगे जाकर हिंसा मृषादि पाप सेवन का त्याग करना—प्रथम गुणव्रत है।

इस व्रत को दूषित करने वाले नीचे लिखे पाच अतिचार भी त्यागने योग्य है।

१ **ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम**--ऊँची दिशा के परिमाण का उल्लघन करना।

२ **अधोदिशा परिमाणातिक्रम**--नीची दिशा के परिमाण का उल्लघन करना।

३ **तिर्यक्दिशा परिमाणातिक्रम**--पूर्वादि चारो दिशा की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

४ **क्षेत्रवृद्धि**--एक ओर की दिशा कम करके दूसरी ओर की दिशा को बढाना।

५ **स्मृति भ्रंश**—गमन करते समय अपने व्रत के परिमाण का याद नही रह कर सन्देह होना कि 'मैने कितने योजन का परिमाण किया है, सौ योजन का या पचास का" ? इस प्रकार सन्देह होने पर पचास योजन से आगे जाना।

उपरोक्त पाचो अतिचार अनुपयोग से लगने पर ही अतिचार है, जानबूझ कर परिमाण का उल्लघन किया जाय तो वह अतिचार नही, किंतु अनाचार होकर व्रत को भग कर देता है।

इस प्रथम गुणव्रत के द्वारा श्रावक, असख्यात योजन प्रमाण लोक में की खुली हुई सावद्य प्रवृत्ति को थोडे से क्षेत्र में सीमित करके शेष को बद कर देता है। उस के आश्रव का असख्यातवाँ हिस्सा शेष रहकर असख्य गुण क्षेत्र की लगती हुई क्रिया रुक जाती है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत

दूसरे गुण व्रत का नाम 'उपभोग परिभोग × परिमाण' व्रत है। दिशागमन परिमाण के बाद मर्यादित भूमि में रही हुई उपभोग परिभोग जन्य वस्तुओ का परिमाण करना और परिमाण के बाहर रही हुई वस्तुओ के भोगोपभोग का त्याग, इस व्रत के द्वारा होता है।

+ उववाई सूत्र में अनर्थदण्ड त्याग पहला गुणव्रत है और दिशापरिमाण दूसरा तथा उपभोग परिभोग तीसरा है।

× उपभोग परिभोग के स्थान में कहीं कहीं भोगोपभोग शब्द आता है। इसका अर्थ यह है-भोग—जो वस्तु एक बार भोगने में आवे। उपभोग—जो वस्तु बारबार भोगने में आवे।

उपभोग—भोजन, पानी, पक्वान्न आदि एकवार भोगने मे आवे वह।

परिभोग—घर, वस्त्र, आभूषण, आसन आदि जो वार वार भोगने मे आते रहे।

भोगोपभोग योग्य वस्तुएँ निम्न २६ प्रकार की बनाई गई है।

१ उल्लणियाविहि—गीले शरीर को पोछने के अगोछे आदि का परिमाण।

२ दन्तणविहि—दतौन—दाँत साफ करने के साधनो की मर्यादा।

३ फलविहि—मस्तक धोने के लिए आँवला आदि फलो की मर्यादा।

४ अब्भंगणविहि—शरीर पर मालिश करने के तैल आदि का परिमाण।

५ उवट्टणविहि—शरीर पर उवटन करने की पीठी आदि की मर्यादा।

६ मज्जणविहि—स्नान का और उसके लिए जल का परिमाण करना।

७ वस्त्रविहि—पहनने के वस्त्रो की मर्यादा।

८ विलेपनविहि—चदन, केसर आदि विलेपन का परिमाण।

९ पुप्फविहि—पुष्पो के उपभोग की मर्यादा करना।

१० आभरणविहि—आभूषणो की मर्यादा करना।

११ धूवविहि—सुगन्धि के लिए धूप का उपयोग करने की मर्यादा।

१२ पेज्जविहि—पेय पदार्थों की मर्यादा।

१३ भक्खणविहि— भोजन में आने वाले पक्वान्न की मर्यादा।

१४ ओदणविहि—पके हुए चावल खिचडी आदि का परिमाण।

१५ सूपविहि—अरहर, मूग, उडद आदि की दाल का परिमाण।

१६ विगयविहि—घृत, तेल, आदि विगय का परिमाण

१७ सागविहि—भींडी, तोरई आदि शाक का परिमाण।

१८ माहुरविहि—पके हुए रसीले फलो की तथा सूखे फलो की मर्यादा।

१९ जेमणविहि—भोजन के पदार्थो की मर्यादा।

२० पाणीयविहि—पीने के पानी का परिमाण।

२१ मुखवासविहि— * मुख को सुगन्धित करने के लिए एव मुख शुद्धि के लिए खाये जाने वाले

---

* उपासकदशा में ये २१ प्रकार ही उपभोग, परिभोग के लिखे हैं। श्रावक के आवश्यक में २६ हैं।

लोंग इलायची आदि का परिमाण।

२२ वाहणविहि—वाहन, घोड़ा, गाड़ी, साइकल, मोटर आदि जिनपर सवार होकर भ्रमण अथवा प्रवास किया जाय, उनकी मर्यादा।

२३ उवाणहविहि—पाँव में पहनने के जूते, मौजे, चप्पल, खड़ाऊ आदि का परिमाण करना।

२४ सयणविहि—सोने के पलग, बिस्तरे आदि का परिमाण।

२५ सचित्तविहि—खाने पीने और अन्य उपयोग मे आने वाली सचित्त (सजीव) वस्तुएँ - जैसे फल, बीज, पानी, ताम्बूल, दतून, पुष्प, आदि वस्तुओं का परिमाण करना।

२६ दव्वविहि—खाने, पीने, के द्रव्यो की मर्यादा करना।

उपरोक्त २६ बोलो मे उपभोग परिभोग की प्राय सभी वस्तुएँ आ जाती है। जो इस व्रत को धारण करते है, उनका जीवन बहुत ही सात्विक हो जाता है। कुछ ग्रथो मे इन छब्बीस बोलो के बदले चौदह नियम दिये गये ◎ है। उपरोक्त २६ बोलो का समावेश इन चौदह नियमो में भी हो जाता है, किंतु चौदह नियम का सम्बन्ध, दूसरे गुणव्रत की अपेक्षा दूसरे शिक्षाव्रत मे अधिक सगत लगता है, क्यो कि गुणव्रत जीवन भर के लिए है और चौदह नियम दिन रात भर के लिए। अतएव इसका उल्लेख दशवें व्रत में किया जायगा।

इस व्रत के अतिचार दो प्रकार के है एक तो भोजन सम्बन्धी और दूसरे कर्म (आजीविका) संबधी।

भोजन संबधी अतिचार इस प्रकार है।

१ सचित्ताहार—त्यागी हुई सचित्त वस्तु का भूल मे अथवा परिमाण मे अधिक आहार करना। यह उपयोग शून्य होकर करे तभी अतिचार है, अन्यथा जानबूझ कर करने मे अनाचार हो जाता है।

२ सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त वृक्ष मे लगा हुआ गोंद अथवा सचित्त बीजसे सबंधित अचित्त फल आदि खाना।

३ अपक्व औषधि भक्षण ※—जिन वस्तुओ को पकाकर खाया जाता है, उन्हे कच्चा ही

◎ पू० श्री आत्मारामजी म० सा. (भू पू. उपाध्याय) ने अपनी 'जैनतत्त्वकलिकाविकास' मे दूसरे गुणव्रत मे इन चौदह नियमों को दिया है।

※ 'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र' के वृत्तिकार श्री श्रीचन्द्राचार्य अपक्व धान्यादि का अर्थ इस प्रकार बताते हैं, जैसे—"शालिगोधूमादिधान्यरूपाया भक्षणता भोजनमतिचार। इद मुक्तं भवति-पिष्टत्वादचेतनमिदमिति सम्भावनया सम्भव त्सचितावयवं वन्हय संस्कृतं सद्य पिष्टकणिक्वादिकं भक्षयतो ऽतिचार।

खाना, जैसे—शालि, चनें, तरोई, भिंडी आदि ।

४ दुष्पक्व औषधि भक्षण—बुरी तरह से पकाई हुई, होला, भुट्टे आदि की तरह मिश्र (अर्ध-पक्व) हो उसे खाना । ये अतिचार सचित्त के त्यागी को लगते हैं ।

५ तुच्छौषधि भक्षण—असार वस्तु—जिसमें खाना कम और फेकना अधिक हो ऐसे—गन्ना, सीताफल, वेर, आदि खाना । ये भोजन सबधी पाच अतिचार हैं । कर्म सबधी पन्द्रह अतिचार इस प्रकार हैं ।

१ अंगार कर्म—अग्नि के प्रयोग से आजीविका करना अगार कर्म है । जैसे कोयला बनाना, ईंट, चूना, सिमेंट मिट्टी के बर्तन आदि बनाना, भट्टी के काम—लोहारपना आदि करना, इससे अग्नि का अति आरभ होता है ।

२ वन कर्म—वन कटवा कर आजीविका करना । जगल के ठेके लेना, लकडी काटकर अथवा कटवा-कर वेचना, पत्तो को तुडवाकर वेंचना' पुष्प, फल, कन्दादि से . अथवा वन काट कर साफ करने का धन्धा करना ।

३ शकट कर्म—गाडी, इक्के, बग्घी, रथ, नाव, जहाज, मोटर आदि बनाकर वेचना, और इस प्रकार आजीविका करना ।

४ भाटि कर्म—गाडी, घोडे, ऊँट, बैल, मोटर आदि और यन्त्रादि भाडे चला कर उससे अपनी आजीविका करना ।

५ स्फोटक कर्म—सजीव वस्तु को तोड फोड और खोद कर आजीविका चलाना । जैसे—हल कुदाली आदि से भुमि फोडकर आजीविका करना । कूएँ, तालाव आदि खोदकर, खाने खोद कर, पत्थर निकाल कर आजीविका करना, धान्य की दाले बनाकर, आटा पिसवाकर और चावल बनाकर वेचनें का धन्धा करना + ।

६ दन्तवाणिज्य—दात का व्यापार करना । हाथी दात, शख, केश, नख चर्म आदि तथा त्रस जीवो के अवयवो का व्यापार करना ।

७ लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यापार करना, क्योकि इसमे त्रस जीवोकी भी घात होती है ।

+ श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति में श्री श्रीचन्द्राचार्य ने लिखा कि—"स्फोटी कर्म उड्ड (त्तणगं) त्वं, यद्वा हलेन कुद्दालादिना वा भूमिदारणेन जीवनम् यवादि धान्यानां सक्त्वादेः करणेन विक्रयोवा । "जव-चणया-गोहुम-मग्ग-मास-करटिप्पभीण धन्नाणं । सत्तुय दालिकणिक्कातंदुल करणाई फोड— णयं" ॥ ६१ ॥

इस भेद में उन सभी व्यापारों को गर्भित करलेना चाहिए—जिसमें त्रस जीवो की घात होती हो, जैसे गोद, कनुंवा, मनशील हरिताल, साबुन, सोडा, खार, आदि।

८ रस वाणिज्य—रसवाली वस्तुओ का व्यापार करना, जैसे—मदिरा, मक्खन, घृत, मधु, गुड, तैल आदि।

९ विष वाणिज्य—अफीम, संखिया आदि जहरीले पदार्थ, कि जिनसे प्राणान्त हो जाता हो। तलवार, बन्दूक, छुरी आदि शस्त्र और बारुद आदि भी इस भेद में सम्मिलित है।

१० केशवाणिज्य—केश वाले जीव—दास, दासी, गाय, बैल, भैंस, घोडा, आदि का व्यापार करना।

११ यन्त्रपीडन कर्म—तिल, गन्ना, कपास आदि पिलवाना, पनचक्की, घानी, मिल आदि के कारखाने से आजीविका करना।

१२ निर्लाञ्छन कर्म—बैल, घोडा आदि पशुओ को अथवा मनुष्य को खसी (नपुंसक) बनाने का कार्य।

१३ दवाग्नि दापन कर्म—जगलो अथवा खेतो में आग लगाना।

१४ सरद्रह तालाब शोषण कर्म—जलाशयो को सुखाने का कार्य करना।

१५ असतीजन पोषण कर्म—आजीविका के लिए दुराचारिणी स्त्रियो को तथा पशुओं को मारने के लिए शिकारी कुत्तो आदि रखकर आजीविका करना।

उपरोक्त पद्रन्ह प्रकार के आजीविका के कार्य श्रावक के लिए करने योग्य नही है। क्यो कि इनमें जीव घात अधिक होती है और ये धन्धे जघन्य कोटि के भी है। श्रावक को जहा तक हो, वहा तक अल्प आरभ वाले धन्धे से ही आजीविका करनी चाहिए। इस प्रकार वह ससार में रहते हुए भी भारी कर्म बन्धन से आत्मा को बचाता हुआ जीवन यापन करे। उत्तम श्रावक के व्यापार, लेन देन अथवा उद्योग में अहिंसादि उत्तम भावना तथा विरति तभी कायम रह सकती है, जब कि वह स्वार्थ भावना को कम करे।

अनर्थदण्ड त्याग व्रत

तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड त्याग रूप है। आत्मा दो प्रकार के दण्ड से दण्डित होती है—एक तो अर्थदण्ड से और दूसरा अनर्थदण्ड से।

अर्थदण्ड—अपने, अपने कुटुम्ब, आश्रित अर्थात् उत्तदायित्व के पालन करने में, गृहस्थ को सावद्य प्रवृत्ति करनी पडे, वह सप्रयोजन होने से अर्थदण्ड है।

अनर्थदण्ड—विना कारण, निष्प्रयोजन सावद्य प्रवृत्ति करना। जहा कोई उत्तरदायित्व नही, अधिकार नही, अथवा जिन विषयो से उसका सबध नही, इन विषयो मे रस लेकर सावद्य प्रवृत्ति करना अनर्थदड है।

निर्ग्रंथ साधु के तो अर्थदण्ड के भी सर्वथा त्याग होते है और श्रावको के अनर्थदण्ड के। यह अनर्थदण्ड निम्न चार प्रकार का होता है।

१ अपध्यानाचरण—अनुकूल सयोगो के प्राप्त होने पर खुशी से फूल जाना, अभिमान करना और प्रतिकूल सयोग मिलने तथा अनुकूल के विछुडने पर खिन्न होना, रुदन करना, इस प्रकार आर्त्त ध्यान करना और किसी पर क्रुद्ध होकर उसको हानि पहुँचाने— अनिष्ट करने, किसी को मारने आदि दुष्ट विचार करना रौद्र ध्यान है। दोनो प्रकार का ध्यान करना अपध्यानाचरण रूप अनर्थदण्ड है। क्यो कि अपध्यान के करने से कोई लाभ तो होता ही नही। इसलिए यह अनर्थदण्ड है। यह बुरी आदत से होता है।

२ प्रमादाचरण अनर्थदण्ड—प्रमाद का आचरण करना, मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा रूप प्रमाद सेवन करना। फुरसत के समय ताश, चौपड आदि खेलना, हँसी मजाक अथवा व्यर्थ की गप्पे लडाना, नाटक सिनेमा आदि देखनें में समय गँवाना, किंतु वह समय धर्म ध्यान मे नही लगाना। यह प्रमादा चरण नाम का अनर्थदण्ड है। आलस्य से घी, तैल आदि के वर्तनो को उघाड़े रखना भी अनर्थदड है।

३ हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड—जिन वस्तुओ के देने से हिंसा की निष्पत्ति होती है, जिन साधनो से आरभ होता है, ऐसे—हल, मूसल, छुरी, तलवार आदि, भले वनने के लिए देना, किसी को अग्नि या अग्नि के साधन आदि देना, इत्यादि कार्य—हिंसा प्रदान अनर्थदण्ड है।

४ पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड—दाक्षिण्यता वश होकर दूसरो को पाप मूलक उपदेश देना, जैसे कि—'तुम्हारी लडकी या लडके की शादी क्यो नही कर देते ? तुम्हारी गाय का बछडा वडा हो गया है, अब इसे गाडी में क्यो नही चलाते। इस जमीन पर खाली घास ही होती है, इसलिए इसपर खेती

करो, तुम्हे वहुत लाभ होगा। वैलो के नाक में नाथें डालो। इस पुराने मकान को गिरा कर नया वनालो। अभी सामान और मजदूरी भी सस्ती है। इत्यादि अनेक प्रकार मे व्यर्थ ही पापकारी सलाह देकर अनर्थदण्ड करना।

ये मव अनर्थदण्ड के कारण हैं। अर्थदण्ड से गृहस्थ सर्वथा नही वच सके तो यह विवशता है, किंतु अनर्थदण्ड मे तो उपयोग रखने पर बचा जा सकता है। यदि अनर्थदण्ड से वचाव हो सके, तो भी वहुत वचाव हो सकता है।

इस व्रत के नीचे लिखे पाँच अतिचार है।

१ **कन्दर्प**—काम उत्पन्न करने वाली वाते करना, वैसी कथा कहना, मोह को वढाने वाली मजाक आदि करना, मुख नेत्र आदि से विकार वर्धक कुचेष्टा करना।

२ **कौत्कुच्य**—भांडो और नक्कालो की तरह हाथ, मुँह, नेत्र आदि विकृत वना कर दूसरो को हँसाने का प्रयत्न करना।

३ **मौखर्य**—धीठता पूर्वक वाचालता करना, असवद्ध वचन बोलना, काम वर्धक अथवा क्लेशवर्धक वचन वोलना।

४ **संयुक्ताधिकरण**—अधिकरण (शस्त्र) को सयुक्त करना। जैसे—ऊखल और मूमल का संयोग मिलाना, शिला और लोढा, हल और उसका फाल, गाडी और जूआ, धनुप और वाण को साथ रखना, तलवार, छुरी आदि काम लायक नही हो, तो उन्हे सुधरा कर काम लायक करना, कुल्हाडी, फरशी, वरछी आदि मे डडा लगाकर तय्यार करना, आदि।

५ **उपभोगपरिभोगातिरिक्त**—उपभोग परिभोग की सामग्री विशेष रूप से वढाना मोहक चित्र खेल के साधन, गान तान के उपकरण और विकार वधक वस्तुएँ बढाना आदि। जिन कारणो से विकार वढकर अपध्यानादि अनर्थदण्ड में प्रवृत्ति हो, उन सव कारणो से वचना—इन अतिचारो का उद्देश्य है। जो अनर्थदण्ड से वचता है, वह आत्मार्थी श्रावक, अपना कल्याण साधने मे तत्पर होता है।

श्रावक के चार शिक्षा व्रत

आत्माको विशेष उन्नत वनाने के लिए जिन व्रतो का वार वार पालन किया जाय और जो ध्येय प्राप्ति में विशेष सहायक होते है, तथा जिनसे अनगार धर्म की शिक्षा मिल सके, उन्हे 'शिक्षा व्रत' कहते है। अणूव्रत और गुणव्रत तो जीवन भर मतत पालन किये जाते है, किन्तु शिक्षाव्रत यथा—

शक्य अमुक समय पालन किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं। यथा—१ सामायिक २ देशावकाशिक ३ पौषधोपवास और ४ अतिथि सविभाग व्रत। इनका क्रमश वर्णन किया जाता है।

मा
लो

सामायिक व्रत

औ
'सम'=रागद्वेष की विषमता रहित—सम भाव का 'आय'=लाभ, अर्थात्—समभाव की प्राप्ति, अथवा—समभाव पूर्वक ज्ञानादि की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं।

ना
आत्मा में होती हुई विषय कषाय की विषम परिणति को हटाकर धर्म ध्यान के अवलम्बन से समभाव जगाना—सामायिक है। जिस आत्मा की सावद्य प्रवृत्ति बद होकर ज्ञान, दर्शन, और चारित्र रूप निरवद्य प्रवृत्ति विद्यमान है, वह व्यवहार सामायिक व्रत की पालक है। निश्चय से तो पर लक्ष से हटकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करनेवाली आत्मा स्वयं सामायिक रूप है। जहाँ विभाव दशा छूटी और स्वभाव में स्थिरता हुई अर्थात् आत्मानन्द मे लीनता आई कि आत्मा स्वय सामायिक रूप बन जाती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यवहार सामायिक की जाती है।

पूर
से
पौ
के
स्र

व्यवहार सामायिक चार प्रकार की होती हैं।

१ श्रुत सामायिक—सम्यग् श्रुत का अभ्यास करना।

२ सम्यक्त्व समायिक—मिथ्यात्व की निवृत्ति और यथार्थ श्रद्धान प्राप्ति रूप चौथे गुणस्थान की स्थिति।

३ देश विरत सामायिक—श्रावकों के देश व्रत। पंचम गुणस्थान की स्थिति।

हो
४ सर्व विरत सामायिक—साधुओ की सर्व विरति रूप महाव्रतादि छठे गुणस्थान और इससे आगे के गुणस्थान रूप। (विशेषावश्यक भाष्य गा. २६७३ से)

प्र
तात्पर्य यह है कि जैनत्व प्राप्ति रूप चौथे गुण स्थान से सामायिक का प्रारभ होकर सिद्धत्व तक उत्तरोत्तर बढती जाती है और अतमें आत्मा स्वय सामायिक मय होकर सदाकाल उसी रूप मे स्थित रहती है। वास्तव में जैनत्व की प्राप्ति और जिनत्व तथा सिद्धत्व, सभी सामायिक मय ही है। यहा जिस सामायिक का वर्णन किया जा रहा है, वह 'देश विरत सामायिक'—श्रावक का नौवाँ व्रत है।

म
द
इसकी साधना नीचे लिखी चार प्रकार की शुद्धि पूर्वक की जाती है।

द्रव्य शुद्धि—सामायिक के उपकरण—आसन, प्रमार्जनी, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि ऐसे साधन हो जो साधना के अनुकूल हो। सामायिक में ऐसी कोई वस्तु नही हो—जो राग द्वेष के उदय मे कारण

भूत बने। जैसे–विषयक वर्द्धक पुस्तके कषाय वर्द्धक समाचार पत्र, सावद्य परिणति को जगानेवाले भाव अहंकार वर्धक बहुमूल्य वस्त्राभरण।

क्षेत्र शुद्धि–स्थान एकान्त, शान्त हो, जहा सासारिक कोलाहल और राग द्वेष वर्धक दृश्य तथ शब्द से बचा जा सके। जिस स्थान पर सासारिक कोई क्रिया अथवा विचार आदि नही होते हो, जहा त्र स्थावर जीवो की बहुलता नही हो और जो खाद्य, अलकार, शस्त्र तथा शृगारादि सामग्री से रहित हो सामायिक के लिए धर्मस्थान अधिक उपयुक्त होता है।

काल शुद्धि–सामायिक, मल मूत्रादि की बाधा आदि से रहित किसी भी समय की जा सकती है सामायिक के लिए कोई भी काल अशुद्ध नही है। कोई किसी भी समय सामायिक करे और व शुद्धता पूर्वक की जाय तो हो सकती है। अतएव सामायिक अधिक से अधिक करना चाहिए। विशेष वश्यक भाष्य गा २६९० में कहा है कि–

"सामाइयम्मि उ कए, समणोइव सावओ हवई जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा"।

—सामायिक करने पर श्रावक, साधु के समान हो जाता है। इसलिए श्रावको को अधिक अधिक सामायिक करना चाहिए।

यदि किसी को दिन रात भर में थोडा सा समय धर्म करणी के लिए निकलता हो, तो उस प्रात काल का समय अति अनुकूल रहता है, क्योकि प्रात काल का समय शान्त होता है। उस सम मनुष्य का मानस और मस्तिष्क भी ठण्डा रहता है। इस समय शुभ परिणति के लिए अधिक अनुकूलत होती है। इसके बाद सध्याकाल भी लिया जा सकता है। काल नियत करने पर उसका पालन तत्परत से करना चाहिए।

सामायिक का काल दो घडी ‡ (४८ मिनट) का नियत है। कम से कम एक मुहूर्त की सामा

‡ श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि—

"मण-वय-तणुहिं करणे, कारवणम्मि य सपावजोगाणं।
जं खलु पच्चक्खाणं, तं सामाइयं मुहुत्ताई ॥१०९॥

टीकाकार श्री चन्द्राचार्य लिखते हैं कि—

"अत्र कश्चिद् ब्रूते-क्रियानिर्दिष्टकाल ? हन्त! उक्तं यावन्नियमं पर्युपासे इति नियमश्च जघन्य तोऽपि द्विघटिकामानः काल उत्कृष्ट तोऽहोरात्रमानो नियम। अतः सामायिके जघन्योऽपि घटि द्वयं स्थातव्यं अन्यथाऽतिचारः। जघन्य तो द्विघटिकः कुतो लभ्यते ? इतिचेद् उच्यते यि । हि सामायिकमसौ करोति परिणामस्तूत्पन्नो गुणस्थानकमारोहति तच्च जघन्यतोऽन्यन्तर्मुहू घटिकाद्वयमान· काल· पालनीय," इत्यादि।

यिक (दो घटी की) तो होनी ही चाहिए। यद्यपि सामायिक का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त का आगमो मे माना है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त, एक सेकण्ड से कम का भी होता है और ४८ मिनट मे एक दो समय कम का भी। पूर्वाचार्यों ने कम मे कम एक मुहूर्त का काल नियत किया है, यह उचित ही है। यदि यह नियम नही होता, तो बडी भारी अव्यवस्था होती।

भावशुद्धि-आर्त्त और रौद्र के अग ऐसे किसी भी औदयिक भाव को नही लाकर धर्मध्यान के अग ऐसे स्मरण, स्तुति, अनित्यादि भावना, शास्त्रस्वाध्याय तथा आलोचनादि शुभ भाव का अवलम्बन करके आत्मा को उज्ज्वल तथा शान्त बनाना-भाव शुद्धि है। स्वार्थ तथा प्रतिष्ठा अथवा प्रदर्शन आदि दूषित भावो को सामायिक मे आने ही नही देना चाहिए।

भावशुद्धि, उपरोक्त तीनो शुद्धि मे प्रधान है। कदाचित् प्रथम की तीन शुद्धि नही हो और भाव शुद्धि हो, तो सफलता मिल सकती है। किन्तु भाव शुद्धि के अभाव मे तीनो प्रकार की शुद्धि सफल नही हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूर्वोक्त तीनो प्रकार की शुद्धि अनावश्यक है। सरलता एव सीधा मार्ग तो चारो प्रकार की विशुद्धि युक्त ही है। अतएव द्रव्य भाव विशुद्धि पूर्वक तथा निश्चय सामायिक के ध्येय युक्त, व्यवहार सामायिक करनी चाहिए।

इस सामायिक व्रत को दूषित करनेवाले पाच अतिचार इस प्रकार है।

१ मनोदुष्प्रणिधान-मन को दुर्चिंतन मे लगा देना। घर, व्यापार, कुटुम्ब, देश तथा विषय विकार मे मन को जोडना-मन का दुष्ट प्रयोग है। पूर्वाचार्यों ने मानसिक दोष के दस भेद इस प्रकार बताये है।

१ अविवेक-सावद्य निरवद्य का विवेक नहीं रखना।

२ यशोकीर्ति-यश एव प्रतिष्ठा की इच्छा से सामायिक करना।

३ लाभार्थ-द्रव्यादि लाभ की भावना से सामायिक करना।

४ गर्व-धर्मात्मापन का गौरव रखकर सामायिक करना।

५ भय-किसी प्रकार के भय से बचने के लिए सामायिक करना।

६ निदान-सामायिक मे भौतिक फल चाहने रूप निदान करना।

७ सशय-सामायिक के फल के विषय मे शकाशील रहना।

८ रोष-रागद्वेषादि के कारण सामायिक करना अथवा सामायिक मे रागद्वेष करना।

९ अविनय-देव, गुरु और धर्म का विनय नही करना अथवा आशातना करना या विनय भाव रहित सामायिक करना।

१० अबहुमान--सामायिक के प्रति आदर भाव नही रखते हुए बेगार टालने की तरह काल पूरा करना।

उपरोक्त दस दोषो मे बचने पर मनोदुष्प्रणिधान रूप अतिचार टलता है।

२ वचन दुष्प्रणिधान–वाणि का दुरुपयोग करना। कर्कश कठोर एव सावद्य वचन बोलना। इस अतिचार के भी दस भेद नीचे लिखे अनुसार हैं।

१ कुवचन–सामायिक मे बुरे–विषय कषाय जनक अथवा तुच्छता युक्त वचन बोलना।

२ सहसाकार–बिना विचारे इस प्रकार बोलना कि जिससे किसी की हानि हो, अप्रतीति कारक हो और सत्य का अपलाप हो।

३ स्वच्छन्द–रागद्वेष वर्धक एव धर्म विरुद्ध–मनमाने वचन बोलना अथवा राग अलापना। अथवा अव्रति से अकारण बोलना।

४ सक्षेप–सामायिक के पाठ को सक्षिप्त–सकुचित करके बोलना।

५ कलह–क्लेशकारी वचन बोलना।

६ विकथा–स्त्रीकथा आदि सासारिक बाते करना।

७ हास्य–हँसी मजाक अथवा व्यग युक्त वचन बोलना।

८ अशुद्ध–गलत बोलना, शीघ्रता पूर्वक शुद्ध अशुद्ध का ध्यान रखे विना बोलना।

९ निरपेक्ष–असबद्ध, अपेक्षा रहित एव उपयोग शून्य होकर बोलना।

१० मुणमुण–स्पष्टता पूर्वक नही बोलकर गुनगुनाना।

इस प्रकार वचन सबधी दोषो को समझ कर इनका त्याग करने से वचन सबधी अतिचार नही लगता।

३ कायदुष्प्रणिधान–शरीर सम्बन्धी बुरी क्रिया करना, बिना पूंजी जमीन पर बैठना, शरीर से सावद्य क्रिया करना। इस अतिचार के बारह भेद इस प्रकार हैं।

१ कुआसन–पांवपर पांव चढाकर इस प्रकार बैठना, जिससे गुरुजनो का अविनय हो और अभिमान प्रकट हो।

२ चलासन–अस्थिर आसन, बारबार आसन बदलना।

३ चलदृष्टि–दृष्टि को स्थिर नही रखकर इधर उधर देखते रहना।

४ सावद्यक्रिया–पापकारी क्रिया करना, सकेत करना, सासारिक कार्य, अथवा घरकी रखवाली आदि करना।

५ आलम्बन–अकारण दिवाल, खभा आदि का सहारा लेकर बैठना।

६ आकुचनप्रसारण–बिना कारण हाथ पाँव फैलाना और समेटना।

७ आलस्य–आलस्य से शरीर को मोडना।

८ मोडन—हाथ पाँव की अगुलियाँ चटकाना ।

९ मल—शरीर का मैल उतारना ।

१० विमासन—गाल पर हाथ रखकर अथवा घुटनो मे सिर झुकाकर, शोक सूचक आसन से बैठना, अथवा विना पुजे खाज खुजालना ।

११ निद्रा—सामायिक में नीद लेना, ऊँघना ।

१२ वैयावृत्य—निष्कारण दूसरो से सेवा करवाना । (अथवा सर्दी लगने से अगो को विशेष रूप से ढकना—ऐसा अर्थ भी कुछ ग्रथकार करते है ।)

उपरोक्त बारह दोषो को टालते हुए सामायिक करने से 'कायदुष्प्रणिधान' अतिचार नही लगता ।

४ सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृत्ति (याद) नही रखकर भूल जाना । अन्यत्र उपयोग लगने से सामायिक की ओर उपयोग नही रहना । "मै सामायिक मे हूँ"—इस प्रकार की स्मृत्ति नही रखना । 'सामायिक का समय हो गया'—आदि अनुपयोग जन्य स्थिति होना ।

५ अनवस्थित करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना, काल पूर्ण होने के पूर्व सामायिक पार लेना । उतावल से अविधि पूर्वक पारना ।

उपरोक्त अतिचारो से वचकर सामायिक करते रहने से आत्मा हलकी होकर उन्नत होती जाती है । अधिक हो, तो अच्छा ही है, अन्यथा प्रत्येक श्रावक को नित्य एक मुहूर्त की सामायिक तो अवश्य ही करनी चाहिए ।

बहुत से भाई कहा करते है कि हमारा मन स्थिर नही रहता, अभी हममें ईमानदारी, सचाई, सेवा, आदि के भाव तो आये ही नही, फिर हम सामायिक के अधिकारी कैसे हो गये ? जब अहिंसा सत्यादि मूल व्रतो का ही पता नही, तो सामायिक जैसे उच्च व्रत की साधना की योग्यता कैसे आ सकती है ?

समाधान—१ मन स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए । यदि सामायिक के माध्यम से मन स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय, तो अभ्यास बढते बढते स्थिरता की स्थिति भी प्राप्त हो सकती है । जिस प्रकार अभ्यास करते करते मनुष्य उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार सामायिक मे अभ्यास के द्वारा क्रमश स्थिरता लाई जा सकती है । इसके लिए अवलम्बन भी कई है । स्मरण करते करते मन उचट जाय तो स्तुति, स्तोत्र, आलोचना, भावना और शास्त्र पठन श्रवण के द्वारा मन को अशुभ दिशा में जाने से रोका जा सकता है । सबसे पहले अशुभ दिशाओ में जाते हुए मन को रोककर शुभ में जोडने का ही प्रयत्न करना चाहिए । इसमें केवल दिशा बदलनी होती है । इसके बाद किसी एक

विषय पर स्थिरता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय, तो क्रमशः सफलता प्राप्त हो सकती है। उत्तम वस्
की प्राप्ति विशेष प्रयत्न से होती है। अतएव लम्बे अभ्यास से घबराने की आवश्यकता नहीं। निरन्त
प्रयास करते रहने से सफलता की शुभ घड़ी भी प्राप्त की जा सकती है।

स्थिरता का ध्येय रखकर सामायिक करने से यदि एक मुहूर्तकाल में एक मिनट भी सफल हुआ
तो ४८ सामायिक में एक मुहूर्त जितना काल सफल हो जायगा। यह सफलता भी एकदम नगण्य त
नहीं है। तात्पर्य यह कि ध्येय शुद्धि के साथ प्रयत्न करते रहने से सफलता की ओर बढा जा सकत
है।

२ ईमानदारी, सचाई, आदि शुभ गुणों का होना साधारण मनुष्य के लिए भी आवश्यक है
तब जैनी में तो ये शुभ गुण होना ही चाहिए। यदि कोई अन्य समय में ईमानदारी आदि नहीं रख सके
तो सामायिक में तो रखेगा ही। वह जितनी देर सामायिक में रहेगा, उतनी देर तो झूठ, ठगाई, बे-
मानी से बचता रहेगा। गृहस्थ जीवन में यदि वह एक मुहूर्त मात्र भी सामायिक में रहा और अभ्या
करता रहा, तो उसकी आत्मा का हित ही होगा। कम से कम एक मुहूर्त बुराइयों से बचना भी कु
न कुछ लाभ का कारण तो होगा।

अभ्यास के द्वारा अनधिकारी भी अधिकारी बन सकता है। अनधिकारियों के लिए सामायि
का अभ्यास योग्य अधिकारी बनाने का कारण हो सकता है।

३ अहिंसादि मूल व्रतों की आराधना भी अवश्य होनी ही चाहिए, किन्तु 'कोई मूल व्रतों
ग्रहण नहीं करे तो वह सामायिक का अधिकारी ही नहीं हो सकता'—ऐसा कहना उचित नहीं है,
सामायिक के पूर्व के आठ व्रत जीवन पर्यंत के लिए स्वीकार किये जाते हैं। इससे हिचकिचाकर को
एक मुहूर्त के लिए सामायिक करे, तो स्वल्पकालीन नियम होने से वह सरलता से कर सकता है, त
जिस समय वह सामायिक व्रत का पालन करता है उस समय उसके पूर्व के आठों व्रत अपने अ
पलते ही है, क्यों कि सामायिक के समय पांचों अणुव्रत और तीनों गुणव्रत पूर्ण रूप से ही नहीं ब
अधिक रूप से पलते है। उस समय वह त्रस तो क्या पर स्थावर जीव की भी हिंसा नहीं करता, छोट
झूठ भी नहीं बोलता, छोटा अदत्त भी नहीं लेता, और स्वादारा से भी मैथुन नही करता, इस प्रक
सभी व्रतों का पालन अधिक रूप से होता है। सामायिक में वह इस व्रत के योग्य ही प्रतिज्ञा करत
है, किंतु उसमें सभी व्रतों का, विशेष रूप से अपने आप समावेश हो जाता है। अतएव पृथक् से अहिं
सादि अणुव्रतों को स्वीकार नहीं करने वाला भी सामायिक कर सकता है और उससे उस सम
पूर्वक के सभी व्रत पलते हैं।

जब बिना श्रावक व्रतों का स्वीकार किए और बिना पालन किए भी साधुता (जीवनभर की
सामायिक) आ सकती है, तो स्वल्पकालीन देश सामायिक प्राप्त हो सके, इसमें शंका ही क्या हो सकती है

शका—दोषरहित शुद्ध सामायिक होना बहुत कठिन है। सामायिक मे कुछ न कुछ दोष लग ही जाते है। इसलिए दूषित सामायिक करने से तो नही करना ही अच्छा है ?

समाधान—निर्दोष सामायिक करने का ध्यान तो रखना ही चाहिए। ध्यान रखते हुए भी यदि असावधानी हो जाय और दोष लगजाय, तो उसके लिए शुद्धि का उपाय (आलोचना—'एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स पचअइयारा' आदि पाठ द्वारा) भी है, किंतु दोष के भय से सामायिक ही नही करना—यह तो वहुत वडी भूल है। दोष लगने से लाभ मे कुछ कमी रह सकती है, किंतु सर्वथा नही करने से तो थोडे लाभ से भी सर्वथा वचित रहना पडता है। अतएव सामायिक तो करनी ही चाहिए और साव-धानी पूर्वक दोषो से बचते रहने का ध्यान भी रखना चाहिए।

शका—वह सामायिक ही क्या कि जिसका प्रभाव वहा से हटते ही नष्ट हो जाय और कूड, कपट, झूठ, लोभ आदि का सेवन चलता रहे ? जो ऐसा करता है, उसका सामायिक करना दभ युक्त नही है क्या ?

समाधान—यदि आप यह सोचते है कि 'जो जीवनभर के लिए त्याग नही कर सकता, वह दो घडी के लिए भी त्यागी नही हो सकता, तो आपका ऐसा सोचना उचित नही है। यदि वह जीवनभर के लिए उस दशा का पालन कर सकता, तो साधु ही क्यो नही वन जाता ?

यह ठीक है कि उसे जीवन में अधिक से अधिक सद्‌गुणी बनना चाहिए, किंतु यह कहना तो झूठ ही है कि 'जो अन्य समय मे झूठ बोलता है, हँसी करता है, मैथुन व्यापारादि करता है, वह उन वृत्तियो का दो घडी के लिए भी त्याग नही कर सकता, और उसका वह दो घडी का त्याग केवल दभ ही है। जिस प्रस प्रकार वर्ष भर खानें वाला साम्वत्सरिक उपवास, भाव पूर्वक कर सकता है। उसका वह उपवास दाभिक नही कहा जा सकता, उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए।

सामायिक करते समय श्रावक का उपयोग धर्म साधना का होता है और शेष समय मे ससार साधना का। यह स्वाभाविक ही है कि जो जिस प्रवृत्ति में रहता है वह उसी के अनुसार चलता है। इसलिए वाद में सासारिक प्रवृत्ति में लगे रहने के कारण उसकी की हुई सामायिक व्यर्थ अथवा दभ युक्त नही हो जाती। हा, यह ठीक है कि श्रावक को जितना भी बन सके—दुर्गुणो से वचना चाहिए।

देशावकाशिक व्रत

छठे व्रत में दिशाओ की मर्यादा की गई है, उसे तथा अन्य सभी व्रतो की मर्यादा को प्रतिदिन सकोच करके आस्रव के कारणो को अत्यत सीमित कर देना–देशावकासिक व्रत है। इस व्रत की आराधना प्रतिदिन भी हो सकती है। रोज चौदह नियम की मर्यादा करने वाला अपने सासारिक कार्य करते हुए भी इस व्रत का पालक हो सकता है।

श्री हरिभद्रसूरिजी 'सम्बोधप्रकरण' के श्रावकाधिकार गा० १२० मे लिखते हैं कि–

" एगमुहुत्तं दिवसं, राई पंचाहमेव पक्खं वा।
वयमिह धरेह दढं, जावइअं उच्छहे कालं" ॥ १२० ॥

अर्थात्–एक मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पाच रात्रि दिवस, एक पक्ष अथवा जितने काल तक पाला सके उतने काल का यह व्रत हो सकता है।

गाथा १२२ में लिखा है कि–

" देसावगासिअं पुण, दिसिपरिमाणस्स निच्चं संखेवो।
अहवा सव्ववयाणं, संखेवो पइदिणं जो उ" ॥ १२२ ॥

अर्थात्–प्रतिदिन दिशागमन परिमाण का अथवा सभी व्रतो की मर्यादा को सक्षेप करना (कम करना) दिशावकासिक व्रत है।

चौदह नियम

सदैव प्रात काल करने के चौदह नियम इस प्रकार हैं।

१ सचित्त–पृथ्वी, पानी, वनस्पत्ति, फल, फूल, शाक आदि सचित वस्तुओं के सेवन की [illegible] करके शेष का त्याग करना।

२ द्रव्य–खाने पीने की वस्तुओं की सख्या नियत करना। जिनका स्वाद, तथा स्वरूप भिन्न [illegible] हो, वह मूल में एक वस्तु की होने पर भी भिन्न द्रव्य है। जैसे गेहू से रोटी भी बनती है और थूली भी, दूध से दही भी बनता है और खीर भी। इस प्रकार भिन्न स्वाद वाली वस्तुओं के खाने पीने की [illegible] रखकर शेष का त्याग करना।

३ विगय–शरीर में विकृति–विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को विगय कहते हैं। दूध, दही घृत, तैल और गुड शकर आदि मिठाई को सामान्य विगय कहते है। इनमें अमुक विगय का [illegible] करके शेष का त्याग करना। मधु और मक्खन विशेष विगय है। इनके निष्कारण उपयोग का त्याग करना चाहिए। (मास और मदिरा महान् विगय है। श्रावक इनका सर्वथा त्यागी होता ही है।)

४ पन्नी–पावो मे पहनने के जूते, मौजे, चप्पल आदि की मर्यादा करना।

५ ताम्बूल–मुखवास के लिये सुपारी, इलायची, पान आदि लिये जायँ, उनकी मर्यादा करना।

६ वस्त्र–पहनने ओढने के वस्त्रो की मर्यादा करना।

७ कुसुम–सुगन्ध के लिए पुष्प, इत्र आदि की मर्यादा करना।

८ वाहन–सवारी के ऊट, हाथी, घोडा, साइकल, मोटर, तागा, गाडी आदि।

९ शयन–शयन करने के पलग, पाट, बिस्तर आदि।

१० विलेपन–केसर, चन्दन, तैल, साबुन, अजन आदि।

११ ब्रह्मचर्य– चौथे अणुव्रत को भी सकुचित करना।

१२ दिग्–छठे व्रत मे की हुई दिशाओ के परिमाण को सकुचित करना।

१३ स्नान–देश स्नान अथवा सर्व स्नान की मर्यादा करना।

१४ भक्त–भोजन पानी की मर्यादा करना। एक बार या दो बार, तथा वस्तु का परिमाण करना।

इसके उपरान्त आजीविका सम्बन्धी प्रवृत्ति की भी मर्यादा की जाती है। जैसे–

असि–शस्त्र अथवा हथौडादि औजारो द्वारा आजीविका करना–असि कर्म है। इसकी भी मर्यादा करना।

मसि–स्याही–कलम, दवात और कागज से आजीविका करने में, कार्य एव साधन की मर्यादा करना।

कृषि–खेती सम्बन्धी साधनो, कार्यों और व्यवस्था की मर्यादा करना।

इन तीनो में श्रावक को अपने योग्य साधन रख कर उसमे किये जाते हुए आरभादि को सकुचित करके शेष का त्याग करना।

यह व्रत, प्रवृत्ति की विस्तृत धाराओ को सकोच कर निवृत्ति को अधिक विकसित करने वाला है। इसके सदुपयोग से आत्मा अधिक विकसित होती है।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है।

१ आनयन प्रयोग–व्रत के कारण, मर्यादित सीमा से आगे खुद तो नही जाय, किन्तु मर्यादा के बाहर की सीमा में रही हुई वस्तु किसी अन्य से मँगवावे।

२ प्रेष्य प्रयोग–मर्यादा बाहर की भूमि में दूसरो के साथ वस्तु भेजे।

३ शब्दानुपात–सीमित भूमि के बाहर रहे हुए अन्य पुरुष को खासकर या डकारकर अर्थात् अस्फुट शब्द से आकर्षित करके अपनी उपस्थिति का ज्ञान करवाकर अपने पास बुलाना, अथवा सीमा से बाहर ही वस्तु लाने का सकेत करना।

४ रूपानुपात—अपने को या अपना अवयव अथवा अपनी वस्तु दिखाकर किसी को आकर्षित करना। अथवा सीमा से बाहर रही हुई वस्तु का आकार बनाकर अगुली आदि के सकेत से मँगाना।

५ बहिर्पुद्गलप्रक्षेप—सीमा के बाहर ककर आदि फेंक कर अपना प्रयोजन बतलाना। अथवा मर्यादित भूमि से बाहर, आश्रव की क्रिया करने के लिए कोई पूछने आवे, तो उसे पुद्गल गिराकर सकेत से अभिप्राय देना।

उपरोक्त अतिचारो का त्यागकर निर्दोष रीति से व्रत का पालन करने से महान् लाभ होता है। जो महानुभाव इनकी भलीभांति आराधना करते है, उनके हजारो मेरु पर्वतो जितना पाप रुक जाता है और एक राई जितना शेष रहता है। वे असख्य गुण त्यागी और असख्यातवे भाग के भोगी रहते है। ऐसे श्रावको को "सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकर" कहा है (सूय २–७) इस व्रत की पालना करते हुए वे ससार भार से हलके होकर विश्राम का अनुभव करते है।

(ठाणाग ४–३)

पौषधोपवास व्रत

आत्मा के निजगुणो का शोषण करनेवाली सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर, पोषण करनेवाले गुणो के साथ रहना, समता पूर्वक ज्ञान ध्यान और स्वाध्यायादि में रत रहना, 'पौषधोपवास' व्रत है। इस के चार भेद इस प्रकार है।

१ आहार पौषध—चारो प्रकार के आहार का त्याग करना।

२ शरीर पौषध—स्नान, मजन, उबटन, पुष्प, माला तथा आभूषणादि का त्याग करना।

३ ब्रह्मचर्य पौषध—वैषयिक सुख का त्यागकर आत्मिक सुखमें रमण करना।

४ अव्यापार पौषध—आजीविका अथवा ससार सम्बन्धी सभी सावद्ययोगो का त्याग करना।

इस प्रकार चार प्रकार का पौषध करके मन को शान्त बना लेना चाहिए। सासारिक सभी सावद्य कार्यों के भारी बोझ को एक दिन रात के लिए उतार कर अपूर्व शाति का अनुभव करना चाहिए। पौषध में हल्कापन का अनुभव कर विश्राम लेना—ससार में तीसरा विश्राम है। (ठाणाँग ४–३)

निर्दोष रूप से पौषध करने के लिए, पौषध के पूर्व दिन निम्नलिखित शुद्धता रखनी चाहिए।

१ जहा तक हो सके एकासना करे, यदि एकासना नही हो सके, तो पौषध निमित्त अधिक नही खावे।

२ 'कल पौषध होगा इसलिए आज वाल वनवालू या स्नान करलू'—इस प्रकार सोचकर ये क्रियाएँ नही करे ।

३ मैथुन सेवन नही करे ।

४ वस्त्रादि नही वनावे, धुलवावे भी नही और रगावे भी नही ।

५ पौषध के निमित्त शरीर की साल सभाल, आदि नही करे ।

६ पौषध के निमित्त आभूषण नही पहनें ।

उपरोक्त छह वातों का पालन करने से पौषध करने वाली आत्मा की क्षेत्र शुद्धि होती है अन्यथा ये दोष लगते है । इन दोषो से अवश्यही वचना चाहिए ।

पौषध व्रत के नीचे लिखे पाच अतिचारो को टालना चाहिए ।

१ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक—विछौने, ओढने तथा आसनादि की प्रति-लेखना नही करना अथवा ध्यान पूर्वक प्रतिलेखना नही करते हुए वेगारी की तरह करना ।

२ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक—विछौने आदि तथा भूमि आदि की प्रमार्जना नही करना ।

(प्रतिलेखना प्रमार्जना के भेद 'अनगार धर्म' विभाग से जान लेना चाहिए)

३ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्र आदि परठने के स्थान की प्रति लेखना नही करना अथवा बुरी तरह से करना ।

४ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्रादि परठने के पूर्व उस स्थान को नहीं पूजना अथवा बुरी तरह से पूजना ।

५ पौषधोपवास का सम्यक् अपालन—पौषध का विधि पूर्वक पालन नही करना ।

उपरोक्त अतिचारो को सावधानी पूर्वक टालना चाहिए । इसके अतिरिक्त निम्न दोषो से भी वचना चाहिए ।

१ अव्रती से सेवा कराना ।

२ शरीर का मैल उतारना ।

३ विना पूजे शरीर खुजालना ।

४ अकाल में निद्रा लेना अर्थात् दिन मे सोना और रात में अधिक नीद लेना ।

५ निन्दा, विकथा तथा हँसी मजाक करना ।

६ सासारिक विषयो की वाते करना या सुनना अथवा अधार्मिक साहित्य पढना ।

७ भय को हृदय में स्थान देना या दूसरो को डराना ।

८ क्लेश करना अथवा क्लेश मे कारण भूत बनना ।

९ खुले मुह बोलना—सावद्य वचन बोलना ।

१० स्त्री का रूप निरखना ।

११ सासारिक सबध के अनुसार सबोधन करना । अथवा जिनके पौषध नही हो, व्यक्तियो और सबधियो से बातें करना ।

१२ प्रमार्जना में प्रमाद करना ।

इन दोषो से भी बचना आवश्यक है । पौषध की पूर्ति पर पालने की चपलता करना । समय पूर्ण होने के बाद कुछ समय बीतने पर विधि पूर्वक, अतिचारो और अन्य दोषो आलोचना करने के पूर्व पौषध नही पालना चाहिए ।

जिस प्रकार शिथिलगात्र वाला वृद्ध, भारी बोझ के कारण थक कर, किसी ठण्डी छाया जलाशय को देखकर अपना भार रखता है, और ठण्डा पानी पीकर तथा छाया में बैठकर विश्राम लेत सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार पौषध में रहा हुआ श्रावक, ससार के आरभ परिग्रह अठारह पाप के महान् बोझ से थका हुआ है । पौषध के समय वह इस भार मे हलका होकर आत्मीय सु अनुभव करता है । आत्म शान्ति का पोषक होने के कारण इस व्रत का नाम 'पौषध' है । पूर्वाचार्य है कि जो श्रद्धालु श्रावक, भाव पूर्वक शुद्ध व्यवहार प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करता हुआ, विषय क की गर्मी को शात करता है । 'वह सत्तावीस अरब, सतहत्तर करोड, सतहत्तर लाख, सतहत्तर ह सातसो सतहत्तर पल्योपम और एक पल्योपम का सप्तनवमास (२७७७७७७७७७७—७/९) :रि देवभव के आयुष्य का वन्ध करता है । (सबोधप्रकरण श्रावकाधिकार गा० १३४) यदि इसमें भी निश्चय सम्यक्त्व की लीनता हुई, तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या ?

देश पौषध

यह विधि 'प्रतिपूर्ण पौषध' की है । देश पौषध की विधि ग्रथकारो ने इस प्रकार बताई है ।

१ आहार आदि का देश से त्याग करना । तिविहार उपवास, आयबिल, एकासन आदि देश आहार पौषध करना ।

२ हाथ, पाँव, मुँह आदि धोकर, शरीर सत्कार देश पौषध करना ।

३ मन तथा दृष्टि क्षेप आदि की छूट रखकर, देश ब्रह्मचर्य पौषध करना ।

४ व्यापार, गृहकार्य आदि की सलाह देने रूप सावद्य व्यापार का देश से त्याग करना ।

इस प्रकार देश पौषध होता है ।

द्रव्य पौषध—पौषध मे उपयोगी ऐसे आसन प्रमार्जनी पुस्तकादि साधनो को रखकर शेष का ाग करना ।

क्षेत्र पौषध—उपाश्रय, तथा उच्चार प्रस्रवण भूमि की मर्यादा रखकर शेष का त्याग करना ।

काल पौषध—देश पौषध कम से कम चार प्रहर का और मध्यम चार प्रहर से अधिक का और कृष्ट उपवास के साथ आठ प्रहर, छठ भक्त के साथ सोलह प्रहर तथा अष्टम भक्त के साथ २४ प्रहर होता है । इसी तरह आगे भी समझना चाहिए। आठ प्रहर से कम हो—वह काल से देश पौषध है ।

भाव पौषध—औदयिक भाव—राग द्वेष अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान को त्याग कर धर्मध्यान मे मश-न रहना ।

श्रावको का दया (छकाया) व्रत भी देश पौषध रूप है । भगवती सूत्र १२–१ मे शख कली प्रकरण मे लिखित, भोजन करके पौषध करने के प्रसग से भी देश पौषध की परिपाटी सिद्ध ती है ।

पौषध में सामायिक करना या नहीं ?

पौषध लेने के बाद उसमे सामायिक करना या नही, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, क्योकि श्वे० ति पूजक समाज मे पौषध के साथ सामायिक करने का रिवाज है । इस विषय मे 'धर्म सग्रह' की का मे लिखा है कि—देश पौषधवाला सामायिक नही करे, तो भी चल सकता है (क्योकि उसने व्यापार=सावद्य व्यापार का त्याग भी देश से किया है) किन्तु सर्व पौषध वाले को सामायिक वश्य ही करना चाहिए । यदि नही करे, तो वह सामायिक के फल से वचित रहता है । किन्तु ागशास्त्र' की टीका मे लिखा है कि—

'यदि 'कुव्यापार वर्जन' रूप पौषध भी 'अन्नत्थणा भोगेण' आदि अगार सहित किया है,तब तो सामा-क करने की आवश्यकता रहती है और ऐसी दशा मे सामायिक करना सार्थक भी है (क्योकि सामा क के समय वे आगार भी रुक जाते है—यह लाभ है) और सर्व पौषध वाले को भी सामायिक करनी ाहिए, नही करने पर उसके लाभ से वचित रहता है । इसके आगे लिखा कि—

यदि समाचारी की भिन्नता से जिसने पौषध भी सामायिक की तरह "दुविह तिविहेण" आदि ग पूर्वक किया है, तो उसके लिए सामायिक का कार्य पौषध से ही हो जाता है । इसलिए उसकी मायिक विशेष फल दायक नही होती । हा, अपने उल्लास के लिए—कि "मैने सामायिक और पौषध करे तो कर सकता है ।

तात्पर्य यह कि देश पौषधवाले के सावद्य व्यापार किसी अश मे खुला हो, तो अथवा सव पौषध में एक करण एक योग आदि से प्रत्याख्यान हो, तो सामायिक करना सार्थक है, किन्तु दो कर तीन योग के सर्व पौषध में, सामायिक का समावेश अपने आप हो जाता है। जो इस प्रकार का करे, उसके लिए पृथक् रूप से बिना किसी विशेषता के सामायिक करना कोई खास लाभप्रद नहीं होता।

पौषध में दोनो समय वस्त्र पुस्तक तथा प्रमार्जनी आदि की प्रतिलेखना करे। बैठने, सोते शरीर पर खाज खुजालते और ऐसे ही दूसरे कार्यों के पूर्व प्रमार्जन करे। यथा समय दोनो वक्त प्रतिक्रमण करे। करवट बदले तो पूजने के बाद बदले। तथा सयमियो और पौषध करनेवाले श्रावको की अनुमोदना करते हुए अथवा ससार की अनित्यता का चिंतन करते करते सोवे। प्रहर रात बीतने के बाद रात्रि रहे तब तक जोर से नही बोले। निद्रा त्यागने के बाद इरियापथिकी करके निद्रा-दोष निवृत्ति के लिए "पडिक्कमामि पगामसिज्जाए" का स्मरण करे।

अतिथि संविभाग × व्रत

सर्वस्व त्यागी (मोक्षाभिलाषी) पच महाव्रतधारी निर्ग्रंथो को उनके कल्प के अनुसार निर्दोष अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल पादप्रोछन (रजोहरण) पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक औषध, भेषज-इन चौदह प्रकार की वस्तुओ मे से आवश्यकतानुसार भक्ति पूर्वक, सयम में सहायक होने की कल्याण कामना से अर्पण करना-'अतिथि सविभाग' व्रत है।

अतिथि-जिनके आने का कोई नियत समय नही हो, जो पर्व, उत्सव अथवा निर्धारित समय पर पहुँचने की वृत्ति को त्याग चुके हो (अर्थात् जो अचानक आते हो) वे अतिथि कहलाते हैं।

सविभाग-उपरोक्त निर्दोष अतिथि को अपने लिए बनाये हुए आहार मे से निर्दोष विधि से देना

इस व्रत में तीन वस्तुओ का योग होता है, १ सुपात्र २ सुदाता और ३ सुद्रव्य।)

सुपात्र-आगमो में इसे 'पडिगाहग' कहा है-'पडिगाहग सुद्धेण (भग० १५ तथा विपाक २-१) अर्थात् शुद्धपात्र। सुपात्र वह है, जिसने सभी प्रकार के आरभ परिग्रह तथा सासारिक सम्बन्धो और कर्तव्यो का त्यागकर आत्म कल्याण के लिए अग्रसर हुआ है। जो अनगार है, और केवल सयम निर्वाह के लिए, शरीर को सहारा देने रूप, आहार लेता है। जिसकी आहार लेने की विधि भी निर्दोष है। जो बिना पूर्व सूचना अथवा निमन्त्रण के अचानक आकर निर्दोष आहार लेता है, वह सुपात्र है।

× इस व्रत का नाम 'यथा संविभाग' भी है (उपासक दशा, उववाई, भगवती)

सुदाता—जिसे शास्त्र में 'दायगसुद्ध' कहा है। सुदाता वही है, जो सुपात्रदान का प्रेमी हो, सदैव सुपात्रदान की भावना रखने वाला हो। सुपात्र को देखकर जिसके हृदय में आनन्द की सीमा नही रहे। सुपात्र को देखकर उसे इतना हर्ष हो जाय कि जिससे आँखो से अश्रु निकल पडे। वह ऐसा समझे कि जैसे बहुत दिनो से विछुडा हुआ आत्मीय मिला हो। अत्यन्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो गई हो, या उसके घर चक्रवर्ती सम्राट आगये हो। इस प्रकार अत्यन्त उच्च भाव युक्त दाता, सुपात्र को दान देकर उन्हे आदर युक्त कुछ दूर पहुँचाने जाता हो और उसके वाद उस दान की तथा दूसरे दाताओ की अनुमोदना करता हो और पुन ऐसा सुयोग प्राप्त होने की भावना रखता हो। ऐसा दाता सुदाता कहा जाता है।

सुद्रव्य—'दव्वसुद्ध' दान की सामग्री निर्दोष हो। सुपात्र के अनुकूल एव हितकारी हो। (दोष रहित वस्तु और उद्गम आदि दोषो का स्वरूप'एषणा समिति' के वर्णन से देख लेना चाहिए) ऐसी वस्तु नही देनी चाहिए जो दूषित हो और सयमी जीवन के लिए अनावश्यक हो।

इस प्रकार साधु साध्वी को प्रसन्न मन से निर्दोष आहारादि का दान करने से इस व्रत का पालन होता है।

इस व्रत को दूषित करनेवाले पाच अतिचार इस प्रकार है।

१ सचित निक्षेप—साधु को नही देने की बुद्धि से, निर्दोष और अचित वस्तु को, सचित वस्तु पर रख देना, जिससे वे ले ही नही सके।

२ सचित पिधान—कुबुद्धि पूर्वक अचित वस्तु को सचित से ढक देना।

३ कालातिक्रम—गोचरी के समय को चुका देना और वाद मे शिष्टाचार साधने के लिए दान देनें को तय्यार होना ?

४ परव्यपदेश—नही देने की बुद्धि से अपने आहारादि को दूसरे को बतलाना।

५ मत्सरिता—दूसरे दाताओ से ईर्षा करना।

इन पाचो अतिचारो को टालकर शुद्ध भावना और बहुमान पूर्वक दान देना चाहिए। ऐसा दान महान् फलवाला होता है। जहा द्रव्य शुद्ध और पात्र शुद्ध हो और उत्कृष्ट रस आजाय, तो तीर्थंकर गोत्र का बध हो जाता है (ज्ञाता ८) दिव्य वृष्टि एव देवदुदभि तथा देवो द्वारा जय-घोष होता है। (भगवती १५, उत्तरा० १२ आदि)

"श्रमण निर्ग्रंथो को अचित तथा निर्दोष आहारादि का प्रतिलाभ करनें वाला श्रमणोपासक श्रमणो को समाधि उत्पन्न करता है और इससे वह स्वय समाधि लाभ करता है। वह जीवन के लिए आवश्यक, उपयोगी एव दुष्त्याज्य वस्तु का मोह छोडकर त्याग करता है। इस त्याग से वह दुर्लभ ऐसे सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर विरत होता है. और उन्नत होते हुए मुक्त हो जाता है"। (भगवती ७-१)

भगवती सूत्र ८ उ. ६ में—'श्रमण निर्ग्रंथो को अप्रासुक और अनेषणीय आहारादि देने का फल अल्प पाप और बहुत निर्जरा' बतलाया है। इस विधान का दुरुपयोग होना दिखाई दे रहा है। इसी विधान की ओट से आधाकर्मी आदि बहु दूषण युक्त आहारादि का प्रचलन हो गया है, किन्तु समझने की बात यह है कि अल्प पाप वहीं होगा जहां दूषण भी स्वल्प हो। आधाकर्मी आदि विशेष दूषण युक्त दान से तदनुसार पाप होता है।

दोष युक्त आहार देना, साधुओ के संयम रूपी धन को लूटने के समान है। प्रत्येक श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है कि वह श्रमण निर्ग्रंथो को आहार पानी वस्त्र आदि ऐसी निर्दोष वस्तु दें कि जिससे उनके संयमी जीवन में दोष नहीं लगे, किन्तु संयम का पोषण हो। दूषित वस्तु देकर संयम को दूषित करना और खुद भी पाप कर्मो का बन्ध करना—मूर्खता का कार्य है।

"श्रमण निर्ग्रंथों को अप्रासुक अनेषणीय आहारादि देनेवाला अल्प आयुष्य का (जिसमे बचपन या शैशव अथवा युवावस्था में ही मरजाने रूप) बन्ध करता है और निर्दोष आहार देनेवाला दीर्घायु का बंध करता है। खराब आहार देने से दुःखमय जीवन रूप दीर्घ आयु का बन्ध होता है और पथ्यकर आहार देने से शुभ दीर्घ आयु का बन्ध होता है"। (भगवती श० ५ उ० ६)

"श्रमण निर्ग्रंथों को प्रासुक एषणीय=अचित एवं निर्दोष आहारादि प्रतिलाभने वाला श्रमणोपासक अपने कर्मो की निर्जरा करता है' (भग० ८—६)

यह बारहवाँ व्रत श्रमण जीवन की अनुमोदना रूप है। जो श्रमण को उत्तम और मंगल रूप मानता है, वही भाव पूर्वक श्रमण को प्रतिलाभता है उनकी पर्युपासना करता है। श्रमण निर्ग्रंथ की पर्युपासना से धर्म श्रवण करने को मिलता है। धर्म श्रवण से ज्ञान ज्ञान से क्रमश विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, निष्कर्मता और मुक्ति होती है। अर्थात् श्रमण निर्ग्रंथो की पर्युपासना का परम्परा फल मुक्ति प्राप्त होना है (भग० २—५) इसलिए अतिथि—संविभाग व्रत का पालन भाव पूर्वक करना चाहिए।
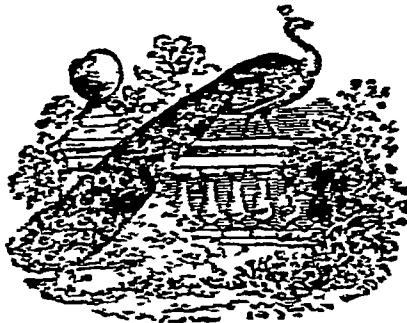
उपासक प्रतिमा

देश विरत श्रावक के अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक, जब उपासक की प्रतिमा का आराधन करता है, तब वह 'प्रतिमाधारी श्रावक' कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। यथा—

१ दर्शन प्रतिमा—पहली प्रतिमा में श्रावक सम्यग्दर्शन की आराधना करता है। यों तो वह इसके पूर्व भी सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु उस अवस्था में राजाभियोग आदि छ कारणो से सम्यक्त्व में अतिचार भी लग सकता है, किन्तु इस प्रतिमा में वह सम्यग्दर्शन का अतिचार रहित—विशुद्ध पालन करता है। वह क्रियावादी अक्रियावादी आदि मिथ्या दर्शनो की मान्यता को हेय मानकर विशुद्ध सम्यग्दर्शनी होता है। उसकी क्षमा, निर्लोभता आदि दस धर्म, विरति, सवर, तथा तप आदि सभी धर्मों में पूर्ण रूप से रुचि होती है, किन्तु उनका पालन (निरतिचार रूप से) नही होता है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२ व्रत प्रतिमा—प्रथम प्रतिमा की तरह धर्मरुचि पूर्णरूप से होती है। इसके सिवाय वह बहुत से शीलव्रत—अणुव्रत, गुणव्रत तथा अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान का पालन करता है, किंतु 'सामायिक' और 'देशावकासिक' व्रत का यथातथ्य पालन नही करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ सामायिक प्रतिमा--इस प्रतिमा में वह पूर्वोक्त सभी गुणो के अतिरिक्त सामायिक तथा देशावकासिक व्रत का पालन करता है, किंतु अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषधोपवास नही करता। इस प्रतिमा का काल तीन मास का है।

४ पौषधोपवास प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमो के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्णपौषध उपवास सहित करता है, किन्तु एक रात्रि की उपासक—प्रतिमा का पालन नही करता। यह प्रतिमा चार मास की है।

५ दिवा ब्रह्मचारी रात्रि परिमाण प्रतिमा–इसमें पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियमों के साथ एक रात्रि की उपासक–प्रतिमा का पालन किया जाता है अर्थात् रात्रि को कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके सिवाय निम्न लिखित नियमों का पालन किया जाता है।

१ स्नान करने का त्याग किया जाता है।
२ रात्रि भोजन का त्याग किया जाता है।
३ धोती की लाग खुली रखी जाती है।
४ दिन को ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।
५ रात्रि में मैथुन का परिमाण किया जाता है।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक दो या तीन दिन और उत्कृष्ट पांच महीने तक किया जाता है।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा–पूर्व प्रतिमाओं के सभी नियम पालने के साथ इस प्रतिमा में दिन और रात में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसमें सचित्ताहार का पूर्ण त्याग नहीं होता। इसका कालमान कम से कम एक दो या तीन और अधिक से अधिक छ. मास है।

७ सचित्त त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त छ प्रतिमाओं के साथ इस प्रतिमा में सचित्त वस्तु के आहार का त्याग, विशेष रूप से होता है, किन्तु आवश्यक कार्य का आरंभ करने का त्याग नहीं होता। इसका काल जघन्य एक दो और तीन दिन का तथा उत्कृष्ट सात माह का है।

८ आरंभ त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त गुणों के अतिरिक्त इस प्रतिमा में स्वत के आरंभ–सावद्य व्यापार करने का त्याग होता है, किन्तु दूसरो से आरंभ करवाने का त्याग नहीं होता। इसका काल मान जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट आठ माह का है।

९ प्रेष्यारंभ त्याग प्रतिमा–इस प्रतिमा में पूर्व से विशेषता यह है कि वह दूसरो से आरंभ करवाने का भी त्याग कर देता है, किन्तु 'उद्दिष्ट भक्त' (उसके लिए बनाये हुए आहारादि) का त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का काल जघन्य एक दो तीन दिन और उत्कृष्ट नवमास का है।

१० उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा–पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए इसमें विशेष रूप से औद्देशिक आहारादि का भी त्याग होता है। वह अपने बालों का उस्तरे से मुंडन करवाता है अथवा शिखा रखता है। यदि उसे कौटुम्बिक जन, द्रव्यादि के विषय में पूछे, तो वह जानता हो तो कहे कि "मैं जानता हूँ" और नहीं जानता हो तो कहे कि "मैं नहीं जानता"। इस प्रकार वह कम से कम एक दो और तीन दिन तथा अधिक से अधिक दस माह तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

११ श्रमणभूत प्रतिमा-पूर्वोक्त दस प्रतिमाओ के सभी नियमो का पालन करने के सिवाय इस प्रतिमा का धारक श्रावक, अपने सिर के बालो का या तो मुडन करवाता है या फिर लोच करता है (यह उसकी शक्ति पर निर्भर है) इसके अतिरिक्त वह साधु के आचार का पालन करता है। उसके उपकरण और वेश, साधु के समान ही होते है। वह निर्ग्रंथ श्र मणो के धर्म का बराबर पालन करता है। उसके उपकरण और वेश साधु के समान ही होते हैं। वह निर्ग्रंथ श्रमणो के धर्म का बराबर पालन करता है, मन और वचन से ही नही, किन्तु शरीर से भी सभी प्रकार की क्रिया करता है। चलते समय वह युग परिमाण भूमि को देखकर चलता है। यदि मार्ग में त्रस जीव दिखाई दें, तो उनकी रक्षा के लिए सोच समझकर इस प्रकार पांव उठाता और रखता है कि जिससे जीव की विराधना नही हो, जीवो की रक्षा के लिए वह अपने पांव को सकुचित अथवा टेडा रखकर चलता है, किन्तु विना देखे सीधा नही चलता। उसकी सभी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं। गोचरी के विषय में वह प्रासुक और एषणीय ही ग्रहण करता है, किन्तु उसका अपने सम्बन्धियो से प्रेम सबध सर्वथा नही छूटता, इसलिए वह उन्ही के यहा से निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है।

भिक्षार्थ जाने पर उसे मालूम हो कि 'चावल तो उसके आने के पूर्व ही पक कर आग पर से अलग रखे जा चुके, किंतु दाल नही पकी-पकरही है,' तो उसे चावल ही लेने चाहिए, किंतु बादमे पकने वाली दाल नही लेनी चाहिए। इसी प्रकार यदि दाल पहले बन चुकी हो और चावल पकना शेष हो, तो दाल ही लेनी चाहिए-चावल नही। जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन चुकी हो और आग पर से अलग रखी जा चुकी हो, वही लेनी चाहिए। बाद मे बनने वाली नही लेनी चाहिए।

गृहस्थ के यहा भिक्षा के लिए जावे तब कहे कि "प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।" इस प्रकार की उसकी चर्या देखकर कोई पूछे कि 'हे आयुष्यमन्! तुम कौन हो'? तो उसे उत्तर में कहना चाहिए कि "मै प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हू'। इस प्रकार इस प्रतिमा का आराधन कम से कम एक दो या तीन दिनरात और उत्कृष्ट ग्यारह मास तक होता है।

(दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६ समवायाग ११)

पाचवी प्रतिमा और उसके आगे की प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दो तीन दिन का बताया है, इसका कारण बताते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'एक दो तीन दिन प्रतिमा पालकर यदि वह वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय, तो जघन्य काल होता है * अन्यथा पूरा समय लगता

* टीकाकार ने दूसरा कारण आयु पूर्ण होने का भी बताया है, किंतु यह कोई कारण नहीं लगता, यों तो प्रतिमा धारण करने के एकाध घन्टे बाद भी आयुष्य पूर्ण हो सकता है, फिर दिन का ही विधान क्यों? अतएव दीक्षा का कारण ही उचित लगता है।

है। सव प्रतिमाओ का कुल पूर्ण समय साढे पाच वर्ष (६६ माह) का होता है।

जिन धर्मबन्धुओ की रुचि, ससार से हटकर धर्म साधना में विशेष लगी हो, किंतु साधु बनने जितनी जिनकी शक्ति नही हो, उन्हे प्रतिमा का आराधन अवश्य करना चाहिए। जिनके गृहभार सम्हालने योग्य पुत्रादि हो, उन्हें तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि उन्हें क्रमश सभी प्रतिमाओं का पालन करना ही पडेगा। वे चाहें तो किसी एक प्रतिमा का ही पुन पुन पालन कर सकते हैं। जैसा कि कार्तिक सेठ ने किया था।

संलेखणा संथारा

संसारी जीव, आयुष्य कर्म के आधार से ही किसी शरीर में स्थिति करते हैं। आयुष्य का क्षय, 'मरण' कहलाता है। जो आयुष्यादि कर्म के उदय मे जन्म लेता है, वह अवश्य ही मरता है। मनुष्य अपने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से अगला जन्म रोक सकता है अर्थात् वीतरागता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, जिससे उसे आगे पर जन्म की प्राप्ति नही होती। किन्तु मृत्यु को नही रोक सकता। प्राप्त जन्म और उदयमान आयुष्यादि कर्म को भुगत करके मरना पडता है। वीतराग भगवतो को भी देह त्याग करना ही पडता है, इसलिए प्राप्त जन्म का अन्तिम परिणाम, मृत्यु तो होती ही है। इस मृत्यु को मिथ्यादृष्टि और कलुषित परिणामी जीव, अकाम मरण द्वारा विगाड देता है, किन्तु श्रमणोपासक तथा श्रमणवर्ग, सकाममरण—पडितमरण के द्वारा सुधार लेते है। अविरत अवस्था में एव मिथ्यादृष्टि सहित आयु पूर्ण करना 'अकाम मरण' है। फिर वह किसी भी निमित्त से हो, किन्तु सावधानी पूर्वक आराधना करते हुए देह छोडना 'सकाममरण'—पडितमरण है। पण्डितमरण 'सथारा' पूर्वक होता है। यह अतिम साधना है।

जब यह विश्वास हो जाय कि अब शरीर पडनेवाला है। अधिक दिन नहीं चल सकेगा। शरीर की हालत बहुत ही जिर्ण हो गई। रोग अथवा उपसर्ग, उग्ररूप से बढ रहा है। शक्ति क्षिण होती जा रही है। उठना बैठना तो दूर रहा, करवट लेना भी कठिन हो रहा है। शरीर के लक्षण भी अन्त समय निकट होने का सकेत दे रहे है, तब सथारा किया जाता है। जिन्हें उपसर्ग से बचने की सभावना होती है, वे तो सागारी सथारा करते है (ज्ञाता ८ अरहन्नक श्रावक, उपासकदशा २, अतकृतदशा आदि) किन्तु जिन्हें बचने की सभावना नही हो, वे बिना किसी आगार के ही—जीवन पर्यन्त के लिए सथारा कर लेते है।

यह सथारा वसति—उपाश्रय में अथवा घर मे रहकर भी किया जा सकता है और जगल में जाकर भी किया जा सकता है। इसके दो भेद है—१ पादपोपगमन और २ भक्तप्रत्याख्यान।

सथारा करनेवाला पहले सथारे का स्थान निश्चित करता है। वह स्थान निर्दोष—जीव जन्तु और कोलाहल से रहित तथा शात हो। फिर उच्चार प्रस्रवण भूमि (=वडीनीत लघुनीत परठने की जगह) देखकर निर्धारित करता है। इसके वाद सथारे की भूमि का प्रमार्जन करे और उस पर दर्भ आदि का सथारा विछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके वैठ जाय। इसके वाद इर्यापथिकी—गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। फिर दोनो हाथ जोडकर सिद्ध भगवान् एव अरिहत भगवान् की—'नमुत्थुण' के पाठ से स्तुति करे। इसके वाद गुरुदेव को वन्दना करके अपने पूर्व के व्रतो का स्मरण करे। उनमें लगे हुए दोषो की आलोचना करके हृदय से खमावे। इसके वाद अठारह पाप और चारो आहार का जीवनभर के लिए त्याग करदे। इसके वाद उत्साह एव हर्ष पूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि—

"मेरा यह शरीर मुझे अत्यन्त प्रिय था। मैंने इसकी वहुत रक्षा की थी। इसे मैं मूजी के धन की तरह सँभालता रहा था। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास था। इस ससार मे यह शरीर मुझे अत्यन्त इष्टकारी था। इसके समान दूसरा कोई प्रिय नही था। इसलिए मैंने इसे शीत से, गर्मी से, क्षुधा से, प्यास से, सर्प, चोर, डाँस आदि प्राणियो के उपसर्ग से और रोगो से बचाया। इसको पूरी लगन के साथ रक्षा की। अव मैं इस शरीर से अपना ममत्व हटाकर इसका त्याग करता हूँ और अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक इस शरीर से अपनेपन का सम्बन्ध त्याग देता हूँ"। (भगवती २—१)

इस प्रकार शरीर का त्याग करके धर्मध्यान—अनित्यादि भावना—शुभ परिणति में समय व्यतीत करे और अधिक जीने या शीघ्र मरजाने की इच्छा नही करता हुआ तथा दु खो से नही घबराता हुआ, शान्त हृदय से धर्मध्यान करता रहे। और उस समय जो भी परिषह एव उपसर्ग उत्पन्न हो, उन्हे लकडी के पटिये की तरह निश्चल रहकर सहन करे। यदि सिंह, व्याघ्र, सर्प, आदि पशु या पक्षी शरीर को काटे, भक्षण करे, तो उन्हें मारे नही, किन्तु यह सोचे कि 'ये पशु मेरा शरीर खाते है, गुण—आत्मा को नही खाते'। यह सोचकर मनमें दृढता लावे और श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा को अन्त तक धर्म—ध्यान में लगाये रहे।

भक्तप्रत्याख्यान अथवा इगितमरण (पादपोपगमन के सिवाय) मे निर्धारित भूमि के भीतर स्थडिल आदि के लिए या हाथ पाँव अकड जाय तो सीधे करने के लिए, हलन चलन किया जा सकता है। हाथ पाँव लम्बे या सकुचित किये जा सकते है। भक्तप्रत्याख्यान तिविहार और चौविहार प्रत्याख्यान से भी हो सकता है। (आचाराग श्रु १ अ ८ उ ५ से ८) सयमी मुनिवर सलेखना की साधना पहले से शुरु कर देते है। इसका जघन्य काल छ महीने, मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट वारहवर्ष है।

बारह वर्ष की साधना मे प्रथम के चार वर्ष तक विगयों का त्याग किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप किया जाता है। फिर दो वर्ष तक आयम्बिल के पारणे मे एकान्तर तप किया जाता है। इसके बाद छ महीने तक अति विकट तप किया जाता है और पारणे में केवल आयबिल ही किया जाता है। अंतिम वर्ष में कोटि सहित (एक तप की पूर्ति के साथ ही दूसरा तप प्रारंभ कर देने रूप) तप किया जाता है और पारणा आयबिल के साथ किया जाता है। इसके बाद एक मास या अर्ध मास तक आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है। यह जीवनपर्यन्त का अनशन होता है। इस प्रकार बारह वर्ष में जीवन के अन्त के साथ यह सल्लेखणा पूरी होती है। (उत्तरा० ३६)

इसमें लगने वाले अतिचार इस प्रकार है।

संलेखणा के पांच अतिचार

१ इहलोकाशंसा प्रयोग—मृत्यु के उपरान्त इसी मनुष्य लोक में सम्राट, राजा अथवा मन्त्री, सेठ आदि होने की इच्छा करना—मनुष्य सबधी उत्तम ऐश्वर्य और काम भोग की प्राप्ति चाहना।

२ परलोकाशंसा प्रयोग—स्वर्ग का महर्द्धिक देव अथवा इन्द्र बनने की अभिलाषा करना।

३ जीविताशंसा प्रयोग—मान प्रतिष्ठा प्राप्त होती देख कर लम्बे काल तक जीवित रहने की इच्छा करना।

४ मरणाशंसा प्रयोग—क्षुधादि अथवा परिषहादि से घबडा कर शीघ्र ही मरजाने की भावना करना।

५ कामभोगाशंसा प्रयोग—मनुष्य अथवा देव सबधी कामभोगों के भोगने की इच्छा करना।

(उपासकदशा—१)

उपरोक्त अतिचारो से बचकर सल्लेखणा का यथातथ्य रूप मे पालन करने से निर्दोष आराधना होती है।

मृत्यु का भय तो मनुष्य के लगा ही हुआ है। न जाने कब किस स्थिति में जीवन डोरी टूट जाय। इसलिए मृत्यु सुधारने का अभ्यास पहले से ही प्रारंभ कर देना चाहिए। सदैव रात को सोते समय, प्रात काल तक के लिए विरति को अधिक से अधिक विकसित कर सल्लेखणा का अभ्यास चालू कर देना उचित है इससे अन्तिम साधना सरल हो जाती है।

सम्यक्त्व के छह आगार

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का दृढ श्रद्धान करने के साथ ही श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—

"मै देव गत मिथ्यात्व का त्याग करने के उद्देश्य से, जिनेश्वर भगवत के अतिरिक्त किसी भी अन्य तीर्थी देव को वन्दना नमस्कार नही करुगा। मैं गुरु गत मिथ्यात्व का त्याग कर रहा हू, इसलिए निर्ग्रंथ गुरु—श्रमण श्रमणी वर्ग के अतिरिक्त अन्य तीर्थ के गुरु वर्ग को वन्दन नमस्कार नही करुगा, और न सुगुरु को प्रतिलाभने—सुपात्र दान देने की तरह उन्हे सुपात्र मान कर दान दूगा। इतना ही नहीं उनके साथ धार्मिक सबध—अकारण उनसे बोलना, बारबार सगति करना—इत्यादि अधिक सम्पर्क नही रखूगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने के साथ ही सामान्य गृहस्थ, ससार में उपस्थित होने वाली कठिनाइयो का विचार कर निम्न लिखित छह आगार रखता है।

राजाभियोग—राजा के दबाव से। कभी साम्प्रदायिक पक्ष के कारण राजा का दबाव हो और राज सकट से बचने के लिए अन्यतीर्थी देव को वन्दना करनी पड़े, कुगुरु को वन्दना और आहार दान करना पड़े, तो इस कठिन परिस्थिति की छूट रखता हू।

२गणाभियोग—गण— समूह—संघ—वर्ग। यदि मिथ्यादृष्टि गण के दबाव के कारण कुदेव को नमन और कुगुरु को आदर सत्कार तथा आहारादि दान देना पडे।

३ बलाभियोग—अधिकशक्तिशाली पुरुष के दबाव से"

४देवाभियोग—किसी देव के दबाव से" "

५ गुरुनिग्रह—माता पितादि गुरु जन के आग्रह से "

६ वृत्तिकान्तार—आजीविका की कठिनाई के कारण, ससार रूपी अटवी में उलझ कर भटक जाय, तो पार पाने के लिये अर्थात् आजीविका की विभीषिका से पार पाने के लिए अन्य तीर्थिक देव, गुरु को वन्दना करने और आहारादि देने के आगार है।

ये छहं आगार विकट परिस्थिति के कारण बाह्य रूप से सेवन किये जाते है। अन्तरग मे खेद का अनुभव होता है और कारण टल जाने पर शुद्ध होकर अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर हो जाता है।

यद्यपि उपरोक्त आगार परिस्थिति जन्य विवशताओ के कारण अनिच्छा पूर्वक— अपवाद रूप में अपनाये जाते है, फिर भी यह है तो कमजोरी ही। कदाचित् इस प्रकार अनिच्छा पुर्वक लगने वाले मिथ्यात्व के बाह्य अनुमोदन के कारण ही आगम में लिखा है कि श्रमणोपासक—

"एकचाओ मिच्छादंसणसल्लाओपडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया"।

-अर्थात्-श्रावक, मिथ्यादर्शन शल्य से कुछ विरत होता है और कुछ नही भी होता है। टीकाकार भी इसका कारण 'राजाभियोग आदि आगार बतलाते हैं। (उववाई-४१)

हा,तो यह विवशता है, किंतु जब श्रमणोपासक, उपासकप्रतिमा की आराधना करने को तत्पर होता है, तो सबसे पहले वह इस कमजोरी को हटाकर आगार तथा शकादि अतिचार रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नही कि सभी श्रावक प्रतिमा का आराधन करने के पूर्व इन आगारो को आवश्यकता होने पर काम मे लेते ही है। अरहन्नक श्रावक (ज्ञाता ८) ने व्यापारार्थ समुद्र मे सफर करते समय, देवाभियोग उपस्थित होने पर भी धर्म के विपरीत एक शब्द भी नही निकाला।

तात्पर्य यह कि उपरोक्त आगार, सामान्य परिस्थिति मे सेवन करने योग्य नही है।

यदि कोई कहे कि 'अन्य धर्मियो से नहीं मिलना, उन्हे वन्दनादि नही करना, यह तो कट्टरता एव साम्प्रदायिकता है। ऐसे नियम सकुचित हृदय के होते है। यदि दूसरे धर्मवालो का ससर्ग किया जाय,तो आपस में प्रेम भाव की वृद्धि होती है। द्वेष दूर होता है और विचारो का आदान प्रदान होकर दूसरो को भी जैन धर्म की ओर आकर्षित होने के निमित्त मिलते है। इसलिए जैन धर्म के प्रचार की दृष्टि से भी दूसरो से सम्पर्क साधना चाहिए। यह तभी होगा जब कि अन्य तीर्थियों के सम्पर्क मे आया जायगा। इत्यादि।

साम्प्रदायिकता बाधक नहीं

जिस प्रकार कोई सुपुत्र, अपने, माता पिता की ही सेवा भक्ति करता है, वह माता पिता को ससार भर के सभी स्त्री पुरुषो से उच्च स्थान प्रदान करता है, तो इसमे दूसरो को अप्रसन्न होने की क्या बात है ? हाँ, आवश्यकता पडने पर, समय हो,तो वह दूसरो की भी आवश्यक सेवा करता है, किन्तु उन्हे माता पिता नही मानता। इसी प्रकार श्रमणोपासक, अपने देव, गुरु और धर्म को ही परमाराध्य-माने, उन्ही की सेवा करे, तो इससे दूसरो को नाराज होने का कोई कारण नही है। हा यदि कोई अन्य तीर्थी कठिनाई मे हो, तो उसे सहायता देना। उसकी अनुकम्पा बुद्धि से यथा शक्ति सेवा करने की मनाई नही है। सम्यग्दृष्टि की प्रतिज्ञा, उस पितृ-भक्त सुपुत्र की तरह की है, जो अपने पिता को ससार के सभी मनुष्यो की अपेक्षा विशेष पूज्य मानता है। इस उत्तम नियम को साम्प्रदायिकता कहना अज्ञान का परिणाम है।

हेय वस्तु, ईर्षा द्वेष और क्लेशादि है। साम्प्रदायिक क्लेश, द्वेष और कटुता नही होनी चाहिए। यही वस्तु बुरी है। द्वेष रहित, कटुता से दूर रहकर, अपने धर्म की आराधना करना बुरा नही है। यदि इसे साम्प्रदायिकता कहा जाय, तो भी ईर्षा द्वेष और क्लेश रहित साम्प्रदायिकता बुरी नही हो सकती। यह तो सर्वथा असंभव है कि सभी मनुष्य एक ही विचार और एक ही आचार के बन जायँ। ऐसा कभी नही हुआ और होगा भी नही। मनुष्यो में आचार विचार भेद रहा है और रहेगा। इस भेद के कारण ही वर्ग—समुदाय बनते है और ये समुदाय ही सम्प्रदाय कहलाते है। इस प्रकार के वर्ग भेद यदि क्लेशादि रहित हो, तो कोई बुराई नही है। यदि कही ईर्षा द्वेष हो, तो उन्हे ही मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। किंतु जो सम्प्रदायो को ही मिटाना चाहते है, वे धर्म को मिटाने वाले अज्ञानी है। उनके चाहने से भी सम्प्रदायें तो नही मिटेगी, बल्कि नई नई लौकिक और राजनैतिक पार्टियें खडी हो जायगी—होती जा रही है। हाँ वे धर्म को क्षति अवश्य पहुँचा सकेगे।

एक पुत्र अपने एक माता पिता की जितनी अच्छी सेवा कर सकता है, उतनी ससार के सभी स्त्री पुरुषों की नही कर सकता। यदि कोई उसे सभी स्त्री पुरुषो को समान दृष्टि से देखना सिखा दे, तो फल यह होगा कि वह अपने माता पिता की सेवा से भी वचित रह जायगा।

स्त्री, तभी सती कहला सकती है—जब कि वह अपने स्वीकृत पति के सिवाय अन्य सब को पिता, पुत्र या भाई के समान माने, किंतु पति के समान नही माने। इसी प्रकार सच्चा उपासक वही हो सकता है जो अपने स्वीकृत एक उपास्य की ही उपासना करे। जिस प्रकार सभी पुरुषो को समान रूप में स्वीकार करने वाली स्त्री, वेश्या कहलाती है—उसका कोई पति नही होता, उसी प्रकार साम्प्रदायिकता को समाप्त करने वाले भी धर्म घातक होते है। विशालता एव उदारता के नाम पर जो सभी के साथ समान आचरण करने की अनहोनी बाते करते है, वे इसे व्यवहार में भी नही चला सकते। व्यवहार में वे अपने धन में दूसरो का समान हक, अपना घर सबके लिए, तथा दूसरो के पुत्रो को अपने पुत्र के समान मानकर, अपनी जायदाद में से बराबर का हिस्सा नही देते। अपनी पुत्री को किसी दरिद्र तथा अछूत को नही देते। केवल धर्म ही के लिए वे परम उदार बन जाते है। इसका कारण यही है कि उनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी सम्यक् प्रकाश का अभाव है।

प्रेम बढ़ाने के लिए

द्वेष भाव को दूर करके सबके साथ—प्राणी मात्र के साथ, प्रेम भाव रखना और सब को अपनी आत्मा के समान मानना—यह तो जैन धर्म की हित शिक्षा है ही। इसलिए सुश्रावक को अपने सम्पर्क में आने वालो से प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। फिर वह किसी भी मत—वर्ग अथवा सम्प्रदाय का हो।

किंतु अपनी साधना को गौण करके, प्रेम प्रचार के पीछे पड जाना और सिद्धात का भोग देकर भी प्रेम सम्पादन करना-पैसे के लिए रुपया गँवाने के समान है।

धर्म प्रचार के लिए

सभी धर्म-प्रेमी चाहते है कि "जैन धर्म का प्रचार खूव हो। विश्वभर मे जैनधर्म फैल जाय," किंतु वह तभी हो सकता है कि प्रचारक जैनधर्म को अपने असली रूप मे लेकर ही यथा समय अजैनो के सामने जावे। बहुत से समन्वय प्रेमी और अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाले, दूसरो को जैन वनाने के वनिस्वत स्वय अजैन वन कर अपना भी गँवा देते है। ऐसे अनेक प्रसग वन चुके है और वन रहे हैं।

गाधीजी के प्रभाव में आने वाले कई साधु साध्वी और हजारो लाखो जैनी, उनकी ससार लक्षी-आशिक अहिंसा में, जैन धर्म की पूर्ण अहिंसा देखने लगे। कोई विद्वान 'सिद्धसेन दिवाकर' के अपेक्षा पूर्वक कहे गये वचन को आगे करके, सभी मिथ्यामतो के साथ समन्वय करके जैन धर्म को "मिथ्या मतो का समूह" वताने लगे। कोई अपनी साधना को छोड कर 'सर्वधर्म सम्मेलन' करके सव के साथ घुलने मिलने मे ही जैन धर्म का उत्थान वताने लगे। धर्म प्रचार की ओट मे सावद्य तथा ससार-वाद का प्रचार करते हुए अपने धर्म धन को गँवाने के अनेक प्रमाण उपस्थित हो चुके है। इस प्रकार के प्रचारक जैनधर्म का वास्तविक प्रचार नहीं करके परिणाम मे अजैनत्व को अपना लेते है।

अजैनो मे जैनधर्म का प्रचार किया था 'जयघोषऋषि' ने (उतरा० २५) 'केशी श्रमण निर्ग्रंथ' ने (रायपसेणी) 'थावच्चापुत्र अनगार' ने (ज्ञाना ५)और श्री 'आर्द्रकुमार मुनि' ने (सूय २-६)। धर्म का वास्तविक प्रचार किया था सुश्रावक'पिंगल निर्ग्रंथ' ने (भगवती २-१) 'मद्रुक श्रावक' ने (भगवती १८-७) और 'कुडकोलिक' श्रावक (उपास० ६) आदि ने। इस प्रकार का प्रचार ही वास्तविक प्रचार है। ऐसा प्रचार सर्व साधारण जैनी नही कर सकते न सभी साधु ही कर सकते है। विशेष योग्यता वाले ही ऐसा कर सकते है। और वह भी द्रव्य क्षेत्रादि की अनुकूलता को ठीक तरह से समझने वाले ही। अन्यथा क्लेश का कारण वन सकता है। इससे तो अच्छा यही है कि अपनी साधना में ही रुचि रखी जाय और अपनी श्रद्धा को शुद्ध रखते हुए देशविरत होने की योग्यता जगाई जाय।

श्रावक के मनोरथ

ससार मे रहते हुए और—ससार के कार्य करते हुए भी जिसका अंतरग 'जल कमल वत्' भिन्न हो, जो ससार त्याग कर धर्म मय जीवन व्यतीत करना चाहते हो, वे श्रमणोपासक अपने कर्मों की बडी भारी निर्जरा कर लेते है। उनकी आत्मा हलकी होती जाती है। उन श्रमणोपासको के अन्तर्मन में ये मनोरथ उठते ही रहते है कि—

१ वह शुभ दिन कब आयगा कि जब मै अपने पास रहे हुए थोडे या अधिक परिग्रह का त्याग करके परिग्रह के बोझ से हलका बनूगा।

२ वह आनन्दकारी घडी कब आयगी कि मै इस ससार से सर्वथा विरक्त होकर निर्ग्रंथ प्रव्रज्या धारण करूँगा अर्थात् अगार धर्म छोडकर सर्वोत्तम अनगार धर्म को धारण करूँगा।

३ वह कल्याणकारी वेला कब आयगी कि मैं समाधिमरण के लिए तत्पर होकर काल से जूझने के लिए अन्तिम सलेखणा मे लग जाउँगा, और आहारादि का सर्वथा त्याग कर के पादपोपगमन सथारे से मृत्यु की इच्छा नही करता हुआ, धर्मध्यान पूर्वक देह छोडूँ गा।

उपरोक्त तीनो प्रकार का चिन्तन, तथा हृदयोद्गार, स्थिरता पूर्वक करता हुआ श्रमणोपासक, अपने बहुत से कर्मों की निर्जरा कर देता है, और अपनी आत्मा को कर्मों के भार से हलका बना लेता है।

प्रत्येक धर्म बन्धु का कर्त्तव्य है कि सदैव इन उत्तम मनोरथो का चिन्तन करता रहे। कम से कम प्रात काल और रात्रि में सोते समय तो अवश्य ही करे। सम्यग्दृष्टि और श्रावकपन तभी स्थिर रह सकता है, जबकि ससार त्याग कर साधुता अपनाने की भावना हो। इस प्रकार के मनोरथ जिन सम्यग्दृष्टियो के मन मे नही होते और मात्र सासारिक भावना ही दिन रात रमा करती है, उनका पतन होना बहुत सरल हो जाता है, और फिर धर्म के समुख होना भी दुर्लभ हो जाता है और जिस श्रावक का लक्ष्य, साधुता का नही, वह श्रावक, और जिस साधु का लक्ष्य अप्रमत्तता का नही, वह साधु, अवश्य गिरता है और वर्त्तमान स्थान से भी पतित हो जाता है। इसलिए इन उत्तम मनोरथो का बारबार चिन्तन करते रहना चाहिए। (स्थानाग ३-४)

श्रावक के विश्राम

जिम प्रकार वहुत दूर जगल मे से लकडी आदि के भारी वोझ को उठा कर गहर मे जाने वाले वृद्ध एवं दुर्बल भारवाहक को मार्ग में विश्राम लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ससार के आरम्भ परिग्रहादि पाप कर्मों के भार से थके हुए जीव के लिए भी विश्राम लेने की आवश्यकता होती है। ऐसे विश्राम के स्थान चार प्रकार के है। जैसे—

१ भारवाहक, भार के बोझ से विश्राम पाने के लिए एक कन्धे से हटा कर दूसरे कन्धे पर रख कर, पहले कन्धे को विश्राम देता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक भी सावद्य व्यापार रूप पाप भार से विश्राम पाने के लिए पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और अन्य त्याग प्रत्याख्यान से पाप के भार को कुछ हलका कर के विश्राम लेता है।

२ जिम प्रकार मल मूत्र की वाधा दूर करने के लिए भारवाहक, भार को अलग रख कर उतनी देर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, सामायिक और देशावकाशिक व्रत का पालन करते हुए, उतने समय तक अपने पाप भार को अलग रखकर शाति का अनुभव करता है।

३ जिम प्रकार भारवाहक, अपने वोझ को उतारकर मार्ग मे पडते हुए नागकुमारादि देवालयो मे जा कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार श्रमणोपासक, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावश्या को प्रतिपूर्णपौषध कर के, उतने ममय अपनी आत्मा को पाप के भार से अलग कर के विश्राम लेता है।

४ जिम प्रकार निर्धारित स्थान पर पहुँच कर भार से सर्वथा मुक्त हुआ जाता है, उमी प्रकार अन्त समय में सलेखणा अगीकार करके आहारादि का सर्वथा त्याग किया जाता है और पादपोपगमन सथारे मे मृत्यु की कामना नही करते हुए—समाधि पूर्वक रह कर, पाप के भार को सर्वथा त्याग कर, शान्ति का अनुभव किया जाता है।

उपरोक्त चार प्रकार की विश्रान्ति में से उत्तरोत्तर एव अधिकाधिक विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाला, श्रमणोपासक अन्तिम साधना से शीघ्र ही सादिअपर्यवसित विश्राम प्राप्त करके परम सुखीहो जाता है।   (ठाणाग ४—३)

करण के तीन भेद

हिसादि करण के तीन प्रकार है। जैसे कि-१ आरभ २ सरभ और ३ समारभ। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ संरंभ-पृथ्वीकाय आदि जीवो की हिंसा करने का विचार करना अर्थात् हिसा करने का संकल्प करना अथवा योजना बनाना।

२ समारंभ-जीवो को सताप देना, कष्ट पहुचाना, दु ख देना।

३ आरंभ-हिंसा करना, प्राण रहित करना अर्थात् मार देना (उत्तरा० अ० २४ गाथा २१)

ठाणाग सूत्र ३-१ में यह क्रम इस प्रकार है १ आरभ २ सरम्भ ३ समारम्भ। जान बूझकर हिंसा करने वाला पहले मनमे सकल्प करता है। उसके बाद प्रहार आदि से दु ख पहुचाता है, और इसके बाद प्राण रहित करता है। मारने के लिए प्रहार करने पर उस प्रहार से पहले तो सताप (कष्ट) होता है। उसके बाद वह प्राण रहित होता है।

करण,के अन्य तीन भेद-करना, कराना और अनुमोदना रूप से आगे बताया जाता है।

करण योग

क्रिया शरीर धारियो से होती है। वह मन, वचन तथा काया के योग से होती है। क्रिया स्वयं भी की जाती है, दूसरो से भी करवाई जाती है, और क्रिया का अनुमोदन-समर्थन भी होता है। इस करना, करना और अनुमोदना को करण कहते है। ये तीनो करण प्रत्येक योग के साथ लगते है। जैसे-

मनसे-करना, कराना और अनुमोदन करना। इसी प्रकार वचन से और काया से करना, कराना, अनुमोदन करना।

मनसे करना-कल्पना से ही कोई क्रिया करने लग जाना। कई बार मनुष्य, अपने घर मे अथवा धर्म स्थान मे बैठा हुआ और बाहर से कोई क्रिया करता हुआ दिखाई नही दे रहा हो, तो भी वह मन कल्पना द्वारा कई प्रकार के उखाड पछाड कर डालता है। क्रय, विक्रय, सभाषण और भोग तक, मन ही मन कर लेता है। सेठजी सामायिक में जूते खरीदने गये, और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का मानसिक सग्राम का उदाहरण प्रसिद्ध ही है। स्वप्नावस्था मे मनसे ही कितने ही छोटे बडे कार्य किये जाते है। भगवान् महावीर प्रभु ने, छदमस्थता की अन्तिम रात्रि में आये हुए स्वप्न में, एक भयकर पिशाच को पछाड दिया था। मन से आलोचना दि भी की जाती है। इस प्रकार मनसे क्रिया की जाती है।

मनसे करवाना—इसी प्रकार मनोकल्पना द्वारा दूसरों से क्रिया कराई जाती है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन से ही सेना से युद्ध करवाया था। मनसे करने कराने और क्रिया की पूर्ति तथा अनुमोदना तक हो सकती है।

मनसे अनुमोदना—मनसे अच्छा मानना।

वचन से करना—कल्पना को भाषा में उतारना। कई मनुष्य अकेले बैठे हुए, चलते या सोते हुए, अपने आप बड़बड़ाते रहते हैं। जैसे वे किसी क्रिया को शरीर से कर रहे हों। स्वप्न में किसी से संभाषण करना आदि।

वचन से करवाना—किसी को आज्ञा देकर कराना।

वचन से अनुमोदन करना—वाणी से प्रशंसा करना।

काया से करना—शरीर से क्रिया करना।

काया से करवाना—'मैं करूंगा, तो मुझे देखकर दूसरे भी करेंगे"—यह सोचकर शरीर से करना प्रारंभ करके, दूसरों से करवाना अथवा शरीर से संकेत करके करवाना।

काया से अनुमोदन—कार्य को अंगीकार करके काया से समर्थन करना।

इस प्रकार तीनों योग के प्रत्येक के तीन तीन करण होते हैं।

एकेन्द्रिय के केवल काय योग ही होता है। बेइन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के काय और वचन ये दो योग होते हैं, और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, नारक, मनुष्य और देवों के तीनों योग होते हैं।

श्रावक के प्रत्याख्यान के ४९ भंग

करण और योग द्वारा सभी सयोगी जीवों को क्रिया लगती है, किन्तु अशुभ क्रिया का त्याग केवल संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों को ही होता है। मनुष्यों में भी साधुओं का त्याग तो तीन करण तीन योग से होता है, किन्तु तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य देशविरत श्रावकों के त्याग ऐच्छिक होते हैं। उनके त्याग के मूल भंग ९ और उत्तर भंग ४९ होते हैं।

मूल नौ भंग इस प्रकार हैं—१ तीन करण, तीन योग, २ तीन करण दो योग ३ तीन करण एक योग, ४ दो करण तीन योग, ५ दो करण दो योग, ६ दो करण एक योग, ७ एक करण तीन योग ८ एक करण दो योग, और ९ एक करण एक योग।

उत्तर भंग ४९ इस प्रकार है,—

१ तीन करण तीन योग—करुँ नही, कराऊँ नही, अनुमोदू नही, मन से, वचन से और काया से ।
२ तीन करण दो योग—करुँ नही, कराऊँ नही, अनुमोदू नही—मन से और वचन मे ।
३ ,, ,, ,, ,, ,, —मन से और काया से ।
४ ,, ,, ,, ,, ,, —वचन से और काया से ।
५ तीन करण एक योग—करुँ नही, कराऊँ नहीं, अनुमोदू नही—मन से ।
६ ,, ,, ,, ,, ,, —वचन से ।
७ ,, ,, ,, ,, ,, —काया से ।
८ दो करण तीन योग—करुँ नही, कराऊँ नही—मन से, वचन से और काया से ।
९ ,, ,, करुँ नही, अनुमोदू नही— ,, ,, ,,
१० ,, ,, कराऊँ नही अनुमोदू नही— ,, ,, ,,
११ दो करण दो योग—करुँ नही, कराऊँ नही—मन से और वचन से ।
१२ ,, ,, ,, ,, —मन से, काया से ।
१३ ,, ,, ,, ,, —वचन से काया से ।
१४ ,, ,, —करुँ नही अनुमोदू नही—मन से, वचन से।
१५ ,, ,, ,, ,, —मन से, काया से ।
१६ ,, ,, ,, ,, —वचन से काया से ।
१७ ,, ,, —कराऊँ नही, अनुमोदू नही—मन से, वचन से ।
१८ ,, ,, ,, ,, —मन मे, काया से ।
१९ ,, ,, ,, ,, वचन से और काया से ।
२० दो करण एक योग—करुँ नही, कराऊँ नही—मन से
२१ ,, ,, ,, ,, —वचन मे ।
२२ ,, ,, ,, ,, —काया से ।
२३ ,, ,—करुँ नही, अनुमोदू नही—मन से ।
२४ ,, ,, ,, ,, वचन से ।
२५ ,, ,, ,, ,, काया से ।
२६ दो करण एक जोग से—कराऊँ नही अनुमोदू नही—मन से ।
२७ ,, ,, ,, ,, —वचन से।

२८ दो करण एक जोग से कराऊँ नही अनुमोदू नहीं—काया से ।
२९ एक करण तीन योग से—करूँ नहीं—मन से, वचन से, काया से ।
३० " " —कराऊँ नही " " "
३१ " " —अनुमोदू नही " " "
३२ एक करण दो योग से—करूँ नहीं—मन से, वचन से ।
३३ " " "—मन से, काया से ।
३४ " " "—वचन से, काया से ।
३५ " " —कराऊँ नहीं—मन से, वचन से ।
३६ " " " —मन से, काया से ।
३७ " " " —वचन से, काया से ।
३८ " " —अनुमोदू नही—मन से, वचन से ।
३९ " " " —मन से, काया से ।
४० " " " वचन से काया से ।
४१ एक करण एक योग से—करूँ नहीं—मन से ।
४२ " " " —वचन से ।
४३ " " " —काया से ।
४४ " " —कराऊँ नहीं—मन से ।
४५ " " " —वचन से ।
४६ " " —काया से ।
४७ " अनुमोदू नहीं —मन से ।
४८ " " " —वचन से ।
४९ " " " —काया से ।

(भगवती ८—५)

प्रत्याख्यान करके वह भूतकाल का प्रतिक्रमण करता है। वर्त्तमान काल का संवरण करता है और अनागत काल आश्रित त्याग करता है। इस प्रकार तीन काल की गणना से कुल १४७ भग हुए। इन १४७ भगो में से स्थूल मृषावाद आदि का त्याग भी समझ लेना चाहिए।

प्रथम भग से साधु साध्वियो के सर्व सावद्य के त्याग होते हैं। श्रावको के लिए सभी भग यथा शक्ति उपयोग मे आ सकते है। श्रावक तीन करण तीन योग से सर्व सावद्य योग का त्याग, अल्पकाल

के लिए नहीं कर सकता। जिन सावद्य विषयो को वह सदा के लिए त्याग देता है, उन्ही विषयो में वह तीन करण तीन योग से त्याग कर सकता है। सामायिक के समय वह अनुमोदना का त्याग नही कर सकता। इस विषय में 'विशषावश्यक भाष्य' गाथा २६८४ से २६८६ तक विचार किया गया है। उसका भाव यह है कि—

"जिस गृहस्थ के गृहकार्य—व्यापारादि सावद्यक्रिया चल रही है और जो सर्व विरत होने को तय्यार नही है,—ऐसा श्रावक (सामायिक के समय) "मै सर्व सावद्य का तीन करण तीन योग से त्याग करु"—ऐसा कह कर त्याग करे, तो वह सर्व विरति और देश—विरति इन दोनो का पालक नही हो सकता। (यह निर्युक्ति की गाथा का भाव है। आगे भाष्यकार कहते हैं कि—)

यहा प्रश्न हो सकता है कि—"जिस प्रकार वह सावद्य योग करने और कराने त्याग करता है, उसी प्रकार अनुमोदन का त्याग क्यो नहीं कर सकता ?" इसके उत्तर में कहा जाता है कि गृहस्थ सामायिक के पूर्व जिस गृहारभ आदि कार्य मे सावद्य कर्म कर रहा था और सामायिक पालने के बाद भी करेगा—ऐसे सावद्य कर्म की अनुमोदना का त्याग करने में वह शक्तिमान् नही है।

श्रावक, स्थूल प्राणातिपातादि का त्रिविध त्रिविध त्याग कर सकता है, किन्तु सर्व सावद्य योग का नही। स्वयभूरमण आदि समुद्र के मत्स्य सबधी तथा मासादि निष्प्रयोजन अथवा मनुष्य क्षेत्र के बाहर की अप्राप्य वस्तु विशेष का त्रिकरण त्रियोग से त्याग करे, तो दोष नही लगता, अथवा चारित्र के परिणाम से, परिवारादि की बाधा के कारण, ग्यारह प्रतिमा धारण करे, तो (अथवा अतिम सलेखणा सथारा में) सर्व सावद्य का त्याग कर सकता है, किन्तु जिस चालू आरभ में वह आगे भी प्रवृत्ति करेगा-ऐसे सावद्य कर्म की अनुमति का वह कुछ समय के लिए त्याग नही कर सकता। उसकी अनुमति खुली ही रहती है।

यह 'विशेषावश्यक भाष्य' का अभिप्राय है। भगवती श० ८ उ० ५ मे भी सामायिक में रहे हुए श्रावक के ममत्व का अस्तित्व माना है और उस ममत्व के कारण ही वह चोरी गई हुई वस्तु की खोज करता है।

यहा यह विचारणीय है कि ग्यारहवी प्रतिमा का आराधक श्रावक, ग्यारह महीनो के लिए तीनकरण तीनयोग से त्याग करता है। यद्यपि वह समय पूर्ण होने के बाद पुन गृहस्थ नही होता, किंतु उसके त्याग जीवन पर्यन्त के नही होते। प्रतिमाकाल पूर्ण होने पर वह या तो पुन उसी का पालन प्रारभ कर देता है, या सर्व विरत हो जाता है अथवा आयु निकट जानकर अतिम साधना में तत्पर हो जाता है।

विशुद्ध प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान दो प्रकार के होते हैं। एक तो दुष्प्रत्याख्यान और दूसरा सुप्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान और उसका स्वरूप जाने बिना और समझे बिना किया जानेवाला प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान होता है और प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जा रहा है उन जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानकर, प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है। (भगवती ७-२)

सुप्रत्याख्यान, पाच प्रकार की विशुद्धि पूर्वक होते हैं। जैसे-

१ श्रद्धान शुद्ध-जो प्रत्याख्यान किये जायँ, उनको उनके विषय को समझकर श्रद्धा पूर्वक किये जाय। उनपर पूर्ण श्रद्धा रखी जाय। वह श्रद्धान शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ विनय शुद्ध-प्रत्याख्यान लेते समय वन्दन नमस्कार करना, मन वचन और काया के योगो का गोपन करके विनय सहित स्वीकार करना और आदर सहित पालन करना- विनयशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ अनुभाषण शुद्ध-गुरु से विनय पूर्वक प्रत्याख्यान करते समय, गुरु वचनो को धीमे शब्दो से अक्षर पद व्यजन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दुहराना-अनुभाषण शुद्ध है।

४ अनुपालन शुद्ध-रोग, अटवी आदि विषम परिस्थिति में भी प्रत्याख्यान को दूषित नही होने देना-अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है।

५ भाव शुद्ध-राग, द्वेष, प्रशसा तथा क्रोधादि बुरे भावों से प्रत्याख्यान को दूषित नही होने देना-भाव शुद्ध प्रत्याख्यान है। (ठाणाग ५-३)

आवश्यक हारिभद्रीय में छठा कारण 'ज्ञान शुद्ध' का भी है, किंतु इसका समावेश 'श्रद्धान शुद्ध' में हो जाता है। उपरोक्त प्रकारको शुद्धि के साथ किये जाने वाले प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान होते हैं और उन का फल भी अच्छा होता है।

व्रत में लगने वाले दोषों का क्रम

श्रावक अथवा साधुव्रत में दूषण लगने का भी एक क्रम है। सब से पहले दोष की उत्पत्ति मन में होती है-विचार रूप से होती है। इस के बाद वह कार्य रूप में आती है। पूर्वाचार्यों ने इसका क्रम इस प्रकार बनाया है।

१ अतिक्रम-व्रत को भग करने का विचार करना अथवा व्रत भंग करने वालो का अनुमोदन करना।

२ **व्यतिक्रम**—व्रत भग करने के लिए तत्पर होना। सकल्प-विचार को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए प्रवृत्त होना।

३ **अतिचार**—व्रत भग की सामग्री मिलाना। व्रत के सम्पूर्ण भग से पूर्व की अवस्था, जिस मे व्रत भग से सबधित सामग्री सग्रहित की जाती है।

अनाचार—व्रत को नष्ट कर देना। अर्थात् व्रत के विरुद्ध-त्याग की हुई वस्तु का भोग करना।

यह है दोष का क्रम। (ठाणाग ३-४ तथा आवश्यक सूत्र) किसी भी विषय में प्रवृत्त होने के पहले मन मे सकल्प होता है। उस के बाद प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कर के सामग्री प्राप्त की जाती है और उसके बाद उसका सेवन किया जाता है। सेवन करने के पूर्व की अवस्था मे व्रत का देश भग (आशिक खण्डन) होता है और सेवन कर लेना सर्वथा भग है।

कभी ऐसा भी होता है कि मात्र अतिक्रम के बाद ही साधक सावधान हो जाय और दोष को वही अटका कर शुद्धि कर ले। कोई व्यतिक्रम और अतिचार तक दोष लगाकर भी शुद्धि कर के पुन दोष रहित हो जाते है और कोई कोई उदय की प्रबलता मे व्रत का सर्वथा भग कर देते है।

'पिडनिर्युक्ति' गा १७९ मे इन दोषो की व्यवस्था इस प्रकार बताई है।

साधु के आधाकर्मी आहार लेने का त्याग होता है। यदि कोई अनुरागी श्रावक, साधु के लिए आहार तय्यार कर के साधु को निमन्त्रण देता है और साधु, उस निमन्त्रण को स्वीकार कर के आहार लेने के लिए उठे, पात्र ग्रहण कर के गुरु से आज्ञा प्राप्त करे, तो इतनी क्रिया— इस स्थिति तक, अति-क्रम दोष माना है। उपाश्रय से चलकर गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने और वह आहार लेने के लिए पात्र आगे करने तक की क्रिया व्यतिक्रम है। आहार ग्रहण करके वापिस उपाश्रय मे आने, गुरु को बता कर खाने को तत्पर होने तक की क्रिया अतिचार है, और खा लेना अनाचार है।

अतिक्रमादि दोषो का प्रायश्चित्त भी उत्तरोत्तर बढता हुआ होता है।

'धर्मसग्रह' के तीसरे अधिकार मे लिखा है कि—मूलगुणो मे अनाचार से, व्रत का सर्वथा भग हो जाता है। फिर पुन व्रत ग्रहण करने पर ही विरत माना जाता है। उत्तरगुणो मे अनाचार तक दोष लगने पर भी चारित्रका सर्वथा भग नही माना जाता, किंतु मलीनता आती है।

दोष का आशिक सेवन करने के बाद परिणति पलटने से पुन सावधान होना एक बात है। किंतु सामग्री की पूर्ण अनुकूलता नही होने से, या कोई बाधा उत्पन्न होजाने से, शरीर द्वारा पूर्ण भग नही हो, तो भी उसके व्रत को सुरक्षित नही माना जा सकता, क्यो कि वह असयमी आत्म परिणति के कारण अनाचार से नही बचा है। किंतु बाधा उत्पन्न होने से अन्तराय लग गई है।

अतिक्रम का उपरोक्त रूप, अपेक्षा पूर्वक है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मन से केवल अतिक्रम ही होता है, व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार नहीं होता। मन से अनाचार तक हो सकता है। लज्जा जनक नीन्दनीय एवं दण्डनीय कई ऐसे दुराचार होते हैं कि जिनका वचन और काया के द्वारा सेवन होना बड़ा कठिन होता है, किन्तु मन से सेवन होने में कठिनाई नहीं होती। प्रायः ऐसा भी होता है कि अनेक बार मन से अनाचार का सेवन करने के बाद, कभी शरीर से अनाचार सेवन का योग मिलता है। मन से भी करना कराना और अनुमोदना मानी ही है,उसी प्रकार मन से भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार भी होता है। मन से अतिक्रम उसी हद तक हो सकता है, जहां तक केवल अनाचार सेवन का विचार हुआ हो। उन विचारों की पूर्ति का निश्चय करना व्यतिक्रम है। अनाचार के साधनों सम्बन्धी विचारणा अतिचार है, और मन द्वारा अनाचार का सेवन कर लेना-व्रत को मन के करण से भंग कर देना है। इसी प्रकार वचन और काया से भी अतिक्रमादि हो सकता है। जिस प्रकार गृहस्थावस्था में रहते हुए भी परिणामों की धारा चढ़ने से अप्रमत्त दशा=भाव संयम की प्राप्ति हो सकती है, उसी प्रकार केवल मन द्वारा अनाचार का सेवन भी हो सकता है।

लिये हुए व्रतों को निर्दोष रूप से पालन करना और यदि जानते अनजानते अचानक दोष लग-जाय, तो उसकी शुद्धि कर लेने से ही व्रत निर्मल रहते हैं। आत्मार्थी, दोषों को चलाते नहीं रहते। ऐसे आत्मार्थी-भाव विरतों के चरणों में त्रिकाल वन्दना।

श्रावक के २१ गुण

नीचे लिखे गुणों को धारण करनेवाले में विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। वे गुण ये हैं।

जिन गुणों के धारण करने से दर्शन-श्रावक, देश-विरत श्रावक होता है, वे गुण इकवीस इस प्रकार हैं।

१ अक्षुद्र-जो तुच्छ स्वभाव का नहीं होकर गंभीर हो।

२ रूपवान्-मनोहर आकृति वाला हो, सम्पूर्ण अंगोपांग वाला हो, अर्थात् जिसके चेहरे पर वीभत्सता नहीं झलकती हो।

३ सौम्य प्रकृति-जो शान्त स्वभाव वाला हो-उग्र नहीं हो अर्थात् विश्वास पात्र हो।

४ लोक प्रिय-लोक के विरुद्ध आचरण नहीं करने वाला और जनता का विश्वास पात्र हो। सदाचार युक्त हो, और यह इस लोक और परलोक बिगाड़ने जैसा आचरण नहीं करता हो।

५ अक्रूर–क्लेश रहित, कोमल स्वभाव वाला हो।

६ भीरु–पाप और दुराचार से डरने वाला हो।

७ अशठ–कपटाई छल प्रपञ्च से रहित हो अथवा–समझदार हो।

८ दाक्षिण्य युक्त–परोपकार करने में तत्पर हो। अपना काम छोडकर भी जो दूसरे के कार्य मे तत्पर रहता हो।

९ लज्जालु–जो दुराचार करने से शरमाता हो। सदाचार के विपरीत व्यवहार करते समय जिसे लज्जा का अनुभव होता हो।

१० दयालु–दुखियो को देखकर जिसका हृदय कोमल हो जाता हो। जो दुखियो की सेवा करने में तत्पर हो।

११ मध्यस्थ–पक्षपात रहित मध्यस्थ वृत्तिवाला हो।

१२ सौम्य दृष्टि–प्रेम पूर्ण दृष्टिवाला हो। क्रूर दृष्टि, कुपित चेहरा जिसका नही हो। जिसके नैत्रो से सौहार्द टपकता हो।

१३ गुणनुरागी– गुणवानो से प्रेम करनेवाला। गुणवानो के प्रति आदर रखनेवाला–गुण पूजक।

१४ सत्कथक–धर्म और सदाचार की बाते करनेवाला, अथवा धर्म कथा सुनने की रुचि वाला।

अथवा–

सुपक्ष युक्त–सदा सत्यपक्ष–न्याय युक्त पक्ष को ग्रहण करनेवाला।

१५ सुदीर्घदर्शी–परिणाम का पहले से, भली प्रकार से विचार करके कार्य करनेवाला।

२१ विशेषज्ञ–हित और अहित को भली प्रकार से समझनेवाला अथवा तत्त्व ज्ञान को अच्छी तरह से समझनेवाला।

१७ वृद्धानुगत–ज्ञान–वृद्ध एवं अनुभव–वृद्धजनो का अनुसरण करनेवाला।

१८ विनीत–बडो का अथवा गुणीजनो का विनय करनेवाला।

१९ कृतज्ञ–अपने पर दूसरो के द्वारा किये हुए उपकार को नही भूलनेवाला।

२० पर हितार्थ–दूसरो का हित करने में तत्पर रहनेवाला।

२१ लब्ध लक्ष्य–जिसने अपने लक्ष्य को अच्छी तरह समझ लिया हो।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार २३८ से)

उपरोक्त गुणो वाले श्रावको में विरति का गुण सरलता से प्रकट होता है। अतएव उपरोक्त गुणो को जगाकर अविरति से देश विरत होने का प्रयत्न करना चाहिए।

●● ●●● × ×☆☆●●●☆☆× × ●●● ●● ●

श्रावक विशेषताएँ

सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा श्रमणोपासकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है कि जिनसे उनके जीवन और आचरण से ही जैनत्व का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। गणधर भगवंतों ने उन श्रावकों की विशेषताओं का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है।

१ श्रावक, जीव अजीव आदि नौ तत्वों के ज्ञाता होते हैं। हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक रखते हुए भेद विज्ञान में कुशल होते है, और बहुश्रुतों से पूछ कर रहस्य ज्ञान को प्राप्त कर, तत्वज्ञ होते हैं।

२ दृढ़ धर्मी श्रावक, अपने किसी कार्य में देवता की सहायता नहीं चाहते। यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वे अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मानकर शान्ति से सहन करते हैं, किन्तु किसी देव की सहायता के लिए नहीं ललचाते। यह उनके दृढ़ धर्मी होने का प्रमाण है।

३ उन श्रावकों के हृदय में निर्ग्रंथ प्रवचन इतना दृढ़ीभूत हो जाता है कि उससे विचलित करना, बड़े बड़े देवों के लिए भी अशक्य हो जाता है। वे प्राण त्यागना स्वीकार कर लेते हैं, किंतु धर्म त्यागना स्वीकार नहीं करते। यह उनकी धार्मिक दृढ़ता की पराकाष्ठा है।

४ श्रावक, निर्ग्रंथ प्रवचन में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके हृदय में जिनेश्वर के वचनों में शंका कांक्षादि दोष प्रवेश नहीं कर सकते।

५ श्रावक, तत्त्वज्ञान एवं सिद्धांतों का रहस्य जानने को उत्सुक रहते हैं। गूढ़ तत्त्वों एवं समझने योग्य विषयों को बहुश्रुतों से पूछकर समझते हैं और निर्णय करके उस पर विशेष दृढ़ श्रद्धावान् होते है। उनके शरीर की हड्डी और नशों में और शरीर में व्याप्त समस्त आत्म प्रदेशोंमें जिन धर्म का प्रेम, पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है।

६ जहां उन्हें धर्म के विषय में कुछ कहना होता है, वहां वे निर्ग्रंथ धर्म को ही सर्वोत्तम बतलाते हैं। जहां अपने धर्म बन्धुओं से मिलना होता है. वहां उनका धर्म प्रेम हृदय की सीमा को लांघकर बाहर आ जाता है और वे बोल उठते हैं कि—

"निर्ग्रंथ प्रवचन ही इस विश्व में एक मात्र अर्थ है। यही परमार्थ है। इसके सिवा संसार के सारे पदार्थ तथा समस्त वाद अनर्थ रूप हैं"।

७ श्रावक के घर के दरवाजे दान के लिए सदैव खुले रहते हैं। वह इतना उदार होता है कि गरीबों और भिखारियों आदि को भी अनुकम्पा बुद्धि से आहारादि का दान करता है।

वह धर्म मे इतना दृढ होता है कि किसी भी वादी से नही डरता। यदि कोई पर–वादी उसे धर्म से डिगाने के लिए आवे, तो वह उससे डरता नही, किन्तु शान्ति पूर्वक उसे असफल करके लौटा देता है।

८ वह जन जीवन मे बडा प्रामाणिक एव विश्वास पात्र होता है। उसका गृहस्थ जीवन भी उज्ज्वल होता है, यदि वह किसी के रत्नो के ढेर अथवा अन्त पुर में पहुँच जाय, तो भी उसकी प्रामाणिकता में किसी को सन्देह नही होता।। अर्थात् वह हाथ तथा लगोट का सच्चा एव विश्वास पात्र होता है।

९ श्रावक, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अनेक प्रकार के प्रत्याख्यानो का पालन करता है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को पौषधोपवास करके धर्म की आराधना करता रहता है।

१० श्रावक, निग्रथ श्रमणो को निर्दोष आहार, पानी, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, रजोहरण पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक और औषध भेषज का यथा योग्य प्रतिलाभ करता रहता है।

(भगवती २–५ सूयग० २–२)

इन विशेषताओ से भी श्रावको द्वारा निर्ग्रंथ प्रवचन की प्रभावना होती है। उनके सम्पर्क मे आने वालो के हृदय में जैन धर्म के प्रति आदर भाव उत्पन्न होकर अनायास ही प्रचार और प्रसार होता है। यह तभी होता है जब कि स्वार्थ को गौण रखकर धर्म को मुख्यता दी जाय। आज भी उपरोक्त विशेषताओ को यथा शक्ति जीवन में उतारा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त आत्मा की विशेष उज्ज्वलता बताने वाले विशेषण इस प्रकार है।

११ अल्प इच्छा वाले– जिन्होने अपनी इच्छा को घटा कर बहुत कम करदी है।

१२ अल्पारभी–जिन्होने विरति के द्वारा आरभ के कार्यों को कम कर दिया है।

१३ अल्प परिग्रही–परिग्रह की ममता घटा कर, धन सम्पत्ति की सीमा कम करदी है।

१४ धार्मिक–श्रुत और चारित्र धर्म की आचरणा मे तत्पर।

१५ धर्मानुज्ञा–धर्म आचरण की अनुज्ञा देने वाले अथवा धर्मानुसार आचरण करने वाले।

१६ धर्मिष्ठ–जिन्हे धर्म बहुत प्रिय है अथवा जो धर्म में स्थिर है।

१७ धर्म कथक– धर्म का प्रचार करने वाले।

१८ धर्म प्रलोचक–धर्म की गवेषणा करने वाले, विवेक बुद्धिसे धर्म और अधर्म का स्वरूप समझने मे कुशल।

१९ धर्म प्रज्वलक–धर्म का प्रकाश करने वाले।

२० धर्म समुदा चारक–प्रसन्नता पूर्वक धर्म के आचार का पालन करने वाले।

२१ धर्म पूर्वक आजीविका-जिनके व्यापारादि आजीविका के साधन में झूठ, कपट, हिंसा, क्रूरता आदि पाप नही होते । जो न्याय नीति एवं सच्चाई के साथ अल्पारम्भी आजीविका से जीवन व्यतीत करते है ।

२२ सुशील-सदाचारी ।

२३ सुव्रती-जिन की चित्तवृत्ति बडी शुभ है अथवा जो बुरे कार्यों से विरत है ।

२४ सुप्रत्यानन्द-सदाचार-धर्माचार मे आनन्द मानने वाले ।

२५ क्षेमकर-सभी प्राणियो के रक्षक होने के कारण वे प्राणियो को आनन्द देने वाले है (सूय० २-७)

(सूय० २-२ उववाई ४१)

उपरोक्त विशेषणो में सभी प्रकार के श्रावक-गुणो का समावेश हो गया है । ऐसे सद्गुणो के धारक श्रमणोपासक,आदर्श होते है । वे यहा भी उत्तम जीवन व्यतीत करते है और अन्तिम समय सुधार कर शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार के श्रमणोपासक गृहस्थ दशा में रहते हुए भी भगवान् की आज्ञा के आराधक होते है ।

धर्म--दान महोपकार

जिनके उपकार का बदला चुकाना अत्यन्त कठिन होता है, ऐसे तीन प्रकार के उपकारी होते है । १ मातापिता २ पोषक और ३ धर्माचार्य । इन तीनों का महान् उपकार होता है । इनके उपकार रूपी ऋण से पूर्णतया मुक्त होने का उपाय केवल धर्मदान ही है ।

१ कोई सुपुत्र, अपने माता पिता के शरीर का, नित्य उत्तम प्रकार के तैल से मालीश करे, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करे, सुगन्धित जल से स्नान करावे, उत्तम वस्त्र तथा आभूषणो से सुशोभित करे, और उत्तम प्रकार के स्वादिष्ट सुखकारी तथा सुरुचि पूर्ण भोजन करावे तथा उन्हे उनकी इच्छानुसार भ्रमण करावे, तो भी वह पुत्र, अपने माता पिता के महान् उपकारो के ऋण से मुक्त नही हो सकता । किन्तु वह पुत्र यदि अपने माता पिता को केवली प्ररूपित धर्म समझावे और भेदानुभेद से धर्म का बोध देकर उन्हें धर्म में स्थापित करे, तो वह पुत्र, अपने माता पिता के उपकार रूपी ऋण से मुक्त हो सकता है ।

२ कोई महानुभाव, किसी दीन-दरिद्री-दुःखी पर कृपा कर उसे आजीविका से लगावे, उसे धन देकर सुखी करे, उसकी दरिद्रता मिटादे । फिर वह दरिद्र वैभवशाली होकर उत्तम प्रकार के भोग भोगता

हुआ समय वितावे । कालान्तर मे वह कृपालु महानुभाव, अशुभ कर्म के उदय से दरिद्रावस्था को प्राप्त होकर अपने बनाये हुए उस धनवान के पास आवे और वह अपने उपकारी के उपकार का स्मरण कर अपनी समस्त सम्पत्ति उस पूर्व के कृपालु को समर्पित कर दे और स्वय उसका सेवक बन कर रहे, तो भी उसके महान् उपकार का बदला पूर्ण रूप से नही चुका सकता । किंतु उसे जिनेश्वर भगवान् का धर्म समझाकर उसे धर्मी बनादे, तो वह अपने पर किये हुए उपकार के ऋण से मुक्त हो सकता है ।

३ किसी शुद्धाचारी सत के मुह से धर्म का एक पद मात्र सुनकर और उसकी रुचिकर के कोई मनुष्य देवलोक मे उत्पन्न हुआ । उधर वे धर्माचार्य, दुष्काल प्रभावित क्षेत्र मे, आहारादि की अप्राप्ति से, कठिनाई मे पड़जाय अथवा किसी रोगादि उपद्रव मे फँस जाय, तो उनकी कठिनाई को जानकर कर वह देव, उन्हे अच्छे क्षेत्र मे लेजाकर रखे, साताकारी स्थान पर पहुँचा दे, अटवी से निकाल कर बस्ती में पहुँचा दे और रोगादि उपद्रव को मिटाकर शान्ति कर दे । इतना सब करने पर भी वह देव, धर्माचार्य के ऋण से सर्वथा मुक्त नही हो सकता, परन्तु वे धर्माचार्य कदाचित् धर्म से चलित हो जाय-पतित हो जाय, तो उन्हे पुन जिनोपदेशित धर्म मे स्थापित तथा स्थिर करने से वह देव, धर्माचार्य के ऋण से मुक्त हो सकता है । (ठाणाग ३-१)

साराश यह कि भोजन दान, धन दान, और दूसरे प्रकार की पौद्गलिक सहायता, सदा के लिए उपकारी नही होती । अधिक से अधिक इस भव तक ही रह सकती है, किन्तु धर्मदान ऐसा है कि भवान्तर में भी साथ रहकर सुखी कर देता है । दु ख के मूल कारणो को नष्ट कर देता है । दु ख के मूल कारणो को नष्ट कर परम्परा से शाश्वत सुख दे सकता है । इसलिए धर्मदान ही महान् उपकार है । पौद्गलिक दान की अपेक्षा धर्मदान परम उत्कृष्ट दान है । श्रमणोपासको को अपने परिचय में आने वाले सभी मनुष्यो को यथावसर धर्म के समुख करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, और उपबृहणा, स्थिरीकरण, वत्सलता तथा प्रभावना—इन दर्शनाचार के चार आचारो से धर्म प्राप्ति, स्थिरता तथा वृद्धि मे निमित्त रूप बनना चाहिए । (उत्तरा० २८, प्रज्ञापना १)

श्रमणोपासक की उपमाएँ

प्रत्येक शुभ और अशुभ वस्तु को विशेष रूप से समझने के लिए उपमा दी जाती है । यो तो असत् उपमा भी दी जाती है, किंतु श्रमणोपासको को जो उपमा दी गई, वे गुणनिष्पन्न है । गुणानुसार श्रमणोपासको को नीचे लिखी आठ उपमाएँ दी गई है ।

१ माता पिता समान—जिस प्रकार माता पिता अपने पुत्र का वत्सलता पूर्वक पालन करते है, उसी प्रकार कई श्रमणोपासक, साधु साध्वियो के हितैषी, हित चिन्तक और उनके अभ्युदय के इच्छुक होते है, वे माता पिता के समान हैं ।

२ भाई समान–श्रमणोपासक, साधुओ के भाई के समान भी होते है। तत्त्व चिन्तन आदि अथवा उपदेश मे साधुओ से कभी मत भेद होने पर भी वे भाई के समान साधुओ के हितैषी होते है।

३ मित्र समान–साधु और श्रावक में आपस में प्रीति होती है। कदाचित् मतभेद से अप्रीति हो जाय तो भी आपत्ति काल में एक मित्र की तरह सहायक होते है–वे मित्र समान है।

४ सौत समान–साधुओं का सदा अहित चिंतन करने वाले और उनके दोषो तथा छिद्रो को ह देखने वाले सौत के समान है। जिस प्रकार दो सौतें आपस मे डाह करती है, उसी प्रकार साधुओ द्वेष रखने वाले श्रावक, सौत के समान है।

५ आदर्श समान–जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) सामने आये हुए पदार्थों का प्रतिबिंब ग्रह करता है, उसी प्रकार साधुओ के उपदेश में आये हुए सैद्धांतिक भावो को, यथार्थ रूप से ग्रहण कर वाला श्रमणोपासक, आदर्श के समान है।

६ पताका समान–जिस प्रकार वायु के दिशा बदलने से पताका का रुख भी बदलता रहता है उसी प्रकार साधु की देशना अथवा प्ररूपणा के अनुसार बदल कर उसी भाव में बहते रहने वाल श्रावक, अस्थिर परिणामी–पताका के समान होता है।

७ स्थाणु समान–जो श्रावक, गीतार्थ से सिद्धान्त के रहस्यो को सुन कर भी जो अपने ही आग्र पर दृढ रहता है, वह स्तंभ के समान–नही झुकने वाला * है।

८ खरकंटक समान–जिस प्रकार बबूल आदि के कांटे मे उलझा हुआ वस्त्र फटता है औ छुड़ाने वाले के हाथो मे भी चूभ जाता है, उसी प्रकार कुछ दुराग्रही श्रावक साधुओ को कठोर वच रूपी बाणों से बिंध कर कष्ट पहुँचाते है। (स्थानांग ४–६)

माता पिता और आदर्श के समान श्रावक, सर्वोत्तम होते है और सौत तथा खरकण्टक के सम श्रावक अधम कोटि के होते है।

उपरोक्त उपमाएँ साधुओ की अपेक्षा से है, कुसाधु अथवा दुराचारियो की अपेक्षा से नही कुसाधुओ से असहयोग करने वाला तथा संघ रक्षार्थ कुसाधुओ से समाज को सावधान करने वाल संघ का हित चिंतक है।

* जो गोबर के खीले के समान डिगमिगाता नहीं, किंतु धर्म मे दृढ़ रहकर चतुर्विध संघ के ि स्तंभ के समान आधारभूत हो, वह भी स्तभ के समान हो सकता है। इस प्रकार स्तंभ की शुभ उपमा हो सकती है।

आगम स्वाध्याय

अनगार भगवत तो स्वाध्याय करते ही है, किन्तु श्रमणोपासको को भी आगमो का स्वाध्याय करना चाहिए। जब शास्त्र पुस्तकारूढ नही हुए थे, + तब श्रमणोपासक, अनगार भगवतो से श्रवण कर के यथा शक्ति आगमो और उनके अर्थों को धारण करते थे। अनगार जीवन मे क्रमानुसार और विधि पूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त करना जितना सरल होता है, उतना गृहस्थ के लिए नही। सिलसिले से आगम ज्ञान ग्रहण करने में उसके सामने अनेक प्रकार की बाधाएँ होती थी। खास बात तो यह कि अनगार भगवत, सिवाय चातुर्मास के एक स्थान पर अधिक नही ठहरते थे और उसमे भी उनकी चारित्र सबधी क्रिया–प्रतिलेखना, प्रमार्जना, प्रतिक्रमण, ध्यानादि क्रियाओ में अधिक समय जाता था। इसके सिवाय उनका ठहरना भी, विशेपकर ग्राम के बाहर होता था, इसलिए वे गृहस्थ को क्रमानुसार आगम मुखपाठ करवावे और गृहस्थ सदैव उनके साथ रहकर सीखे, यह बहुत कठिन था। इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी कुशाग्र बुद्धि वाले अनेक श्रावक, श्रुतज्ञान से युक्त थे। वे सूत्र अर्थ और दोनो को जानने वाले–तत्त्वज्ञ थे। नीचे लिखे प्रमाणो से श्रावको का आगमज्ञ होना सिद्ध होता है।

१ आनन्द कामदेवादि श्रावक आगमज्ञ थे। उनके विषय मे समवायागसूत्र और नन्दीसूत्र में लिखा है कि–

"**सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं**"–वे सूत्र को ग्रहण किये हुए और उपधान आदि तप सहित थे।

२ पालित श्रावक के विषय में उत्तराध्ययन २१ में लिखा है कि–

"**निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए**"–अर्थात्–वह निर्ग्रंथ प्रवचन मे पडित था।

३ राजमतीजी दीक्षा लेने के समय 'बहुश्रुता' थी। उसके विषय मे उत्तराध्ययन अ० २२ में लिखा कि "**सीलवंता बहुस्सुया**"।

४ ज्ञाता सूत्र के १२ वे अध्ययन में 'सुबुद्धि प्रधान' के विषय मे जिन शब्दो का उल्लेख है, उससे मालूम होता है कि उसने जिनशत्रु राजा को उसी प्रकार निर्ग्रंथ प्रवचनो का उपदेश दिया, जिस प्रकार निर्ग्रंथ देते थे। तात्पर्य यह कि वह निर्ग्रंथ प्रवचन (आगम) का ज्ञाता था। उसने जितशत्रु राजा को धर्मोपदेश भी दिया और विरति भी प्रदान की।

५ उववाई सूत्र मे श्रावको को "**धम्मक्खाई**"–धर्म का प्रतिपादन करनेवाले कहा है। धर्म का प्रतिपादन वही कर सकता है जो धर्मज्ञ हो।

+ यद्यपि लेखन सामग्री और लेखन कार्य उस समय भी होता था, किंतु आगमों को उस समय पुस्तक पर नहीं लिखकर मुखाग्र ही किया जाता था।

६ सूयगडांग २-२ तथा भगवती २-५ में लिखा है कि श्रावक—

"लद्धट्ठा गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा"

अर्थात्—वे सूत्रार्थ को प्राप्त किये हुए, ग्रहण किये हुए, पुनः पूछ कर स्थिर किये हुए, निश्चित किये हुए और समझे हुए हैं।

इस प्रकार आगम ज्ञान के धारक—श्रावक हो सकते हैं, तो वे स्वाध्याय क्यों नहीं कर सकते ? यदि कहा जाय कि उपरोक्त वाक्य 'अर्थ ग्रहण' से सम्बन्ध रखते हैं—सूत्र से नहीं, तो कहना होगा कि 'जो अर्थ ग्रहण कर सकते हैं, वे सूत्र ग्रहण क्यों नहीं कर सकते ? अर्थ से जिसने सूत्र का रहस्य समझ लिया, उसके लिये सूत्र ग्रहण में कौनसी रुकावट आती है ? भाषा सम्बन्धी रुकावट के सिवाय और कोई बाधा नहीं हो सकती। अपनी भाषा में अर्थ और विवेचन समझ लेने वाले के सूत्र ग्रहण करने में कोई रुकावट जैसी बात नहीं लगती। पूर्वाचार्य तो लिख गये कि "सामान्य जनता के हित के लिए ही सूत्र की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई"। अतएव यह बाधा भी नहीं रहनी चाहिए। फिर समवायांग और नन्दी में स्पष्ट रूप से "सुयपरिग्गहा" लिखा ही है। इसलिए सूत्र पढ़ने में कोई रुकावट नहीं है।

७ श्रावकों के ९९ अतिचारों में ज्ञान के १४ अतिचार भी शरीक हैं और सर्व मान्य है। जिसमें "सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे" भेद स्पष्ट है। ये सभी अतिचार स्वाध्याय करने की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।

८ श्रावकों के सूत्र पढ़ने का निषेध कहीं भी नहीं किया गया है।

९ व्यवहार सूत्र में मुनियों के आगम पठन में जो दीक्षा पर्याय बताई गई, वह साधारण बुद्धि वाले शिष्यों के लिए है—सभी के लिए नहीं। क्योंकि उसी जगह तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को उपाध्याय और पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले को आचार्य पद पर स्थापन करने का भी विधान है। अब सोचना चाहिए कि एक ओर तो तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला ही आचारांग पढ़ सकता है और दूसरी ओर तीन वर्ष की दीक्षा वाला बहुश्रुत उपाध्याय होकर दूसरों को ज्ञान दे सकता है। इन दोनों विधानों से यह स्पष्ट होता है कि जो वय—मर्यादा नियत है, वह साधारण साधुओं के लिए है। उन्हें तो ज्ञान पढ़ना ही चाहिए। किंतु श्रावकों के लिए कोई नियम नहीं है। वे यथेच्छ—योग्यतानुसार श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनके लिए कोई अनिवार्यता नहीं है।

श्रावकों को आगम स्वाध्याय करना चाहिये। यह मानते और प्रेरणा करते हुए भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह अधिकार योग्यतानुसार हो तो ही ठीक है, अन्यथा लाभ के बदले हानि हो सकती है। मैंने देखा है कि बहुत से इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। जिनमें समझने की शक्ति

नही, जो अपेक्षा को नही समझते, वे यदि भगवती प्रज्ञापना को लेकर बैठ जाय, तो लाभ के बदले हानि ही होने की सभावना है। मैने ऐसे साधुओ को भी देखा है, जो व्याख्यान फरमाते है, किन्तु जिस सूत्र पर बोल रहे है, उसका आशय खुद भी नही समझ सके है। इस प्रकार की स्थिति जहा हो वहा यह अधिकार हानिप्रद हो सकता है। चाहे साधु हो या श्रावक, योग्यता के अनुसार ही श्रुत का अभ्यास करना चाहिए। प्राथमिक कक्षा का विद्यार्थी, उच्च कक्षा की पुस्तके पढे, तो उससे उसका क्या लाभ हो सकता है ?

तात्पर्य यह कि श्रावको को भी अपनी योग्यता के अनुसार शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए। योग्यता के विषय में विशेष ज्ञान वालो से परामर्श लेकर उनकी राय के अनुसार स्वाध्याय सामग्री का चयन करना चाहिए और शका होने पर पूछकर निर्णय करलेना चाहिए। यदि फिर भी समझमे नही आवे, तो अपनी बुद्धि की कमजोरी मान कर आगम वचनो पर विश्वास रखना चाहिए।

स्वाध्याय एक आभ्यन्तर तप है। श्रुतज्ञान की आराधना महान् फल दायक होती है। अतएव श्रावको को भी सदैव स्वाध्याय करना चाहिए।

श्रावकों की धर्म दृढ़ता

सच्चे श्रावक, निर्ग्रंथप्रवचन अथवा जिनधर्म में दृढ होते है। उनका हृदय ही नही, हड्डी और नसो में धर्म प्रेम समाया हुआ रहता है। उनका धर्म प्रेम इतना गहरा और पक्का होता है कि किसी भी प्रकार कम नही हो सकता। ससार की कोई भी शक्ति उन्हे धर्म से विचलित नही कर सकती। श्रावक की दृढता के विषय में आगमो मे लिखा कि—

"असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा"।

अर्थात्—वे अपने शुभाशुभ कर्म विपाक पर विश्वास करने वाले थे। इसलिए वे देव, असुर, नागकुमार आदि देवो की सहायता की इच्छा नही करते है। कोई भी देव अथवा असुर उन श्रमणोपासको को जिनधर्म से चलित करने मे शक्तिमान् नही हो सकता है।

वे खरे श्रमणोपासक, निर्गंथप्रवचन में पूर्ण श्रद्धालू होते है। उन्हे जिन धर्म मे किंचित् मात्र भी सन्देह नही होता। उनके हृयय से धर्म के विषय मे यही उद्गार निकलते हैं कि—

"निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे"

अर्थात्—निर्गथ प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय सभी वचन अनर्थ के कारण है।
(सूयग० २–२ उववाई ४१)

इस प्रकार उनकी दृढ श्रद्धा होती है। यदि अशुभ कर्म के उदय से कोई क्रूर व्यक्ति अ व दानवादि उन्हे धर्म से चलित करने को तत्पर हो जायँ, तो वे मरना स्वीकार कर लेते है, किंतु अ मुह से एक अक्षर भी धर्म के विपरीत नही निकालते। इतना ही नही वे मन मे धर्म को छोडने का विचार मात्र भी नहीं करते। धर्म को वे अपनी आत्मा के समान ही मानते है। इसलिए प्राण त्य करना उन्हे मन्जूर हो सकता है, किंतु धर्म त्याग स्वीकार नही होता। ऐसे दृढ धर्मी, आदर्श श्रमणोपासक होते है।

पूर्वकाल के श्रावकों में से 'कामदेव' श्रावक को देव ने कितने भयकर कष्ट दिये! भय नक पिशाच रूप मे आकर तलवार से अग प्रत्यग काटने लगा। जब इसमें भी वह सफल नही हुआ तो मदोन्मत्त हाथी का रूप बनाकर, कामदेव को अपनी सूड मे पकड कर आकाश मे उछाल दिया औ दातो पर झेलकर पैरोतले रोदने लगा। जब इसमे भी देव असफल रहा, तो एक प्रचण्ड विषधर ब ार श्रावकजी के गले मे लिपट गया और हृदय में तिक्षण दात गडा दिए।

कितना भयकर परिषह था। कितनी असह्य वेदना हुई होगी—उन्हे, किंतु जबान से 'उफ' तक नही किया। ज्यो ज्यो उपसर्ग की उग्रता बढती गई, त्यो त्यो धर्म की दृढता भी अधिकतम गाढी बनती गई। आखिर अशक्त मानव के सामने, सशक्त देव को हार माननी पडी और चरणो में झुन कर क्षमा याचनी पडी। (उपासकदशा २)

श्री कामदेवजी तो घरबार छोड कर उपाश्रय मे चले गये थे और केवल धर्म मय जीवन व्यतीत कर रहे थे, किंतु अरहन्नकजी तो व्यापार करने के लिए समुद्र यात्रा कर रहे थे। समुद्रमे ह उन्हे मिथ्यात्वी देव ने आकर असह्य कष्ट दिये, किंतु वे भी कामदेवजी का तरह ही दृढ रहे।

यदि कहा जाय कि "ये बाते चौथे आरे की है। उस समय शरीर सघयण आदि अच्छे थे आज सभी साधन हीन कोटि के है, इसलिए दृढता नही रह सकती", तो यह बचाव भी उचित नही है क्योकि उस समय के समान आज देव के उपसर्ग भी तो नही है, फिर सुयगडाग और उववाई सूत्र पाठ, किसी समय विशेष से सम्बन्धित नही, किंतु श्रमणोपासक की धार्मिक दृढता से सम्बन्धित है भले ही वह पचमकाल का भी क्यो न हो। क्या पचमकाल मे शील की रक्षा के लिए आग में कूद कर जल मरने वाली सैकडो वीरागनाएँ नही हुई। सिख गुरु गोविन्दसिंह के दो लडके अपने धर्म के लिए जीते ही दिवाल मे नही चुन दिये गये। देश के लिए अंग्रेजो की गोलियाँ खाने और फाँसीपर चढनेवाले हमारे ही युगमे तो हुए है। इनके लिए पचमकाल बाधक नही हुआ, तो हमारे लिए क्यो हो रहा है?

वास्तव में धर्म दृढता नही होने के कारण ही पञ्चमकाल, संहनन आदि के बहाने बनाये जाते है। हम देखते है कि अभी भी सिक्ख मुसलमान आदि जातिया, अपने अपने धर्म में हमसे अधिक दृढ हैं। वे किसी प्रकार का बहाना नही ढूढते, तब सारी ढिलाई हममें ही क्यो आगई ?

भगवान् द्वारा प्रशंसित

जिन धर्मोपासको ने दृढता पूर्वक धर्म का पालन किया, उनकी प्रशसा इन्द्रों ने भी की है। यहा से असख्य योजन दूर तथा महान् वैभवशाली, शक्तिशाली इन्द्र ने अपनी देव सभा में यहा के दृढ धर्मी श्रावको की प्रशसा की। इन्द्र की की हुई प्रशसा में अविश्वासी होकर परीक्षा करने के लिए देव, कामदेव और अरहन्नक श्रावक के पास आये और उनकी कठोर परीक्षा की। परीक्षा मे खरे उतरने पर, विरोधी बनकर आये हुए देव, उनके आगे नत मस्तक हुए और क्षमा माँगी।

इन्द्र प्रशसा करे, तो यह कौनसी बडी बात है, स्वय त्रिलोकनाथ परम तारक भगवान् महावीर प्रभु ने ही सुश्रावक कामदेवजी, कुडकोलिकजी (उपासक २,६) और मद्रुक श्रावक (भगवती १८-७) की प्रशसा की है। इस प्रकार हमारी श्रमणोपासक परम्परा का भूतकाल बडा ही उज्ज्वल रहा है। उस आदर्श को समुख रख कर हमें अपना वर्तमान सुधारना चाहिए।

साधुओं के लिए भी आदर्श

कामदेव श्रावक की दृढता की प्रशसा करते हुए स्वय तीर्थाधिपति भगवान् महावीर ने धर्म सभा में अपने साधु साध्वियो को सबोधन कर के कहा—

"अज्जो ! समणोवासगा गिहिणो गिहिमज्झावसंता दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइं अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंगं गणिपीडगं (अहिज्जमाणेहिं उवसग्गा) सहित्तए जाव अहियासित्तए"।

—हे आर्यो ! गृहस्थवास में रहने वाला श्रमणोपासक, देव सबधि, मनुष्य सबधी और तिर्यंच संबधि महान् उपद्रव को सम्यक् प्रकार से-शाति पूर्वक सहन कर लेता है, तो आचार्य की सर्वस्व निधिरूप द्वादशांगी के धारण करनेवाले निर्ग्रंथो को तो उपसर्गों को सहन करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। (उपा० २)

श्रावकों के धर्मवाद की भगवान् द्वारा प्रशंसा

पहले के श्रमणोपासक, आगमज्ञ होते थे। वे धर्म तत्त्व के पण्डित (कोविद) होते थे। उन्होंने तत्त्वज्ञान का इतना गहरा अभ्यास किया था कि कोई भी अजैन विद्वान उन्हें डिगा नहीं सकता था। उल्टे बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान्, उन जैन विद्वानों के विशुद्ध तत्त्वज्ञान के आगे निरुत्तर होते थे। एक बार कुडकोलिक श्रावक, बगीचे में सामायिक कर रहा था। वहां गोशालक मति देव आया और कुण्ड-कोलिक को जिनधर्म से डिगाने के लिए गोशालक के मत की प्रशंसा तथा भगवान के मत की निन्दा करने लगा। कुडकोलिक श्रावक ने युक्ति युक्त वचनों से उस देव को निरुत्तर किया।

देव के नियतिवाद का खंडन करने के लिए कुडकोलिक ने उसे यही पूछा—'तुम्हारे मत में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम नहीं है, अर्थात्—बिना प्रयत्न के ही सब काम अपने आप नियति से ही बन जाते है, तो यह तो बताओ कि तुम्हे यह देव भव, देव ऋद्धि और दिव्य सुखों की प्राप्ति कैसे हुई ?

देव ने अपने मत पक्ष के अनुसार कह दिया कि—'यह सब नियति से ही प्राप्त हुआ है—मेरे किसी प्रयत्न के फल स्वरूप नहीं'। तब चतुर श्रावक ने पूछा—

'देव! जिस प्रकार तुम्हें बिना किसी प्रयत्न के अपने आप यह देव ऋद्धि प्राप्त हुई, उसी प्रकार पृथ्वी, पानी वनस्पति आदि को देवत्व की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? इन में तो प्रयत्न का अभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जब बिना प्रयत्न के ही देवत्व की प्राप्ति हो सकती है तो इन स्थावर जीवों को क्यों नहीं हुई ? ये पशु आदि जीव देव क्यों नहीं हुए ? इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तुम्हारा सिद्धान मिथ्या है और भगवान् महावीर का सिद्धान पूर्ण सत्य है'।

देव निरुत्तर हो गया और वापिस लौट गया। उस समय भगवान् महावीर कपिलपुर में पधारे। कुडकोलिक की देव से हुई चर्चा का वर्णन करने के बाद, भगवान् ने श्रीमुख से फरमाया—

"तं धन्नेसि णं तुमं कुंडकोलिया"—अर्थात्—हे कुडकोलिक! तुम धन्यवाद के पात्र हो।

भगवान् द्वारा दिया हुआ धन्यवाद, कुण्डकोलिक श्रमणोपासक की धर्म दृढता—अडिगता एवं धर्मवाद द्वारा निर्ग्रंथ प्रवचन की महत्ता प्रदर्शित करता है। भगवान् धन्यवाद देकर ही नहीं रह गये, किन्तु साधु साध्वियों को सम्बोधित कर के कहा,—

'संसार की अनेक झंझटों में रहा हुआ गृहस्थ श्रमणोपासक तत्त्वार्थ को अनेक प्रकार के हेतु से प्रश्नों से एवं युक्तियों से सिद्ध करके, अन्यमत वालों को निरुत्तर करके निर्ग्रंथ प्रवचन की प्रतिष्ठा बढाता है, तब तुम तो निर्ग्रंथ हो, और द्वादशांगी के धारक हो। तुम्हे तो प्रसंग उपस्थित होने पर

तत्त्वार्थ का, हेतु और युक्ति के साथ प्रतिपादन कर, अन्य मतवालों को निरुत्तर करके निर्ग्रंथ प्रवचन का महत्त्व बढ़ाना चाहिए"। (उपासक–६)

इसी प्रकार मद्रुक श्रावक का प्रसग इस प्रकार है।

'मद्रुक श्रावक', राजगृह का निवासी था। राजगृह के बाहर कालोदायी आदि अन्य तीर्थिक विद्वान रहते थे। वे आपस मे भगवान् महावीर के सिद्धात के विषय में चर्चा कर रहे थे। इतने मे उधर से मद्रुक श्रावक निकला। वह भगवान् को वन्दन करने जा रहा था। उन अजैन विद्वानो ने मद्रुक को अपने पास बुलाकर पूछा–

"तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मास्तिकाय आदि पाच अस्तिकाय मानते है। इनमे से चार तो अरूपी और एक रूपी है, किन्तु यह किस आधार से माना जाता है ?

मद्रुक ने कहा–इन अस्तिकायो को इनके कार्य से जाना जा सकता है। यदि कोई वस्तु अपना कार्य नही करे, तो हम उसे नही जान सकते।

मद्रुक का यह उत्तर सुन कर कालोदायी आदि ने कहा–

"अरे तुम कैसे श्रमणोपासक हो, और तुम्हारी मान्यता ही कैसी है ? जिस वस्तु को तुम जान नही सकते, देख नही सकते, उसकी मान्यता किस आधार पर रखते हो ?

मद्रुक ने कहा–बन्धुओ ! छद्मस्थ जीव, विश्व के समस्त भावो को प्रत्यक्ष नही कर सकता। अच्छा तुम्ही बताओ, इस वृक्ष के पत्ते क्यों हिल रहे है ?

–"वायु से।

–"क्या तुम वायु को देख रहे हो ? यदि देख रहे हो, तो बताओ उसका रग रूप कैसा है" ?

–"नही, वायु दिखाई तो नही देता। उसके चलन स्वभाव और स्पर्श से जानते है"–अन्य तीर्थियो ने कहा।

–"अच्छा, आपकी नाक में कभी सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है" ? –मद्रुक ने पूछा।

–"हा, हा, आती है"।

–"तो जरा बताइए कि क्या आपने गधकी आकृति और रूप देखा है" ?

–"नही, वह दिखाई नही देता"।

–"अरणी की लकडी मे अग्नि है" ?

–"हा है"।

–"क्या उसे आप अरणी मे देख सकते है ?"

–"नही।"

-"अच्छा, समुद्रपार रही हुई वस्तुएँ और देवलोक (जिसे आप भी मानते हैं) दिखाई देते हैं" ?

-"नहीं।"

"जब आप स्वय उपरोक्त वस्तुओ को प्रत्यक्ष नही देख सकते, किंतु कार्य के आधार से इन्हे मानते हैं, तो अग्निकाय के मानने में कौनसी बाधा खडी होती है ?"

बन्धुओ ! छद्मस्थ मनुष्य की दृष्टि के बाहर बहुतसी वस्तुएँ रहती हैं। यदि बिना देखी हुई वस्तु का अभाव ही हो जाय तो फिर सद्भाव क्या रहेगा ?-"

मद्रुक के युक्ति सगत उत्तर से वे अन्यतीर्थी विद्वान् निरुत्तर होगये। उनके निरुत्तर हो जाने पर मद्रुक, भगवान् के समवसरण में गया। धर्मोपदेश के अनन्तर भगवान् ने भरी सभा में मद्रुक के धर्मवाद का वर्णन किया और उसकी प्रशसा करते हुए कहा कि-

'तं सुट्ठुणं तुमं मद्दुया ! ते अन्नउत्थिए एवं वयासी। साहुणं तुमं मद्दुया ! जाव एवं वयासी"।

-हे मद्रुक ! तुमने उन अन्य तीर्थियों को अच्छा उत्तर दिया। तुम्हारा उत्तर बहुत ठीक था।

वे अन्यतीर्थिक मद्रुक के निमित्त से धर्म के सम्मुख होगए और आत्म कल्याण कर लिया।

(भगवती १८-७)

इस प्रकार अनेक प्रभावशाली श्रमणोपासक होगए हैं, जिनको प्रभु ने श्रीमुख से धन्यवाद दिया। उनके धर्मवाद की प्रशसा की और उनका आदर्श उपस्थित करके श्रमण निर्ग्रंथो को उत्साहित किया। हमारे पूर्व के श्रावक इस प्रकार के दृढ धर्मी और धर्म प्रभावक थे, किंतु आज उल्टी गगा बह रही है। यदि कोई अनेकान्त का दुरुपयोग करने वाला कुण्डकोलिक के स्थान पर होता, तो यही कहता कि-

"हा, पाच समवाय मे 'नियति' भी तो है, इसलिए नियतिवादी गोशालक मत से निर्ग्रंथ प्रवचन का समन्वय हो सकता है"। इस प्रकार की वृत्ति उस समय नही थी। न 'सर्वधर्म समभाव' की घातक और श्रद्धा हीन बनाने की दुर्वृत्ति ही उस समय थी।

हमारी वर्तमान दशा

श्रमणोपासक, जिनधर्म में दृढ श्रद्धालु होता है। वह कर्मफल को मानता है। कभी, पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से विषम परिस्थिति आजाय और किसी प्रकार के दुःख से पीडित हो जाय, तो भी वह मानता है "यह मेरे पूर्व के अशुभ कर्म का फल है। अपने कर्म का फल मुझे भुगतना ही पडेगा। किसी देव दानव की यह शक्ति नही कि वह मेरे अशुभ कर्मों को बदल कर शुभ बना दे। मेरे कर्मों की निर्जरा, मैं स्वय तप के द्वारा कर सकता हूं'। इस प्रकार सोच कर सतोष धारण करता है और धर्म मे अधिक दृढ हो कर यथाशक्ति अधिक धर्म का आचरण करता है। किंतु हमारी वर्त्तमान दशा इस

स्थिति से बहुत विपरीत हो गई है। हम वज्र मय स्तभ नही रह कर गोवर के खीले वन गये है। ससार मे हम अपने को 'जैनी, श्रावक और श्रमणोपासक' इतना ही नही 'धोरी श्रावक' बतलाते है, किंतु हमारा आचरण बिलकुल गया बीता हो गया है। हम मे कुछ ऐसी कुरूढियाँ आगई है कि जिन के कारण तथा दृढता के अभाव मे हम मिथ्यात्व का खुलकर सेवन करते हुए भी लज्जित नही होते।

हमारे त्योहार

जिस प्रकार अजैन लोग, नवरात्रि और दशहरा मनाते है, उसी प्रकार हमारे अनेक जैनी नाम धराने वाले बन्धु, नवरात्रि का व्रत रखते है और दुर्गा तथा काली माता की पूजा पाठ करते है, और उनसे अपनी समृद्धि की कामना रखते है।

होली के दिनो मे हमारे अनेक जैनी भाई, होलिका पूजन, दहन आदि कर के अनेक प्रकार का मिथ्यात्व तथा पाप का उपार्जन करते है। सीतला पूजन, गनगोर व्रत और नजाने कोन कौनसे कल्पित देव देवियो को हमारे भाई बहिन पूजते है।

दिवाली हमारा धार्मिक त्योहार है, किंतु उस दिन धन की कामना से कल्पित लक्ष्मी देवी, गजानन, बहियें, दावात, कलम आदिकी पूजा किया करते है। उस समय यदि उनके चेहरो से भावो का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि उनका हृदय इन बहियो, दवातो कलमो, लक्ष्मी के कल्पित चित्र और गजानन आदि (जो मनुष्य द्वारा निर्मित है) के प्रति पूर्ण रूप से प्रणिपात कर रहा है। वे इतना भी नही सोचते कि इस मिथ्या प्रवृत्ति में क्या धरा है ? क्या बही, कलम, दवात, सोना चाँदी, रुपया, नोट आदि भी कोई देव है ? प्रत्यक्ष रूप मे ये जड वस्तुएँ है। इनके पीछे किसी देव की कल्पना भी नही है। लक्ष्मी का चित्र और गजानन की पूजा करने से ही किसी को धन लाभ होता, तो प्रतिवर्ष भक्ति पूर्वक पूजा करने वाले सभी व्यापारी धनवान ही होते। किसी को भी धन हीन तथा कर्जदार होने का प्रसग ही नही आता। इनकी पूजा करते रहने वाली अनेक व्यापारी पेढियाँ अत्यधिक हानि के कारण बद हो गई। बहुत से व्यापारी आज भी आर्थिक कठिनाई उठा रहे है और दूसरी ओर इन क्रियाओ से सर्वथा वञ्चित ऐसी जातियाँ तथा राष्ट्र, मालामाल तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त किये हुए है।

यदि कहा जाय कि देवी देवताओ का अस्तित्व तो जैन सिद्धात भी मानता है और उनके अनुग्रह के प्रमाण भी शास्त्रो मे है, फिर इन्कार क्यो किया जाता है ? समाधान है कि—देवीदेवताओ के अस्तित्व और अनुग्रह मे इन्कार नही किया जा रहा है। यहा यह बताया जा रहा है कि 'आप जिन्हे

देव मान कर पूज रहे है, वह आपकी गलत धारणा है। न तो बहियो, दावातों और लेखनी में देव का निवास है और न लक्ष्मी आदि चित्रो मे। क्या प्रत्येक मूर्ति और तेल सिन्दूर लगे अनघड पत्थर में देव रहता है? यदि रहता हो, तो उनकी आशातना और अपमान कोई नहीं कर सकता। जब कि इन सब का अपमान एक बच्चा भी कर सकता है। यदि इनके सानिध्य में देव होता, तो पूजक पर कृपा अवश्य करता, कम से कम उसे खतरे की आगाही तो दे ही देता।

जिसप्रकार मुर्दे में प्राण नहीं होते, उसी प्रकार इन कल्पित गणेशों और लक्ष्मियो में देवत्व नहीं है। मुर्दे की कितनी ही सेवा करो, वह स्वय हिलडुल नही सकता, इसी प्रकार मनमाने कल्पित देव, मनोरथ पूर्ण नही कर सकते।

वास्तविक देव भी शुभाशुभ कर्म और उसके परिणाम को बदल नही सकते, तो ये कल्पित जड वस्तुओ के झूठे देव, क्या भला कर सकेंगे ?

मनुष्य को जो जो अनुकूलताएँ मिलती है और इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति होती है, वह पुरुषार्थ और शुभ कर्म के उदय से अर्थात्-पाचो समवाय की अनुकूलता से मिलती है। इसलिए व्यर्थ के मिथ्याचार को छोड कर जैनत्व के प्रति ही दृढ रहकर यथा शक्ति धर्म का आचरण करना चाहिए और बिना इधर उधर भटके, सतोष पूर्वक अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए। इससे मन की अशाति मिटे गी, नये अशुभ कर्म का गाढ बध नही होगा और पूर्व के कर्म की निर्जरा होकर शुभ कर्म का उदय होगा, तभी इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी। धर्म पर और अपने आप पर श्रद्धा रखकर, यथा शक्ति धर्म का आचरण करते रहने वाले का लौकिक दृष्टि से भी भविष्य उज्ज्वल होता है।

इस प्रकार लौकिक त्योहारों के निमित्त से अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है। इसे बन्द करके दृढ सम्यक्त्वी बनना चाहिए

रोग के निमित्त से मिथ्यात्व सेवन

हमारे बहुत से भाई और बहिनें अपने या बच्चों के रोग का निवारण करने के लिए और देवी देवताओं-भैरु भवानी-की सेवा में भटकते रहते है। तावीज और डोरा धागा करवाते फिरते है।

जैन सिद्धात स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है कि 'रोगोत्पत्ति का मूल कारण अशुभ कर्म-असातावेदनीय कर्म का उदय है, और निमित्त कारण आहारादि की प्रतिकूलता से शरीर मे बीमारी के योग्य पुद्गलो का (कब्जियत, अजीर्ण आदि से) जमा होना तथा छोत आदि अनेक कारण है। माता और मातीझरा आदि रोगो को देवी देवता रूप मानने की मूढता तो अब भी बहुत फैली हुई है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है, कि इन रोगों को टीका लगाकर रोकने के प्रयास हो रहे है और इसमें सफलता

भी होती है। जो लोग इन रोगो को देव कृपा मान कर भाव पूर्वक मानते पूजते है, उनके यहा भी इन रोगो के अनिष्ट परिणाम- होते है और जो जातियाँ और राष्ट्र, इन रोगो को देव रूप नही मानकर उचित उपचार करते है, उनका ये मिथ्यादेव कुछ भी नही बिगाडते, बल्कि उनके यहा अनिष्ट परिणाम भी उतने नही होते।

इस प्रकार जैनधर्म के उपासक और सम्यग्दृष्टि कहे जानेवाले लोगो मे कितना अज्ञान भरा है। वे बात बात मे मिथ्यात्व की उपासना करने लग जाते है। यह उनके जीवन मे स्पष्ट हो रहा है।

विवाह और मिथ्यात्व

वैवाहिक कार्य का प्रारभ भी प्राय मिथ्यात्व सेवन कर के किया जाता है। सर्व प्रथम गणपति पूजन किया जाता है। महिलाएँ विवाह के गीत मे पहले गणपति की ही स्तुति करती है और आमन्त्रण पत्रिका भी सबसे पहले गणपति को ही लिखी जाती है। इसके सिवाय देश भेद मे छोटे मोटे अनेक प्रकार से मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है।

विवाह विधि भी मिथ्यात्व से ओतप्रोत है। कई मिथ्यात्वी देवो की साक्षी से ब्राह्मणो द्वारा सस्कृत भाषा मे कुछ मन्त्र और श्लोको के उच्चारण के साथ हवन पूजन आदि होता है। अग्नि की साक्षी भी मानी जाती है और लग्न के बाद भी भैरव, भवानी, चडी, सीतला, हनुमान आदि कितने ही देवो को, वर वधू से पूजा कराई जाती है।

वर्तमान मे जैन विधि से विवाह करने कराने का प्रश्न भी उठ रहा है और कही कही होने भी लगे है। विवाह सस्कार की विधि भी "आचारदिनकर' आदि ग्रथो मे जैनाचार्य द्वारा लिखी हुई है और अन्य पुस्तके भी छपी है, किंतु इन सब पर अजैन विधि का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। विचार पूर्वक देखा जाय, तो यह विधि बिलकुल सरल और सीधी सादी हो सकती है।

लग्न का उद्देश्य केवल वर कन्या का सम्बन्ध मिलाना है। योग्य वर का योग्य कन्यासे—जिनका आचार, विचार, स्वभाव और वय समान हो—सम्बन्ध जोडना है। यह उद्देश्य सभी जातियो और देशो मे समान रूप से है। भेद केवल विधि विधान और रीति रिवाज का है। यह भेद सर्वत्र, प्रत्येक जाति, वर्ग और देश मे रहा हुआ है और परिवर्तनीय है। हमे ऐसी विधि अपनानी चाहिये कि जिसमे व्यर्थ के झझट नही हो। पचो अथवा सम्बन्धियो की साक्षी से वर कन्या को परस्पर वचनबद्ध करना और वर को 'स्वदार—सतोष' तथा कन्या को 'स्वपति—सतोष' व्रत धारण करवाना है। व्रत की प्रतिज्ञा गुरु के समक्ष अथवा योग्य व्रती श्रावक के समक्ष होकर लग्न विधि पूर्ण हो सकती है।

एक वात ध्यान रखने की है। यदि वरकन्या ने पहले सम्यक्त्व ग्रहण नही किया हो, तो इस विधि के पूर्व उन्हे सम्यक्त्व ग्रहण करवा कर-नियमानुसार वास्तविक जैनी बनाने के वाद 'सदार सतोष व्रत' देना चाहिये। जहा तक हो, 'पाच अणु व्रतो' का ग्रहण कराना चाहिए, अन्यथा चतुर्थ व्रत तो अवश्य ही कराना चाहिये, क्योकि विवाह सम्बन्ध को जैन धर्म में स्थान नही है, विरति को ही स्थान है। इस व्रत के द्वारा लग्न सम्बन्ध,मे मर्यादा वाहर की अविरति के त्याग हो जाते है और इस अपेक्षा से जैन विधि कही जा सकती है।

'मगल-पाठ' के वाद यह विधि पूर्ण की जा सकती है। इसमें किसी देव, देवी, हवन, पूजन की आवश्यकता नही रहती। महिलाओ के द्वारा मगलगान भी तदनुरूप ही हो। लग्नोत्सव के समय वादिन्त्र का उपयोग तथा प्रीति-भोज, अपनी स्थिति का अतिक्रमण कर के नही किया जाय। आगत सम्बन्धियो का सत्कार यथा शक्ति हो सकता है। तात्पर्य यह कि मूल उद्देश्य 'वरवधू को लग्न सम्बन्ध से जोडने' का और मुख्य नियम 'व्रत प्रतिज्ञा से युक्त' करने का है। शेष सव वाते गोण है।

इस प्रकार यदि सुधार किया जाय, तो लग्न प्रसग पर होते हुए अनेक प्रकार के मिथ्या विधि विधानो से वचा जा सकता है।

मृत्यु प्रसंग और मिथ्यात्व

जिस प्रकार लग्न प्रसग के साथ अनेक प्रकार का मिथ्यात्व जुड गया है, उसी प्रकार मृत्यु प्रसग को लेकर भी अनेक प्रकार का मिथ्यात्व सेवन किया जा रहा है।

जव मनुष्य, मरणासन्न होकर अतिम साँसे ले रहा हो, तव उसे महान् वेदना होती है। उस महान् वेदना के समय ही उसे पलग अथवा विस्तर पर से हटा कर पृथ्वी पर (गोमय से लीप कर) सुलाया जाता है और माना जाता है- 'पृथ्वी की गोद में मृत्यु होने से जीव की सद्गति होती है", यह भूल है। जैन सिद्धात इस मान्यता को स्वीकार नही करता। जैन सिद्धात के अनुसार जीव की सद्गति और दुर्गति उसकी खुद की परिणति और उपार्जित शुभाशुभ कर्म के अनुसार होती है। पृथ्वी अथवा गोबर उसमें कारण नही वनता। जो लोग उस मरणासन्न व्यक्ति को धर्म सुना कर परिणामो को उज्ज्वल नहीं कर के, उसे पृथ्वी पर लेने की क्रिया करते है, वे उसे अधिक दुखी करते है। वे उसके दु ख के कारण वन कर हिंसा के पाप से वँधते है और उस व्यक्ति के अशुभ परिणाम के निमित्त भी वनते है।

मृत्यु के वाद स्वजनादि का फर्जियात रुदन भी त्याज्य है। यदि कोई फर्जियात रुदन नही करता है, तो कहा जाता है कि इसने 'धर्म दाढ' (दहाड मार कर रोना) नही दी। पता नही इस रोने में धर्म कहा से घुस गया ? किंतु दूसरो का यह सिद्धात जैनियो ने भी अपना लिया और इसमें

बहुतो को तो आत्मीयता बताने के लिए, ऊँचे आवाज से, सम्बन्ध जताकर रोना पडता है। यह फर्जियात रुदन भी त्यागनीय है।

मृत्यु के बाद, शव के अग्नि सस्कार के सिवाय और कोई क्रिया शेष नही रहती। इसके बाद उस दिन नही, तो दूसरे या अधिक से अधिक तीसरे दिन शोक हटा कर साधारण स्थिति मे आ ही जाना चाहिए। "उठावने" का अर्थ भी शोक निवृत्ति ही होना चाहिए। किंतु अजैन सस्कारो के प्रभाव मे जैन समाज भी कई अडगो का शिकार बन गया। कई प्रान्तो मे जैनी लोग भी दूसरो की तरह मृतक व्यक्ति के लिए घर के बाहर—आम रास्ते पर, खीर और बाटी या चपाती बना कर स्मशान भूमि में ले जाते है, उसे दाह स्थान पर रखते है और ऊपर से पानी भी ढोलते है। वे समझते है कि ये चीजे मृतक आत्मा को पहुँचती है। फिर लगभग बारह दिन तक मृतक के शोक की चीजे घर के बाहर कही रखते हैं। जाति भोज—मोसर आदि करते है और मानते है कि मृत्यु के उपरान्त बारह दिन तक मृत आत्मा घर के आस पास चक्कर काटती रहती है, और उनका दिया हुआ भोजनादि ग्रहण करती है। ये सब मिथ्या बाते है। जैन सिद्धात कहता है कि मरने के बाद तत्काल आत्मा अपनी गति के अनुसार जहा उत्पन्न होना होता है, वहा चली जाती है। पीछे से जो क्रियाएँ की जाती है, उनका लाभ उसको कुछ भी नही मिलता।

साधुओं के शव को रोक रखना

साधु साध्वी के देहान्त के बाद, शव को बाहर के लोगो के दर्शनार्थ, बहुत लम्बे समय तक रखा जाता है और बडे ठाठबाट से समारोह पूर्वक अन्तिम क्रिया होती है। देह दर्शन के लिए शव को लम्बे समय तक रोक रखना भी हिंसा है, क्योकि शव में अन्तर्मुहूर्त मे ही समुच्छिम जीवो की उत्पत्ति होने लगती है और दुर्गन्ध पैदा होकर फैलती है। ठाठबाट से शव सस्कार करना, मृतात्मा के प्रति समान प्रदर्शित करने की लोक रुढि है। परन्तु उसमें भी विवेक होना चाहिए। अनावश्यक और व्यर्थ के आडम्बर मे शक्ति का अपव्यय करने के बदले शुभ कार्य किये जायें, तो विकार हटकर वास्तविक प्रभावना हो सकती है।

अनुचित प्रत्याख्यान

जैनधर्म मे पापत्याग के प्रत्याख्यान होते है, किन्तु किसी दुखी की सेवा अथवा प्रसूति की परिचर्या के प्रत्याख्यान नही होते। जिस प्रकार दुखी को अनुकम्पा दान और रोगी की दवाई देने के त्याग नही होते, उसी प्रकार प्रसूति की परिचर्या के त्याग भी नही होते। किन्तु वैदिको के प्रभाव के कारण, जैनधर्म की मूर्तिपूजक परम्परा में ऐसे त्याग होने लगे। कई बहिने अपनी वधुओ और पुत्रियोंके प्रसव काल के समय तथा कुछ दिन बाद भी उनकी सेवा करने के त्याग कर लेती है। उनकी मान्यता है कि यदि वे उनकी सेवा करेगी, तो उन्हे सूतक लग जायगा और इससे वे दर्शन पूजनादि से वचित रह जायेंगी। हमारी मार्गी समाज में तो ऐसी बाधा है ही नही। प्रसूति सेवा के बाद वे सामायिकादि कर सकती है। मृतक का अग्नि सस्कार होने के बाद भी सामायिकादि हो सकती है, और ऋतु धर्म के समय भी सामायिक हो सकती है। किंतु ससर्ग दोष के कारण हमारे समाज में भी कही कही वैसे प्रत्याख्यान होने लगे है। यह भी विकार का ही परिणाम है।

दूषित तप

साधु और श्रावक की जितनी भी धर्म क्रियाएँ है, वे सब आत्म कल्याण के लिए है—निर्जरा के लिए है, किन्तु 'चुदडी का उपवास' सकट्या तेला, मदनासुन्दरी का आदर्श सामने रखकर 'व्याधिहरण और सुख सम्पत्ति करण=ओली आदि तप, भौतिक स्वार्थ साधना के उद्देश्य से होते है और इस विकार में त्यागी वर्ग भी सहायक होता है। तपस्याएँ हो, किन्तु उनके साथ रही हुई स्वार्थ भावना मिट कर आत्म कल्याण का हेतु ही रहे। इसका ध्यान रखने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही विकार हट-कर सस्कार शुद्ध हो सकेगे।

श्रीभरतेश्वर और श्रीकृष्ण तथा अभयकुमार ने भौतिक इच्छा से तप किये थे, किन्तु वे विरति में स्वीकार नही किये। उनके वे पौषध आत्म पोषक नही, किन्तु स्वार्थ पोषक थे। स्वार्थ पोषक तप में त्यागियो अनुमति नही होनी चाहिए और जो विकार घुसे है, उन्हे दूर करना चाहिए।

इस प्रकार हमारे जीवन में मिथ्यात्व ने गहरा घर कर लिया है। हम जैनी कह लाते हुए भी अपने जीवन में अजैनत्व को खूब अपनाये हुए है। हमें अपनी इस अधम दशा पर शान्ति से विचार करना चाहिए और मिथ्यात्व को सर्वथा निकाल फेंकना चाहिए।

उपसंहार

हम अगार धर्म का भी नियमानुसार पालन करे, तो ससार में जिनधर्म की अच्छी प्रभावना हो सकती है। अन्य जीवो को जिन धर्म के प्रति आकर्षित कर सकते है। अपना जीवन भी शान्ति से बीतता है। और भावन्तर भी सुधरता है।

इस प्रकार की स्थिति तब बनती है, जब कि हम जिनधर्म पर पूर्ण विश्वास रखे। जैनत्व में दूषण लगानेवाली प्रवृत्ति से बचे। अपनी कषायो पर अकुश लगावे। तृष्णा को बढने नही दे। दुखी दर्दियो की यथा शक्ति सेवा करे और सहिष्णु बने।

यदि हमारी मनोवृत्ति और कार्य श्रमणोपासक की मर्यादा के अनुसार बन जावेगे, तो हम धर्म प्रभावना भी कर सकेगे, अपनी आत्मा का उत्थान भी कर सकेगे और अन्य जीवो के लिए मार्गदर्शक एव हितकारी भी हो सकेगे।

॥ समणोवासगा सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु खेमङ्करा भवइ ॥

मोक्ष मार्ग

चतुर्थ खण्ड

अनगार धर्म

उद्देश्य

अखण्ड शान्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति का ससार में कोई मुख्य मार्ग है, तो एक मात्र अनगार धर्म ही है। अनगार धर्म के द्वारा सरलता पूर्वक ससार वृद्धि के कारणो को रोका जाकर शाश्वत सुख के मार्ग को अपनाया जा सकता है। यद्यपि अगार धर्म भी परमसुख की प्राप्ति का एक साधन है, परन्तु वह परम्पर साधन है--अनन्तर साधन नहीं है, क्योकि बिना अनगार धर्म के इतनी विशुद्ध साधना नही हो सकती। यदि अगार धर्म ही मोक्ष प्राप्ति का राज मार्ग होता, तो अनगार धर्म की आवश्यकता ही नही रहती। अगारधर्मी--श्रावक यदि जोरदार साधना करे, तो भी वह अधिक से अधिक "अच्युतकल्प=बारहवें देवलोक तक ही जा सकता है। (उववाई सूत्र) अनगार धर्मी के ससार परिभ्रमण के बाह्य कारण तो छूट ही जाते है और अभ्यन्तर कारण भी बहुत कुछ छूट जाते है, जो रहते हैं, वे भी क्रमश नष्ट होते जाते है। साधुता के धारक को बाह्य प्रवृत्तियों के साथ अन्तर प्रवृत्तियें भी बदलनी पडती है। चर्तुगति रूप ससार में भटकाने वाली जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, उन सब से अपने को हटा कर स्थिर और शान्त बनाने वाली प्रवृत्ति अपनानी पडती है।

जिसे रोग मुक्त होकर नीरोग एवं बलवान होना हो, उसे सबसे पहले रोग के कारणों से बचना पडता है और फिर आरोग्यता के साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार भव-भ्रमण रूपी महारोग से मुक्त होने के लिए सर्व प्रथम उन कारणों को त्यागना पड़ता है—जो भवभ्रमण के निमित्त हैं। इनके त्याग के बाद उन साधनों को अपनाना पड़ता है—जो पूर्व के लगे हुए कर्म रूप रोग को क्षय करके अखण्ड शान्ति, पूर्ण स्थिरता और स्वाधीनता में सहायक होते है। यह वैज्ञानिक तथ्य है। त्रिकाल अबाधित और शाश्वत सिद्धांत है।

संसार त्याग

सबसे पहले साधक को अपना साध्य स्थिर करना पडता है। उसके बाद साधना निश्चित् करनी होती है। वही साधना उत्तम कही जा सकती है, जो साधक को साध्य के निकट पहुँचानेवाली हो। यदि साधना करते करते साधक, साध्य से दूर होता जाय, तो वह साधना नहीं, किन्तु बाधना (बाधा) है विराधना है।

निर्ग्रंथों की साधना केवल आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए ही होती है। उनका एक मात्र ध्येय समस्त बन्धनों (पराधीनताओं) से मुक्त होकर—पर भाव से हटकर स्वभाव में स्थिर होना है। वह जन्म जरा और मृत्यु के दुःख रूप संसार से मुक्त होना चाहता है। वह समझता है कि—

"यह संसार रूपी समुद्र महान् भयकर है। इसमें जन्म जरा और मृत्यु रूप महान् दुखो से भरा हुआ, क्षुब्ध और अथाह पानी है। विविध प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल, सयोग और वियोग की चिन्ता से इसका विस्तार बहुत ही फैला हुआ है। इस महार्णव में वध बन्धनादि अनेक प्रकार की हिलोरें उठ रही है और करुणा जनक शब्द होते है। परस्पर की टक्कर अपमान और निन्दा आदि तरगे है। कठिन कर्म रूप बड़ी बड़ी चट्टाने इस महासागर में रही हुई है, जिनकी टक्कर से ढिली ढाली नावें नष्ट हो जाती है। चार कषाय रूपी चार गंभीर पाताल—कलशो से यह समुद्र अति गहन हो गया है। तृष्णा रूपी महान् अन्धकार इसमें छाया हुआ है। आशा और तृष्णा रूपी फेन उठते ही रहते हैं। मोहनीय कर्म भोग रूपी भयानक भँवर इस समुद्र में पड़ता है, जिसमे पडकर प्राणी डूब जाता है। प्रमाद और अज्ञान रूपी मगर मच्छ इसमें घूम रहे है। अनादिकाल के सताप से कर्मो का गाढ और चिकना कीचड़ ऐसा भरा हुआ है कि जिसमें फँसे हुओं का निकलना असभव हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र फैले हुए संसार रूपी महा समुद्र को महा भयानक मानकर, भव्य प्राणी, निर्ग्रंथ-धर्म रूपी सुदृढ जहाज का आश्रय लेकर पार होते है।" (उववाई सूत्र)

कोई कोई आत्मार्थी सोचते है कि-

"यह शरीर अनित्य है। कितना ही जतन करो-इसका नाश तो होगा ही। अनित्य होने के साथ यह अपवित्र भी है-अशुचिमय है। दुःख और क्लेश का भाजन है। जलमें उत्पन्न हुए बुलबुले की तरह नष्ट होने वाला है। व्याधि और रोगो का घर है और मृत्यु से सदा घिरा हुआ रहता है। जन्म दुःख पूर्वक होता है, रोग और बुढ़ापा भी दुःखमय है और मृत्यु की वेदना तो इनसे भी अधिक दुःखदायक है। इस प्रकार यह ससार दुःख रूपी ही है। सभी प्राणी ससार में दुःख भुगत रहे है-

"अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो" (उत्तराध्ययन १६)

किसी भव्यात्मा ने ससार को अग्निरूप मानकर सोचा,-

"यह ससार जल रहा है, इसकी ज्वालाएँ फैल रही है। जिस प्रकार जलते हुए घरमें से असार वस्तु छोडकर सार वस्तु निकालने वाला बुद्धिमान है उसी प्रकार अपनी आत्मा को बचाने वाला समझदार है (भगवती २-१)

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से संसार को दुःख रूप मान कर, निर्वेद की प्रबलता से भव्यात्माएँ ससार का त्याग करती है। उनका लक्ष एक मात्र मोक्ष का ही रहता है। वे ससार रूपी महा भयानक समुद्र पार को करने के लिए धर्म रूपी जहाज में बैठते है। उनके पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी महा मूल्यवान् धन होता है। वे जिनेश्वर भगवान् के बताये हुए सम्यक् मार्ग से सीधे सिद्धपुरपाटन (मोक्ष) की ओर बढते ही जाते है (उववाई २१) उनकी प्रवर्ज्या का एकमात्र कारण आत्म कल्याण ही होता है-"अत्तत्ताए परिव्वए" (सूयगडाग अ ३-३ तथा ११) वे आत्मा का उद्धार करने के लिए ही संयम धारण करते है-"अत्तत्ताए संवुडस्स" (सूय० २-२) सयमी होने के बाद उनकी प्रवृत्ति सयम के अनुकूल ही होती है। चारित्र पालने में ही उनकी दृष्टि होती है-"अहीव एगंतदिट्ठी" (ज्ञाता १) उनका प्रयत्न कर्म बन्धनों को नष्ट करने का ही होता है "कम्मखिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिआ" (उववाई १७) वे निर्दोष आहार पानी लेते है और शरीर को पोषते हैं, वह भी मोक्ष साधना के लिए ही है। भगवान् ने उनके लिए यही निर्देश किया है, जैसे कि-

"अहो! जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा (दशवै० ५-१-९२)

इस प्रकार साधु की सारी जिन्दगी, सारे प्रयत्न, सभी क्रियाएँ, मोक्ष के लिए ही होती है। उनका उपदेश प्रदान भी मुक्ति की साधना का एक अंग होता है (सूय० २-१)

निर्ग्रंथ श्रमण, मोक्ष के लिए ही प्रवजित होता है। चक्रवर्ती सम्राटों राजा, महाराजाओं कोट्या-

विपति सेठो, सामंतो और मामूली व्यक्तियो ने ससार की आधि व्याधि और उपाधि से मुक्त होने के लिए ही दीक्षा ग्रहण की। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी अपने कर्म वन्धनो को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रव्रजित होते है। भगवान् महावीर के विषय में श्री आचाराग सूत्र श्रु०२ अ. १५ में लिखा कि—

"तओणं समणे भगवं महावीरे...............सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरई।"

और भगवान् ऋषभदेवजी के लिए जंबूदीपप्रज्ञप्ति सूत्र मे लिखा है कि—

"कम्म संघणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरई।"

यह है अनगार धर्म ग्रहण करने का मुख्य कारण। यदि आत्महित के विना किसी दूसरे उद्देश्य से दीक्षा ग्रहण की जाय, तो वह उद्देश्य ठीक नही होता। भौतिक सुखो की प्राप्ति के लिए तो मिथ्या-दृष्टि भी उच्च कोटि की क्रिया पाल सकता है, किन्तु उद्देश्य ठीक नही होने से वह सैद्धान्तिक दृष्टि से अव्रती ही माना जाता है। तात्पर्य यह कि कर्म वन्धनो को काट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही अनगार धर्म की व्यवस्था है।

अनगार की प्रतिज्ञा

जब व्यक्ति अपने कर्म वन्धनो को काट कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही अनगार वनता है, तो उसका प्रयत्न भी प्रारभ से ही वैसा हो कि जिससे वन्ध के कारणो से वह वच सके। एक ऋण मुक्त होने वाला कर्जदार, सबसे पहले तो यही सावधानी रखता है कि जिससे नया ऋण नही हो, फिर पुराने कर्ज को उतारने का प्रयत्न करता है। वैद्य भी सबसे पहले रोग वढने के कुपथ्यादि साधनों से रोगी को वचाता है। फिर रोग मुक्त करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार कर्म रोग से मुक्त होने के लिए—दुःखो से छुटकारा पाने के लिए, अनगार धर्म भी सबसे पहले दु ख के कारणो को रोकता है। अनगार धर्म की दीक्षा लेते समय वह उत्तम आत्मा, हृदय के सच्चे और दृढ निश्चय के साथ प्रतिज्ञा करती है कि—

"करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जंजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं नकरेमि नकारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि तस्सभंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

उपरोक्त प्रतिज्ञा के द्वारा वह उन सभी पाप क्रियाओं को, जीवन भर के लिए त्याग देता है कि जिनके द्वारा दुःख से भुगता जाय—ऐसा फल निर्माण हो अर्थात् वह दुःख के कारणों को ही रोक देता है। सावद्य—पापमय प्रवृत्ति ही से दुःख का कारण है। इसका त्याग करके साधक अपनी आत्मा का वर्तमान और भविष्य—ये दोनों सुधार लेता है। इसके बाद वह अपने पूर्व के बन्धनों को काटने में प्रयत्नशील बनता है।

चारित्र की आवश्यकता

मोक्ष मार्ग के चार भेदों में से दो भेदों का वर्णन किया गया। पूर्वोक्त ज्ञान और दर्शन, श्रुतधर्म है। श्रुतधर्म से मात्र ज्ञान और श्रद्धान=विश्वास ही होता है। यद्यपि जीव को निःश्रेयस के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है, और इनकी तो सर्व प्रथम आवश्यकता है, किन्तु ये ही सब कुछ नहीं है। केवल जानने और समझने से ही कार्य सिद्ध नहीं होता। इसके लिए तो आचरण की आवश्यकता होती है। रोग, रोगोत्पत्ति के कारण और रोग नाश के उपाय जानने के बाद आचरण में लाना पड़ता है, तभी रोग हट कर आरोग्य लाभ होता है। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन धर्म के बाद चारित्र धर्म की आवश्यकता है ही। ज्ञान दर्शन मोक्ष प्राप्ति के परम्पर कारण हैं, तब चारित्र अनन्तर=साक्षात् कारण है। ज्ञान दर्शन के बाद चारित्र की प्राप्ति होगी तभी आत्मा उन्नत होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

जब तक जीव में चारित्र गुण नहीं हो, तबतक वह सम्यक्त्वी हो, तो भी "बाल"=समझता हुआ मूर्ख ही है। वह ज्ञानी होते हुए भी आचरण की अपेक्षा बाल है (भगवती ८-२) जब उसमें चारित्र परिणति होती है, तभी वह 'देश पंडित' या सर्वपंडित (बाल पंडित=पंचम गुण स्थानी श्रावक और सर्व पण्डित =साधु) होता है। तात्पर्य यह है कि चारित्र परिणति के अभाव में जीव ज्ञानी होते हुए भी बाल ही है, क्योंकि ऐसे ज्ञानी और अज्ञानी के चारित्र में कोई अन्तर नहीं होता। कितने ही ऐसे भी अज्ञानी और मिथ्यात्वी होते हैं, जिनकी कषायें शान्त रहकर लोक में प्रशंसनीय होते हैं। वे लोक हितैषी होकर नीतिमय जीवन बिताते हुए स्वर्गगामी होते हैं और कई ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि ऐसे भी होते हैं, जिनका मनुष्य जीवन इतना उज्ज्वल नहीं होता और वे चारों गतियों में जाते हैं। इसलिए सम्यग्चारित्र की परम आवश्यकता है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार बिना चारित्र के सम्यक्त्व, मुक्तिदाता नहीं होती, उसी प्रकार बिना सम्यक्त्व के चारित्र भी मोक्ष की ओर नहीं ले जाता। यहाँ उसी चारित्र का वर्णन है जो सम्यक्त्व पूर्वक होता है।
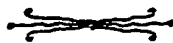
तीन गुप्ति

सयम, गुप्ति प्रधान होता है। बिना गुप्ति के सयम हो नही सकता। सयमी आत्माओ के लिए गुप्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीर के लिए जीव की। बिना जीव के शरीर नि सार होता है, उसी प्रकार बिना गुप्ति के सयम नि सार होता है। वास्तव मे गुप्ति ही सयम है। श्रमण के महाव्रत और ससार त्याग की प्रतिज्ञा भी गुप्ति रूप ही है। बिना प्रवृत्ति के एकान्त निवृत्ति तो चौदहवे गुणस्थान में होती है-जहा मन, वचन और काया की सभी प्रवृत्तियें वन्द हो जाती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ २४ गा २० में मनोगुप्ति का वर्णन करते हुए लिखा कि-"सत्या, मृषा, सत्यामृषा (मिश्रा) और असत्यामृषा (व्यवहार) ये चार भेद-मनो गुप्ति के है, और गा २२ मे ये ही चार भेद वचन गुप्ति के है।

शरीर धारियो के लिए, मन, वचन, और शरीर ये तीन योग ही तो प्रवृत्ति के साधन है। चाहे अच्छी हो या बुरी-शुभ हो या अशुभ, कोई भी प्रवृत्ति बिना मन वचन अथवा शरीर के हो ही नही सकती। बिना त्याग के, अविरत प्राणियो के विश्व भर की तमाम प्रवृत्तिये खुली होती है। इस प्रकार की असीम प्रवृत्ति के कारण ही जीव विश्वभर मे परिभ्रमण करता आ रहा है। जब तक अपनी प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण नही रखा जाता, तब तक उसका परिभ्रमण नही रुकता, जन्ममरण चलता ही रहता है, और दु ख पग्म्परा बढती ही रहती है। विश्व हितकर जिनेश्वर भगवन्तो ने इस दु ख परम्परा से मुक्त होने का उपाय वताते हुए विरति का उपदेश दिया है और विरति है वह गुप्तिमय ही है। जिस आत्मा ने गुप्ति के द्वारा अपनी रक्षा करली, फिर वह नीच गति के कारणो से ही बच जाता है, अर्थात गुप्ति से रक्षित आत्मा के किसी भी गति के आयुष्य का बध नही होता। यदि गुप्ति की उत्कृष्ट साधना नही हो सके और जघन्य या मध्यम साधना के चलते आयुष्य कावन्ध हो, तो केवल वैमानिक देव का-सुख से भोगने योग्य-बध ही होता है।

गुप्ति एक प्रकार का ऐसा सुदृढ किला है-जो भयकर शत्रुओ से भी अपने आत्म रूपी भव्य नरेश की रक्षा करता है।

यद्यपि महाव्रतो के पूर्ण पालक के ये तीनो गुप्तिया होती है (क्योकि जो महाव्रती है, वह गुप्ति वत भी होता है) तथापि महाव्रतो की अपेक्षा गुप्ति में कुछ विशेषता है। महाव्रत तो मुख्यत. पाँच प्रकार के ही पापो की प्रतिज्ञा करवाते है, किन्तु गुप्ति मे तो सभी-अठारह पापो से रक्षा हो जाती है। इतना ही नही, अनावश्यक उठने, बैठने, बोलने, चलने, फिरने और सोने की भी रोक होती है। इस प्रकार ससार रूपी समुद्र में गोते खाते हुए जीव की रक्षा करने में गुप्ति पूर्ण रूप से समर्थ है। इसी

लिए इसे (समिति के साथ) माता के समान रक्षिका का पद मिला है। यह प्रवचन की आदि माता है। मोक्ष के महान सुखो की देने वाली महामाया यही है। जो इस महामाया की रक्षा में रहता है वह महान् बलशाली मोहराज को परास्त करके विजयी होता है और मोक्ष के महान् सुखो का स्वामी होता है (उत्तरा २४-२७)

गुप्ति की साधना में पहले अशुभ प्रवृत्ति की रोक होती है। जिन कार्यों से, जिन वचनों से और जिन विचारो से आत्मा कलुषित हो, हिंसा मृषादि बुरे और सावद्य योगवाला बने, उन सभी प्रवृत्तियो की रोक-गुप्ति की साधना करते समय हो जाती है। यद्यपि आंशिक रूप में गुप्ति की साधना गृहस्थ श्रमणोपासक के भी होती है। वह अमुक अंश में अशुभ प्रवृत्ति से विरत होता है, किन्तु छठे गुणस्थान वर्ती श्रमण को तो सभी प्रकार की पापमय तथा सावद्य प्रवृत्ति से (जिनमें पाप का किंचित् भी अंश हो,) सर्वथा विरत होना ही पड़ता है। इसीलिए श्री उत्तराध्ययन अ २४ की २६ वी गाथा में यह विधान किया है कि "सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से मन, वचन और काया से निवृत्त होने के लिए गुप्ति का विधान किया गया है"।

गुप्ति के धारक की क्रोधादि कषायें भी नियन्त्रण में रहती है। उस पवित्रात्मा की वाणी नपी तुली और गुण वर्धक ही होती है। वह सावद्य वचन नहीं बोलता और अनावश्यक तथा बिना यतना के एक पांव भी नहीं उठाता। गुप्ति के धारक महात्मा, विश्वभर में दौडते हुए अपने मन रूपी महान् वेगवान अल्हड अश्व को, गुप्ति रूपी लगाम लगाकर वश में रखते है (उत्तरा २३) और अपनी आत्मा में ज्ञान ध्यान की ज्योति जगाने में ही लगे रहते है, जिसे आगमो में "अप्पाणं भावेमाणे विहरई" शब्दो से अनेक स्थानों पर लिखा है। ऐसे आत्मभावी पुरुष की आत्म स्थिरता बढती जाती है। वह अपने मन को अनन्त पर वस्तुओ से खींचकर मर्यादा में बांध लेता है। जितनी पर वस्तुओ से उसकी विरति हुई, उतने प्रमाण में उसकी स्थिरता एव शान्ति बढी। बढते बढते वह इतनी बढती है और ऐसी सबल हो जाती है कि जिससे कर्मों के बन्धन के समय समय में थर, के थर टूटते जाते हैं और वह पवित्रात्मा, श्रेणी पर आरूढ होकर, साधक से साध्य बन जाती है (उत्तरा २९) यह है गुप्ति का महत्व।

गृहवास को त्यागकर अनगार बनने वाले श्रमण भगवंतो को उसी समय से गुप्ति की साधना करनी पडती है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २४ में गुप्ति की साधना इस प्रकार बतलाई है।

१ **मनोगुप्ति**-सरभ, समारभ और आरभ में जाते हुए मन को नियन्त्रण में रक्खे।

संरंभ मन-दूसरों को कष्ट पहुँचाने का विचार करना, दूसरे का अहित हो-इस प्रकार का परिणाम होना-मन सरभ है।

समारंभ-दूसरे को हानि पहुँचाने की तरकीब सोचना, उसके साधनो सबंधी विचार करना अथवा पीडा पहुँचाने के लिए उच्चाटनादि करनेवाला ध्यान करना।

आरंभ—अन्य को दुःख पहुँचाने, या नष्ट कर देने जैसी अधमाधम कोटि की मन की परिणति हो जाना।

इस प्रकार मनकी अशुभ, अशुभतर और अशुभतम परिणति की ओर मन को नही जाने देना ही मनोगुप्ति है। दूसरे शब्दो में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करना मनोगुप्ति है।

२ वचन गुप्ति—सरभ, समारंभ और आरंभकारी वचन नही बोलना।

संरंभ वचन—किसी को कष्ट पहुचाने का विचार वचन द्वारा प्रकट करना अथवा ऐसी बात कहना जिससे दूसरे को कष्ट देने का आभास होता हो, या अपने सकल्प की अभिव्यक्ति होती हो।

समारंभक वचन—किसी को पीडा उत्पन्न करने वाला कठोर वचन कहना, वैसे मन्त्रो का उच्चारण करना अथवा गाली देना।

आरंभक वचन—ऐसे वचन बोलना कि जिसके कारण किसी को आत्मघात करना पडे, या किसी को मारने आदि की आज्ञा देना। इस प्रकार वचन की अशुभ अशुभतर और अशुभतम प्रवृत्ति को रोकना—वचन गुप्ति है। निन्दा, विकथा का त्याग करना—वचन गुप्ति है।

३ काय गुप्ति—खड़ा होने, बैठने, उठने, सोने, लाघने, चलने, और श्रोतादि इन्द्रियो की प्रवृत्ति में शरीर को सरभ समारभ और आरभ से रोकना—कायगुप्ति है।

संरंभ—किसी को मारने पिटने के लिए तत्पर होना।

समारंभ—मार पीट करना।

आरंभ—प्राण रहित करने का प्रयत्न करना।

शरीर द्वारा किसी भी प्रकार की अयतना नही होने देना काय गुप्ति है।

उपरोक्त व्याख्या में हिंसा को मुख्यता दी है, किंतु मृषा, अदत्त आदि अठारह पापों के विषय में भी इसी तरह समझ लेना चाहिए। मन वचन और शरीर की किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति को रोकना, गुप्ति का पालन है। यदि हिंसा नही करे और झूठ बोले या अदत्त ग्रहण करे, तो यह भी गुप्ति का अपालन = भग ही होगा। और अपने आत्मा की भाव हिंसा तो होगी ही। अतएव सक्षेप में यही सिद्धात है कि "मन, वचन और शरीर की सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है।"

'गुप्ति' का अर्थ करते हुए श्री अभयदेवसूरिने ठाणाग ठा. ३ की टीका में लिखा है कि—

"गोपनं गुप्तिः—मनःप्रभृतिनां कुशलानां प्रवर्तन—मकुशलानां च निवर्तन इति।"

अर्थात्—गुप्ति का अर्थ गोपन करना—रोकना है। इससे मन आदि की कुशल—निर्वद्य प्रवृत्ति चालू रहती है और अकुशल—सावद्य प्रवृत्ति की रोक होती है।

जो सम्यग् गुप्त रहेंगे, वे संसार समुद्र से अवश्य ही पार होगे।

पाँच समिति

यद्यपि गुप्ति का महत्व अत्यधिक है, इसका फल भी महान् है, किन्तु बिना समिति के गुप्ति की साधना नहीं हो सकती। गुप्ति निवृत्ति मय है, तो समिति प्रवृत्तिमय है। महान् बलशाली और तीर्थंकर जैसे त्रिलोक पूज्य महर्षि को भी साधक दशा में समिति का सहारा लेना पड़ा। जबतक शरीर है, मन, वचन और काया के योग हैं, तबतक सर्वथा गुप्त-एकान्त निवृत्त रहना असंभव है। खान-पान हलन-चलन, मन और वाणी का व्यापार तथा आवश्यक वस्तु को लेना देना, और याचना तथा त्याज्य वस्तु का परठना होना ही है। स्वाध्याय वैयावृत्यादि में भी योगों की प्रवृत्ति होती ही है। इसलिए शरीरधारी के लिए एकान्त गुप्ति का पालन नहीं हो सकता। गुप्ति का आत्यंतिक पालन चौदहवे गुणस्थान में होता है जहाँ योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है। हमारा भी ध्येय तो उसी अवस्था को प्राप्त कर, अशरीरी, अयोगी, अनाहारी, अक्रिय और अकर्मी होने का है, किंतु वर्तमान में उस ध्येय को रखते हुए भी पूज्य श्रमण वर्ग को समिति का आश्रय लेना ही पडता है। समिति के आश्रय से अशुभ प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

समिति का उपयोग पूर्वक अनुपालन करता हुआ श्रमण, गुप्तिवत माना जाता है। पुरातन आचार्य ने कहा है कि-

"समिओ णियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुईरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

(स्थानांग ३ टीका में उद्धरित गाथा)

भाव यह है कि जहा समिति है वहा गुप्ति तो अवश्य है ही, किंतु जहा गुप्ति है वहा समिति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। जिनवाणी का उपदेश अथवा स्वाध्याय करने में निरवद्य वाणी की प्रवृत्ति करता हुआ साधक, वचनगुप्ति का पालक भी है और भाषा समिति का भी। वचन गुप्त इसलिए है कि वह सावद्य वचन प्रवृत्ति से निवृत्त है।

गुप्ति पूर्वक समिति का पालन करता हुआ श्रमण, पवित्रता के साथ संयम का पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को हल्की करता हुआ उन्नति साध सकता है।

समिति का अर्थ करते हुए आचार्य अभयदेवसूरिजी ने स्थानांग ५-३ की टीका में लिखा है-

"सम्-एकीभावेनेतिः-प्रवृत्तिः समितिः शोभनैकाग्रपरिणामस्य चेष्टेत्यर्थः"

अर्थात्-शुभ और एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त प्रवृत्ति को समिति कहते है। समिति पांच है।

१ इर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४ आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति और ५ उच्चार, प्रस्रवण, सिंघाण, जल्ल परिस्थापनिका समिति ।

ईर्या समिति

'ईर्या' का अर्थ—'गमन' होता है। समिति पूर्वक गमन करना—ईर्या समिति है। श्री अभयदेव सूरिजी ने स्थानांग ५—३ की टीका में ईर्या समिति के विशेष अर्थ का उद्धरण इस प्रकार दिया है।

"ईर्यासमितिर्नाम रथशकटयानवाहनाक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्त्तव्य इति।"

अर्थात्—जो मार्ग, रथ, गाडे, घोडे आदि के चलने से प्रासुक—निर्दोष होगया हो, उसमें सूर्य किरणों के प्रकाश में, युग प्रमाण भूमिको देखते हुए, एकाग्रता पूर्वक चलना—ईर्या समिति कहलाती है।

समिति पूर्वक गमन करना—ईर्या समिति है—किन्तु प्रश्न यह होता है कि 'गमन किस उद्देश से करना। क्या बिना उद्देश्य के यों ही फिरते रहना चाहिए ? नहीं, बिना उद्देश के अथवा अप्रशस्त उद्देश से चलना धर्म नहीं है। आगमों मे गमन करने के कारण बताये हैं। उत्तराध्ययन अ २४ में लिखा है कि—'ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए ईर्या समिति का पालन करे।"

ज्ञान के लिए—वाचना लेने या देने के लिए जाना, स्वाध्याय करने के लिए एकान्त स्थान में जाना और अन्यत्र रहे हुए बहुश्रुत के पास नूतन ज्ञान प्राप्ति के लिए गमनागमन करना।

दर्शन के लिए—दर्शन विशुद्धि—वृद्धि अथवा शका निवारण करने के लिए (परमार्थ संस्तव तथा परमार्थ सेवन के लिए) और श्रद्धा भ्रष्ट तथा कुदर्शनी के संसर्ग से बचने के लिए गमनागमन करना।

चारित्र के लिए—एक स्थान पर रहने से क्षेत्र के साथ बंधन हो जाता है—मोह बढता है, और उससे चारित्र की घात होती है, इसलिए विहार करना आवश्यक है। 'शरीर नौका के समान है और जीव है नौका विहारी—नाविक। संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जीव को शरीर रूपी नौका की अपेक्षा रखनी पडती है—भोजन पानी लेना पड़ता है (उत्तरा० अ. २३—७३) संयमी मुनिराज जो आहार पानी लेते है, वह चारित्र पालने के लिए लेते है (उत्तरा० २६—३३ तथा ज्ञाता २) और आहार के लिए गमनागमन करना ही पड़ता है। आहार करने वाले को उच्चार प्रस्रवण भी होता है अतएव मल त्यागादि के लिए भी गमनागमन करना पडता है। संयमी जीवन के ये शारीरिक कार्य भी संयम पूर्वक होते हैं। इनके सिवाय वैयावृत्य के लिए भी गमनागमन होता है। इस प्रकार गमनागमन भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के उद्देश से होता है।

श्री उत्तराध्ययन अ. २५ में ईर्यासमिति की विधि इस प्रकार बताई है।

जो मार्ग निर्दोष हो—जीवादि से रहित हो, ऐसे सुमार्ग पर सूर्य के प्रकाश में चले। आगे चार * हाथ प्रमाण भूमि, उपयोग पूर्वक देखता हुआ चले, जिससे न तो जीवों की विराधना हो, न खुद की—स्वात्म विराधना हो। चलते समय न तो इन्द्रियों के विषयों की ओर आकर्षित हो, न पाँच प्रकार की स्वाध्याय ही करता जाय। अर्थात् मार्ग चलते हुए कहीं इधर उधर नहीं देखता जाय। आकर्षक दृश्यों में नहीं उलझे, मनोहर शब्दों में लुब्ध नहीं होवे, न सुगन्धादि की अनुकूलता से रुके या अति धीरे और उपयोग शून्य होकर चले, और न प्रतिकूल—अनिष्ट विषयों—दुर्गन्धादि से बचने के लिए जल्दी जल्दी चलने लगे। यद्यपि वाचना, पृच्छादि धर्म के ही कार्य है, तथापि ईर्यासमिति के समय इन्हें भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे उपयोग बराबर नहीं रहने से इस समिति का पालन भली प्रकार से नहीं हो सकता।

भगवान फरमाते हैं कि—'हे पुरुष! तू समिति गुप्तिवन्त होकर विचर, क्योंकि सूक्ष्म जीवों से मार्ग भरे हुए हैं। (सूय १—२—१—११)

"वर्षा होकर अपकाय हरितकाय और त्रसकाय के जीवों की उत्पत्ति हो जाय, तो गमनागमन बंद करके एक ही ग्राम में रह जाय। यदि वर्षा के चार महीने पूर्ण हो जाने पर और बाद के पन्द्रह दिन बीतने पर भी जीवजन्तु से युक्त मार्ग हो, तो मुनि को विहार नहीं करना चाहिए और जन्तु रहित सामान्य मार्ग होने पर ही विहार करना चाहिए। (आचारांग २—३—१)

गमनागमन करने के बाद मार्ग दोष निवृत्ति के लिए कायुत्सर्ग किया जाता है। कायुत्सर्ग में रास्ते चलने लगे हुए दोषों का स्मरण करके मिथ्यादुष्कृत का प्रायश्चित्त लिया जाता है। मुनि ध्यान में चिंतन करते हैं कि 'रास्ते चलते मैंने प्राण, बीज और हरितकाय, को कुचला हो, ओस की बूँदों, कीड़ी नगरे को, सेवाल=फूलन को, सचित्त जल की मिट्टी को, और मकड़ी के जाले को कुचला हो, इन जीवों की विराधना की हो, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढक दिया हो, मसल डाला हो, इकट्ठे किये हो, टक्कर लगाकर पीड़ित किये हों, परितापित किये हो, उन्हें किलामना पहुँचाई हो, त्रास दिया हो, एक स्थान से दूसरे स्थान हटाया हो, और जीव रहित किये हो—मारडाले हों, तो मेरा यह पाप मिथ्या हो जाय"। (आवश्यक सूत्र)

इस प्रकार उपयोग पूर्वक और यतना सहित चलनेवाले मुनिराज को पाप कर्म का बन्ध नहीं होता (दशवै० अ० ४) ईर्या समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाला श्रमण, काय गुप्ति से युक्त है और जिनाज्ञा का आराधक है।

---

* युगमात्र—चार हाथ प्रमाण आगे भूमि देखते हुए चलना—ऐसा आचारांग २—३—१ में भी लिखा है।

भाषा समिति

आवश्यकता होने पर निर्दोष वचन बोलना 'भाषा समिति' है। श्री अभयदेवसूरिजी ने स्थानाग टीका मे इसका पुराना अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है "भाषासमितिर्नाम हितमितासन्दिग्धार्थ भाषण" अर्थात्–आवश्यकता होने पर स्व और पर के लिए हितकारी, असदिग्ध (स्पष्ट) अर्थ को बताने वाला उचित भाषण करना–भाषा समिति है।

भाषा समिति युक्त वाणी 'वचन सुप्रणिधान' है। (ठाणाग ३–२) इसका अर्थ भी वचन–भाषा का एकाग्रता पूर्वक सद्व्यापार है। वाणी का दुरुपयोग–बुरे शब्दो का उच्चारण–वचन दुष्प्रणिधान है। इसका तो त्याग ही होता है। भाषासमिति के पालक को वचन प्रयोग करते समय बहुत सावधानी रखनी पडती है। बिना विचारे, बिना समझे बोलने वाले की भाषा समिति सुरक्षित नही रहती। वह भगवान् की आज्ञा का विराधक होता है (भगवती १८–७)

साधु का ध्येय तो अभाषक बनने का है, फिर वह बोले क्यो ? इस शका का समाधान यह है कि साधु शरीरधारी है, इसलिए सर्वथा मौन रहना उसके लिए सभव नही है। उसे ज्ञान की आराधना के लिए वाचना लेना, देना, रटना, पृच्छा करना, पुनरावृत्ति करना, और धर्म सुनाना पडता है। उसे दूसरो से वैयावृत्य के लिए, वदन के लिए, तथा आहारादि के लिए और मार्ग पृच्छादि कारणो से बोलना पडता है। इस प्रकार सकारण उचित मात्रा मे, स्वपर हितकारी वचन बोलने वाला श्रमण, जिनेश्वरों की आज्ञा का आराधक है।

भाषा समिति का पालन करने वाले मुनि को इन आठ दोषो से बचना चाहिये।

१ क्रोध के आवेश मे बोलना २ गर्विष्ट होकर बोलना ३ कपट पूर्वक बोलना ४ लोभ से बोलना ५ हँसी करते हुए बोलना ६ भयभीत होकर बोलना अथवा दूसरो को भयभीत करने के लिए बोलना ७ वाचालता–व्यर्थका बकवाद करना–अनावश्यक बोलना और ८ विकथा करना–इन आठ दोषो को टालता हुआ निरवद्य वचन बोले, वही भाषा समिति का पालक है। (उत्तरा० २४)

भाषा समिति के पालक को विकथा कभी नही करनी चाहिए। वह विकथा सात प्रकार की होती है। यथा–

१ स्त्री कथा–स्त्रियो की पद्मिनी आदि जाति अथवा ब्राह्मण आदि जाति और कुल की विशेषता बताना, रूप यौवन और सुन्दरता की कथा करना और उसके हाव भाव तथा वस्त्राभूषणादि का वर्णन करना।

२ भोजन कथा–मिष्टान्न शाक आदि के सुस्वादु बनाने की विधि, रुचिकर भोजन की प्रशसा व अरुचिकर की निन्दा आदि।

देशकथा-भिन्न भिन्न देशो के रहन सहन, खान पान, वोलचाल, रीति रिवाज और जलवायु का वर्णन करना, उनके भवन, मन्दिर, तालाब, कूएँ आदि की वातें कहना।

४ राज कथा-राजा के ऋद्धि, सेना, भण्डार और उसके वाहनादि तथा उसकी सवारी आदि का वर्णन करना।

५मृदुकारुणिकी कथा-पुत्रादि के वियोग से दुखी मातादि के करुणाजनक विलाप से भरी हुई कथा कहना। इसमें सभी प्रकार के इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग से उत्पन्न, शोक से होने वाले विलाप की कथा सम्मिलित है।

६ दर्शन भेदिनी कथा-इस प्रकार की वातें कहना कि जिससे सम्यग्दर्शन का भेद होता है -सम्यक्त्व मे दोप लगता हो अथवा पतन होता हो। जैसे-किसी प्रकार की अतिशय सम्पन्नता के कारण कुतीर्थी की प्रशसा करना। इस प्रकार की कथा से श्रोताओ की श्रद्धा पलट सकती है।

७ चारित्र भेदिनी कथा-जिस कथा से चारित्र के प्रति उपेक्षा हो-चारित्र की परिणति कम हो, वैसी चारित्र की निन्दा करने वाली कथा कहना। जैसे कि "इस पचम काल में सयम का पालन नहीं हो सकता। महाव्रतो का पालन इस जमाने मे कोई कर ही नही सकता, क्योकि अभी सभी साधु प्रमादी हो गए है। इस जमाने मे ज्ञान और दर्शन के वल पर ही यह तीर्थ चल रहा है।" इस प्रकार की वातो के प्रभाव से, जो साधु चारित्र परिणति वाले है-उनमें भी शिथिलता आ सकती है। इस प्रकार की विकथाएँ नही करनी चाहिए (ठाणाग ७)

भाषा समिति के पालक को नीचे लिखे नियमो का पालन करते रहना चाहिए।

"यदि कोई वात सत्य होते हुए भी कठोर हो, दूसरो के लिए पीडाकारी हो, आघात करने वाली हो, तो ऐसी भाषा नही वोले" (दशवैका० ७-११)

अपने या दूसरो के हित के लिए(परोपकार के लिए भी) सावद्य भाषा(जिसमें पाप का अश भी रहा हुआ हो) नहीं वोले।" (दशवै० ७-११ तथा उत्तरा० १-२५)

जो असयमी (गृहस्थ अथवा अन्य तीर्थी) है, उसे "आओ, जाओ, वैठो, अमुक काम करो"-ऐसा नही कहे। असाधु को साधु नहीं कहे, किन्तु साधु को ही साधु कहे। (दशवै० ७-४७, ४८)

"शीत, ताप आदि से पीडित होकर वायु, वर्षा, ठड और गर्मी तथा रोगादि की उपशान्ति कव होगी ? धान्य की अच्छी फसल कव होगी ? कव सुख शान्ति वर्तेगी ? इस प्रकार की भाषा भी नही वोले (दशवै० ७-५१)

"सावद्य कार्यों का अनुमोदन करने वाली भाषा नही वोले। जिन वचनो से दूसरो का उप-घात होता हो, वैसे वचन भी नही वोले। और क्रोधादि कषायो को उभाडने वाली तथा हसी मजाक की वाते नही कहे।"(दश० ७-५४)

"आँखो देखी, परिमित शब्दो वाली, सन्देह रहित, अर्थ को स्पष्ट बताने वाली, प्रकरण के अनुकूल, उद्वेग नही करने वाली और मधुर लगने वाली भाषा बोले।" (दशवै० ८–४९)

"नक्षत्र फल, स्वप्न फल, योग, निमित्त, मन्त्र और औषधि आदि गृहस्थो को नही बतावे।"
(दशवै ८–५१)

"निश्चय कारिणि भाषा नही बोले" (उत्तरा० १–२४)

"जो बाते निश्चित है, जैसे कि 'पाप के फल दु ख दायक है, त्याग सुख दायक होता है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि त्यागने योग्य है। सयम पालने योग्य है। सम्यक् तप से कर्मों की निर्जरा होती है। सवर निर्जरा और मोक्ष एकान्त उपादेय है। मोक्ष में शाश्वत सुख है। मुक्त हो जाने पर फिर जन्म मरण नही होता"—ऐसी बाते तो निश्चित्त रूप से कही जा सकती है, किन्तु जिन विषयों में वक्ता को निश्चय नही हो पाया हो, उन विषयो में निश्चयात्मक भाषा बोलना निषिद्ध है, क्योकि उसमे असत्य की सभावना है। (आचाराग २–४–१ तथा सूयग० २–५)

"साधु वैसी भाषा भी नही बोले—जो पाप प्रवृत्तिवाली—सावद्य हो, निन्दाजनक, कर्कश, धमकी से भरी हुई और किसी के गुप्त मर्म को खोलने वाली हो—भले ही वह सत्य हो" (आचाराग २–४–१ तथा बृहद्कल्प उ. ६)

"वचन का बाण लोहे के शूल से भी अधिक दु.ख दायक होता है। वह बहुत समय तक दु ख देता रहता है और वैर को बढाने वाला तथा कुगति मे डालने वाला है .. जो साधु किसी की निन्दा नही करता, दु खदायक भाषा नही बोलता और निश्चयकारी वाणी नही बोलता वही पूज्य है।
(दशवै० ९–३)

"साधु, बहुत देखता है और बहुत सुनता है, किन्तु वे देखी और सुनी हुई सभी बाते कहने की नही होती। (दशवै० ८–२०, २१)

यदि कोई पूछे कि 'दान शाला खोलने मे पुण्य होता है या नही', तो साधु, 'पुण्य है या पुण्य नहीं है'—ऐसा नही कहे, क्योकि पुण्य है—ऐसा कहने से दान सामग्री के उत्पादन मे त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती है। इसलिए पुण्य है—ऐसा नही कहे, और "पुण्य नही है"—ऐसा कहने से पाने वाले को अन्तराय लगती है। जो ऐसे दान की प्रशसा करते है, वे जीवो की घात के इच्छुक है और जो निषेध करते है—वे पाने वाले की वृत्ति का छेदन करनें वाले है। इसलिए दोनो प्रकार की भाषा नही बोले।" (सूयग० १–११)

"चोर, पारदारिक और हिंसक जीव 'वध्य है या नही'—ऐसी भाषा भी साधु नही बोले।"
(सूय० २–५–३०)

"साधु ऐसे ही वचन बोले कि जिससे मोक्ष मार्ग मे वृद्धि हो—"**संति मग्गं च बूहए**"
(सूय०२–५–३२)

एषणा समिति

संयमी जीवन चलाने के लिए आहारादि साधन भी निर्दोषता पूर्वक ही प्राप्त करने होते हैं। क्योंकि साधु "परदत्त भोई हैं" (आचारांग २-७-१) उन्हें आवश्यक वस्तु याचना कर के ही लेनी पड़ती है। (उत्तरा० २-२८) जिनागमों में वे सारे नियम और विधिविधान उपस्थित हैं, जिनकी संयमी जीवन में आवश्यकता होती है। ये विधिविधान इतने निर्दोष हैं कि जिससे किञ्चित् भी दूषण नहीं हो। एषणा समिति, वस्तु की याचना और उपभोग में लाने की निर्दोष रीति बतलाती है। शरीर के साथ तेजस् की ऐसी भट्टी (जठर) लगी हुई है कि जिसकी पूर्ति के लिए आहार पानी लेना ही पड़ता है। इस भट्टी का 'क्षुधा वेदनीय कर्म' से गठबन्धन है। यदि भोजन पानी में किञ्चित् विलम्ब हुआ तो व्याकुलता बढ़जाती है। समता, शान्ति और ज्ञान ध्यान में बाधा पड़ने लगती है। इसलिए भोजन पानी आदि की आवश्यकता होती है। कर्म निर्जरा के लिए तप किया जाता है और करना आवश्यक है, किन्तु वह भी वहां तक ही कि जहां तक ज्ञान ध्यानादि में अन्तरायभूत नहीं हो, आत्मा में शान्ति बनी रहे।

यों तो भूख की भट्टी सभी संसारी प्राणियों के साथ लगी हुई है, और सभी जीव आहार प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु जैन श्रमण की उन्नत आत्मा, धर्म को भूख की भट्टी में नहीं झोंकती। वह अपने नियमों के अनुसार ही क्षुधा शान्त करने का प्रयत्न करती है। निर्ग्रंथ मुनि, मरना मन्जूर करलेगा किन्तु भूख के लिए अपने धर्म को दाव पर नहीं लगाय गा।

आहार क्यों करते हैं?

आहार करने के निम्न छ कारण श्री ठाणांग ६ में तथा उत्तराध्ययन अ २६ गा० ३३ में इस प्रकार बताये है।

(१) क्षुधा वेदनीय = भूख को मिटाने के लिए, जिससे कि आकुलता नहीं होकर शान्ति बनी रहे।

(२) गुरुजन, तपस्वी और रोगी आदि साधुओं की वैयावृत्य = सेवा के लिए।

(३) ईर्या समिति का पालन करने के लिए। शरीर में शक्ति और मनमें शान्ति होगी तो ईर्यासमिति का पालन भली प्रकार हो सकेगा। प्रतिलेखना प्रमार्जना ठीक हो सकेगी।

(४) संयम पालने के लिए-पृथ्वी कायादि सतरह प्रकार का संयम अथवा प्रेक्षा = देखभाल-कर वस्तु लेने रखने में यतना पूर्वक वर्तने या संयमी जीवन पालन के लिए।

(५) अपने प्राणो की रक्षा के लिए।

(६) धर्म चिन्तन के लिए—आर्त्त ध्यान को टाल कर धर्म ध्यान में शान्ति पूर्वक लगे रहने के लिए।

उपरोक्त छ कारणो से निर्ग्रंथ मुनि आहार करते है। आचाराग १–३–३ मे लिखा है कि 'सयम निर्वाह के उपयुक्त आहार करे—"**जाया मायाइ जावए,**" तथा सूयगडाग सूत्र अ ७ गा० २९ में लिखा है कि मुनि सयम की रक्षा के लिए आहार करे "**भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा**" दवैकालिक ५–१–९२ मे लिखा कि "सयम पाल कर मोक्ष जाने के लिए ही आहारादि से शरीर टिकाने का भगवान् महावीर प्रभु ने निर्देश किया है। साधु आहार तो करते है, किन्तु 'आहार करना ही चाहिए'—ऐसा उनका नियम नही है। वे आहार करते है, उसी प्रकार आहार छोडना भी जानते है। उनके आहार त्याग के निम्न छ कारण, उत्तराध्ययन मे इसके बाद ही बतलाये है।

(१) रोगोत्पत्ति हो जाने पर।

(२) उपसर्ग—सकट उपस्थित होने पर।

(३) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए। मानसिक अथवा इन्द्रिय सबधी विकार उत्पन्न होने पर आहार छोडकर तप करना, जिससे तप की अग्नि मे विकार भस्म हो जाय।

(४) जीवो की रक्षा के लिए। मार्ग आदि मे जीव की उत्पत्ति हो, मार्ग जीवाच्छादित हो, वर्षा हो रही हो, इत्यादि कारणो से जीवो की रक्षा के हेतु—महाव्रत एव सयम की रक्षा के लिए आहार छोडना पडे तो।

(५) तप करने के लिए। यो तो हमारे पूज्य मुनिराज हमेशा तप करते रहते है। (दशवै० ६–२३) नमुकारसी आदि तथा उणोदरी आदि तप करते रहते है, किन्तु जब वे कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए तत्पर हो जाते है, तो उनकी हिम्मत अजब हो जाती है। वे महीनो तक भोजन का त्याग कर देते है।

(६) शरीर त्यागने के लिए—जब शरीर त्याग करना हो, तो अन्त समय की सलेषणा करने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। शरीर का त्याग या तो धर्म रक्षा = महाव्रतादि की रक्षा के लिए होता है, या फिर शरीर की शक्ति अत्यत क्षिण हो जाने से और मृत्यु समय निकट आजाने से किया जाता है। इस प्रकार आहारादि त्याग कर, किया हुआ तप ही धर्म–मय तप होता है।

निर्दोष आहार विधि

जैन श्रमणो की आहार विधि इतनी निर्दोष होती है कि जिससे हजारो की संख्या में होते हुए भी वे श्रमण किसी पर भर रूप नहीं होते और उनके खाने पीने का खर्चा किसी के लिए खटकने जैसा नही होता। इस पवित्र श्रमण संस्था के नियम कितने पवित्र है, जरा देखिये तो—

"जिस प्रकार भ्रमर पुष्पो से थोडा थोडा रस लेकर अपनी तृप्ति करता है और उससे पुष्प को किसी प्रकार का कष्ट नही होता, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थो से थोडा थोडा आहार लेवे, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट नही हो और उसकी भी पूर्ति हो जाय।" (दशवै० १)

निर्दोष भिक्षाचरी को 'माधुकरी' भी कहते हैं, माधुकरी का अर्थ है 'भ्रमर के समान निर्दोष वृत्ति।' इसका प्रख्यात नाम 'गोचरी' भी है, गाय चरती है तो वह घास को जड से नही उखाड लेती, वह इतना ही तोड़ती है कि जिससे घास नष्ट नहीं होता और उसकी वृद्धि में भी रुकावट नहीं होती। 'गधा' तो उसे जड़ से ही उखाड़ कर नष्ट कर देता है। गधे की अपेक्षा गाय का चरना सुन्दर है, फिर भी गाय के खाने से घास को किलामना अवश्य होती है, उसकी हिंसा होती ही है, किंतु श्रमण की गोचरी में किंचित् भी हिंसा नहीं होती। किसी को भी दुःख नहीं होता। दाता बडे आदर और भक्ति भाव से—प्रशस्त भावो से, शुद्ध आहार देता है और श्रमण भी तभी लेते हैं जब कि वह आहार शुद्ध हो और दाता देने का अधिकारी हो तथा बिना किसी दबाव के खुशी से देता हो। ऐसे दान की तुलना पूर्ण रूप से किसी भी वृत्ति से नही की जाती।

एषणा समिति के तीन भेद

१ गवेषणैषणा—शुद्ध आहारादि की खोज करना।

२ ग्रहणैषणा—निर्दोष आहारादि ग्रहण करना।

३ परिभोगैषणा—उपभोग करते समय के दोषो को टालना, इसका दूसरा नाम 'ग्रासैषणा' भी है।

उपरोक्त तीनो प्रकार की एषणा का पालन तभी होता है जब की इसमें लगने वाले दोषो को टाला जाय। आहारादि के उद्गम आदि ४७ दोष प्रसिद्ध है और पूर्वाचार्यो ने पिण्डनिर्युक्ति आदि अनेक ग्रथों में एक ही स्थान पर वर्णन किये है। ये दोष आगमो के मूल पाठ मे भी वर्णित हैं, किन्तु एक स्थान पर सभी नही मिलते। यहा हम उन दोषो को आगमो के आधार से उपस्थित करते हैं। आहारादि की प्राप्ति में टालने योग्य दोष कौन कौन से है इस पर विचार करने पर निर्ग्रथों की जीवन चर्या की पवित्रता समझ में आ सकेगी।

उद्गम के १६ दोष

१ आधाकर्म*—किसी साधु के निमित्त से आहार आदि बना कर देना (आचारांग २—१—२ तथा दशा० २)

२ उद्देशिक×—जिस साधु के लिए आहारादि बना है उसके लिए तो वह आधाकर्मी है, किन्तु दूसरे के लिए वह उद्देशिक है। ऐसे आहार को दूसरे साधु ले, अथवा अन्य याचको के लिए बनाये हुए आहार मे से या फिर अपने लिए बनते हुए आहार मे साधुओ के लिए भी सामग्री मिलाकर बनाया हो, ऐसे आहार में से देना। (दशवै० ५—१—५५ तथा आचा० २—१—१)

३ पूतिकर्म—शुद्ध आहार मे आधाकर्मी आदि दूषित आहार का कुछ अंश मिलाना—पूतिकर्म —पूर्तिकर्म है (दशवै० ५—१—५५ तथा सूत्रकृतांग १—१—३ —१)

४ मिश्रजात—अपने और साधुओ —याचको के लिए एक साथ बनाया हुआ आहार। इसके तीन भेद है—१ यावदर्थिक—अपने और याचको के लिए बनाया हुआ। २ पाखंडमिश्र—अपने और अन्य साधु सन्यासियो के लिए बनाया हुआ तथा ३ साधु मिश्र—अपने और साधुओ के लिए बनाया हुआ (प्रश्नव्या० २—५ भगव० ६—३३)

५ स्थापना—साधु को देने के लिए अलग रख छोडना (प्रश्नव्या० २—५)

६ पाहुडिया—साधु को अच्छा आहार देने के लिए मेहमान अथवा मेहमानदारी के समय को आगे पीछे करे (प्रश्नव्या० २—५)

७ प्रादुष्करण—अंधेरे मे रखी हुई वस्तु को प्रकाश मे लाकर देना, अथवा अन्धेरे स्थान को खिडकी आदि खोलकर प्रकाशित करके देना (प्रश्नव्या० २—५)

८ क्रीत—साधु के लिए खरीद कर देना (दशवै० ५—१—५५ आचा० २—१—१)

९ प्रामीत्य—उधार लेकर साधु को देवे (,, ,,)

१० परिवर्तित—साधु के लिए पलटा—अदल बदल करके ली हुई वस्तु देना।

(निशीथ उ० १४—१८—१६)

---

* यह दोष चार प्रकार से लगता है—१ आधाकर्मी आहारादि सेवन करने से २ आधाकर्मी के लिए निमन्त्रण स्वीकार करने से ३ आधाकर्मी आहारादि करने वालों के साथ रहने और ४ आधाकर्मी आहारादि करने वालों की प्रशंसा करने से।

× इसके भी उद्दिष्ट, कृत और कर्म यों तीन भेद है तथा प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश और आदेश यों तीन तीन भेद हैं।

११ अभिहृत—साधु के लिए वस्तु को अन्यत्र लेजा कर अथवा साधु के सामने लेजा कर देना।
(दशवै० ३—२ आचा० २—१—१)

१२ उद्भिन्न—वर्तन में रख कर लेप आदि लगा कर बंद की हुई वस्तु को साधु के लिए खोल कर देवे (दशवै ५—१—४५ आचा २—१—७)

१३ मालापहृत—ऊँचे माल पर, नीचे भूमिगृह में तथा तिरछे ऐसी जगह वस्तु रखी हो कि जहा से सरलता से नही ली जा सके, और उसे लेने के लिए निसरणी आदि पर चढना पड़े, तो ऐसी वस्तु प्राप्त करना मालापहृत दोष है (दशवै० ५—१—६७ आचा० २—१—७)

१४ अच्छेद्य—निर्बल अथवा अधीनस्थ से छीन कर देना (आचाराग २—१—१ दशा० २)

१५ अनिसृष्ठ—भागीदारी की वस्तु किसी भागीदार की बिना इच्छा के दी जाय।
(दशवै० ५—१—३७)

१६ अध्यवपूरक—साधुओ का ग्राम में आगमन सुनकर बनते हुए भोजन में कुछ सामग्री बढ़ाना।
(दशवै० ५—१—५५)

उद्गम के ये सोलह दोष, गृहस्थ—दाता से लगते है। श्रमण का कर्त्तव्य है कि वह गवेषणा करते समय उपरोक्त दोषो को नही लगने देने का ध्यान रखे।

उत्पादन के १६ दोष

निम्न लिखित सोलह दोष, साधु के द्वारा लगाये जाते है। ये दोष निशीथसूत्र के १३ वे उद्देशे में लिखे है और कुछ दोष अन्यत्र भी कही कही मिलते है।

१ धात्रीकर्म—बच्चे की साल सभाल करके आहार प्राप्त करना अथवा किसी के यहा धाय की नियुक्ति करवा कर आहार लेना।

२ दूती कर्म—एक का सन्देश दूसरे को पहुँचा कर आहार लेना।

३ निमित्त—भूत भविष्य और वर्तमान के शुभाशुभ निमित्त बता कर लेना।

४ अजीव—अपनी जाति अथवा कुल आदि बता कर लेना।

५ वनीपक—दीनता प्रकट कर के लेना।

६ चिकित्सा—औषधी कर के या बता कर लेना।

७ क्रोध—क्रोध करके अथवा शाप देने का भय बता कर लेना।

८ मान—अभिमान पूर्वक—अपना प्रभाव बता कर लेना।

९ माया—कपट का सेवन—वचना करके लेना।

१० लोभ—लोलुपता से अच्छी वस्तु अधिक लेना, उसके लिए इधर उधर गवेषणा करना।

११ पूर्वपश्चात् संस्तव—आहारादि लेने के पूर्व या बाद में दाता की प्रशसा करना।

१२ विद्या—चमत्कारिक विद्या का प्रयोग करके अथवा विद्या—देवी की साधना करके उसके प्रयोग से वस्तु प्राप्त करना।

१३ मन्त्र—मन्त्र प्रयोग से आश्चर्य उत्पन्न करके लेना।

१४ चूर्ण—चमत्कारिक चूर्ण का प्रयोग करके लेना।

१५ योग—योग के चमत्कार अथवा सिद्धियाँ बता कर लेना।

१६ मूल कर्म—गर्भ स्तभन गर्भाधान अथवा गर्भपात जैसे पापकारी औषधादि बताकर प्राप्त करना। (प्रश्नव्या० १—२ तथा २—१)

ये सोलह दोष साधु से लगते हैं। ऐसे दोषो के सेवन करने वाले का सयम सुरक्षित नही रहता। सुसाधु इन दोषों से दूर ही रहते है। उद्गम और उत्पादन के कुल ३२ दोषो का समावेश "गवेषणैषणा" में है।

एषणा के १० दोष

नीचे लिखे दस दोष, साधु और गृहस्थ दोनो से लगते है। ये "ग्रहणैषणा" के दोष है।

१ सकित—दोष की शंका होने पर लेना (दशवै० ५—१—४४ आचा० २—१०—२)

२ म्रक्षित—देते समय हाथ, आहार या भाजन का सचित्त पानी आदि से युक्त होना अथवा सघट्टा होना (दशवै ५—१—३३)

३ निक्षिप्त—सचित्त वस्तु पर रखी हुई अचित्त वस्तु देना (दशवै ५—१—३०)

४ पिहित—सचित्त वस्तु से ढकी हुई अचित्त वस्तु देना (उपास—१)

५ साहरिय—जिस पात्र में दूषित वस्तु पडी हो, उसमे से दूषित वस्तु को अलग करके उसी वर्त्तन से देना (दशवै ५—१—३०)

६ दायग—जो दान देने के लिए अयोग्य है, ऐसे बालक, अधे, गर्भवती आदि के हाथ से लेना अशुद्ध दायक से लेना कल्पनीय नही है। दशवै० ५—१—४० से)

७ उन्मिश्र—मिश्र—कुछ कच्चा और कुछ पका अथवा सचित्त अचित्त मिश्रित, अथवा सचित्त या मिश्र के साथ मिला हुआ अचित्त आहार लेना (दशवै ३—६)